चिन्तामणि

सप्तम भाग

विचारणा
तनुमानसी
शुभेच्छा
सत्वापत्ति
तुर्यगातीत
असंगभावनी
परार्थभाव

ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज

का प्रसाद

टीकाकारः पं. अनन्त कुमार पाण्डेय

महापुरुष का प्रसाद

6.4

॥ ॐ ॥

चिन्तामणिः

(सप्तमो भागः)

संकलकः–

ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराजः

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।

टीकाकारः–

अनन्तकुमारपाण्डेयः

प्रकाशक–
राकेश कुमार, विनोद कुमार
498/28 साउथ सिविल लाइन,
मुजफ्फरनगर, उ.प्र. – 251001
फोन नं. : 09359984709

प्रथम संस्करण : 500 प्रतियाँ

सन्तावतार अनन्त श्री समलङ्कृत साङ्गत्रयी तत्त्वज्ञ, वात्सल्योदधिस्वरूप पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज का आविर्भाव स. १९७३ कार्तिक वदी एकादशी (रमा एकादशी) एवं ब्रह्मलीन स. २०६९ श्रावण शुक्ल द्वादशी को उन्हीं स्वेष्टदेव के पवित्रतम निर्वाणलब्ध पादारविन्दों में वैकुण्ठवासी अपने पूज्य माता-पिता (श्रीमती शकुन्तला देवी तथा लाला आनन्द प्रकाश जी) की पुण्यस्मृति प्रवाह रूप सुरसरिता में अवगाहित-श्रद्धार्द्र सिंघल परिवार की ओर से अचिन्त्य गुणगणमणि सम्पन्न चिन्तामणि रूपात्मक (ग्रन्थ) यह प्रसूनाञ्जलि समर्पित करते हुए विनयावनत हैं—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण प्रीतिभावेन, प्रसीद परमेश्वर ॥

मूल्यम् : प्रेम योग्यता च

मुद्रक–
रेनबो प्रिंटर्स
सिद्धगिरीबाग, वाराणसी ।

परम पूज्यनीय प्रातः स्मरणीय सदगुरुदेव

श्री श्री १००८ स्वामी लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज

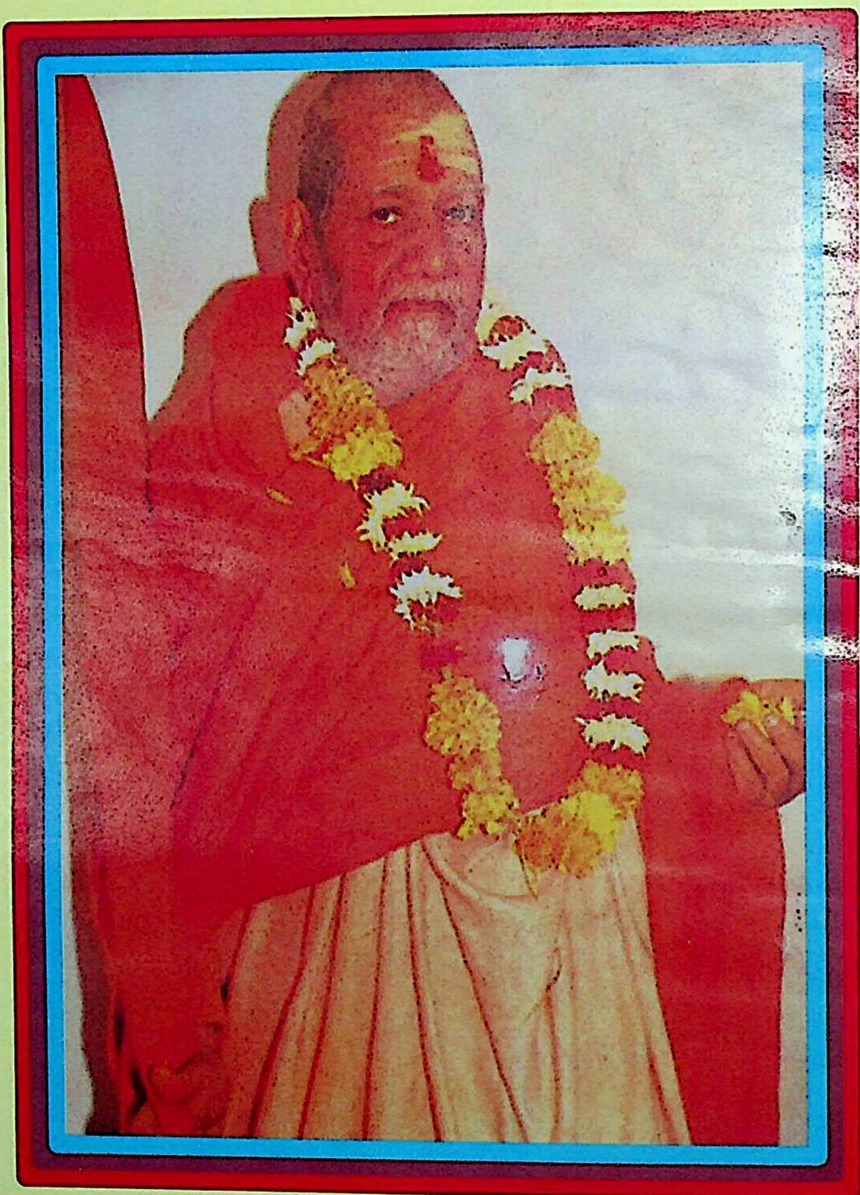
की

पावन स्मृति में

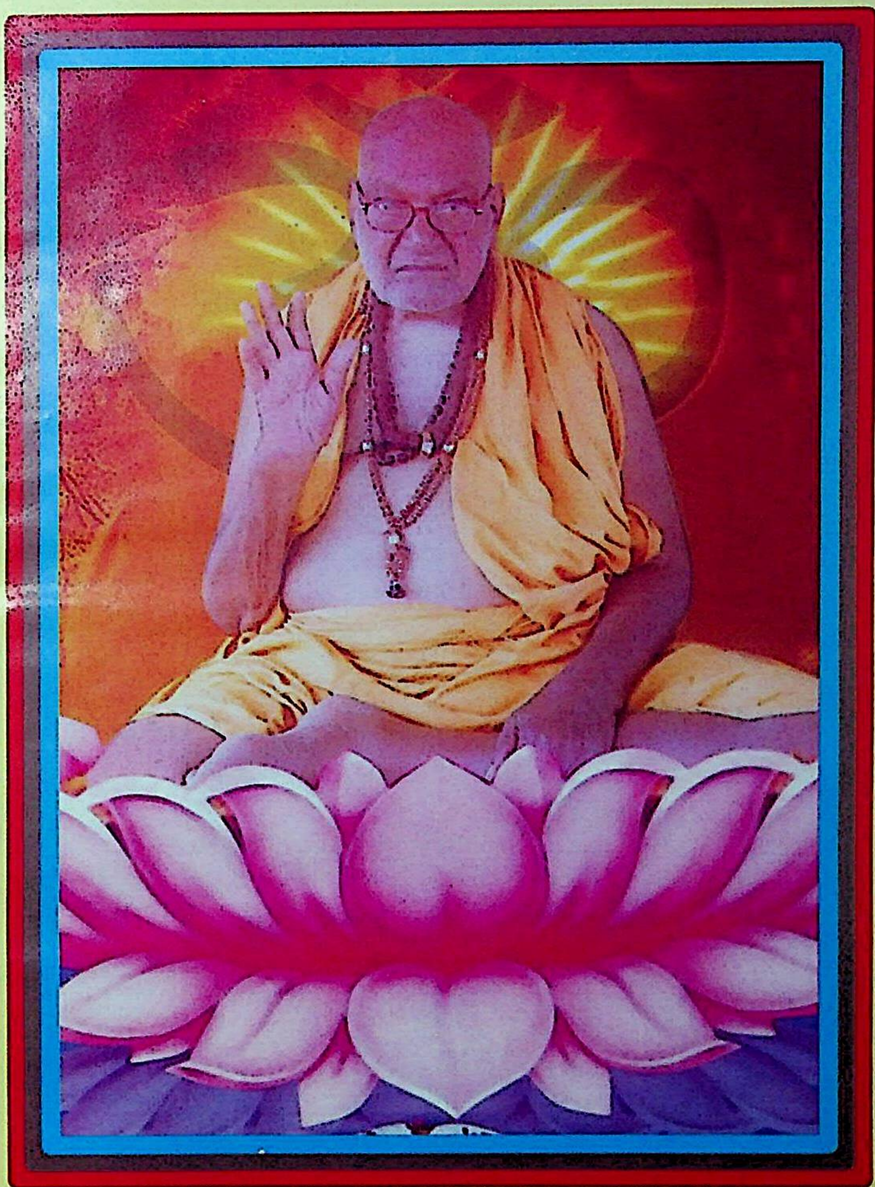
नेति नेति

गुरुकृपाधनसम्पन्नः

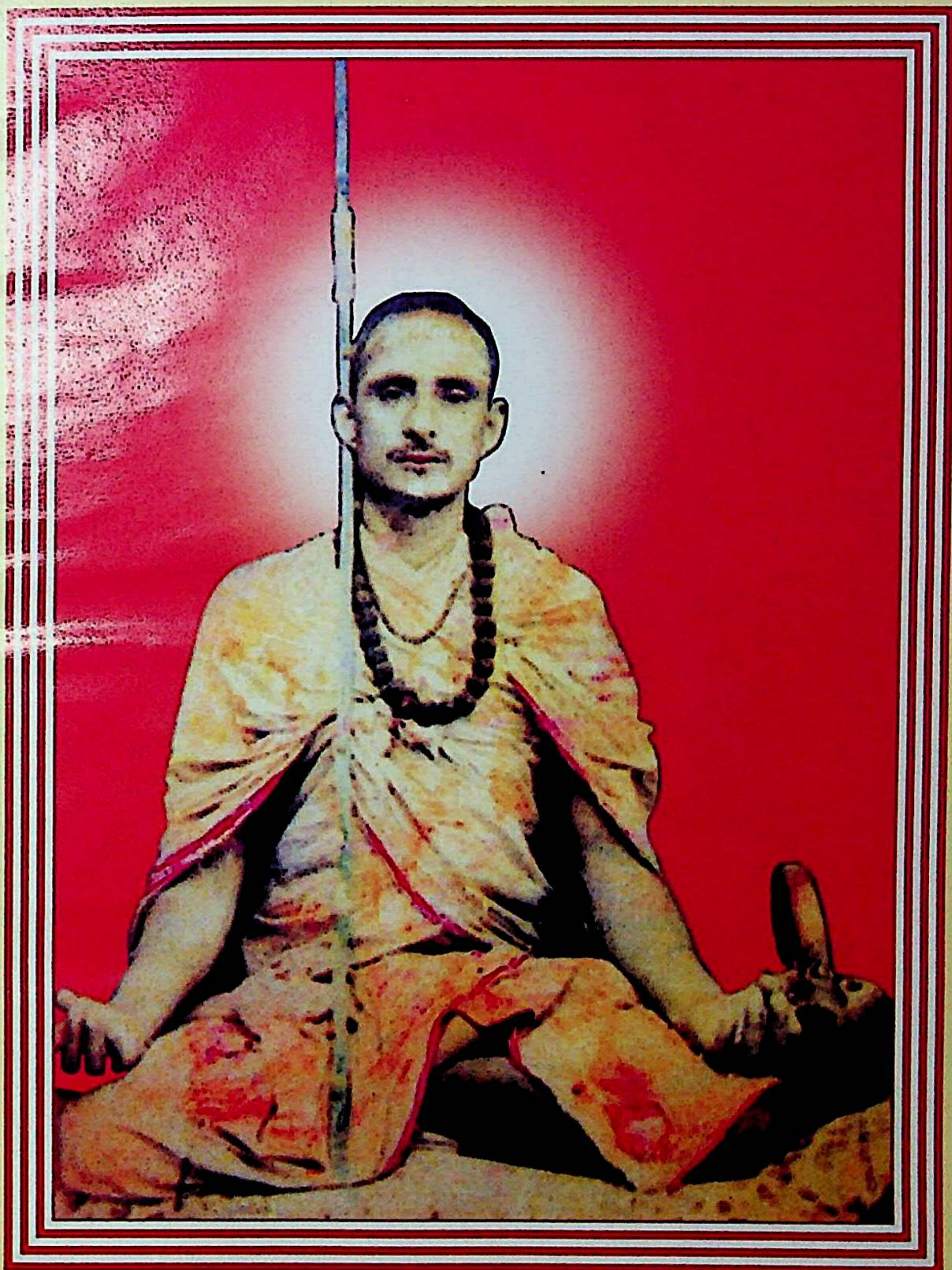
पवनकुमार



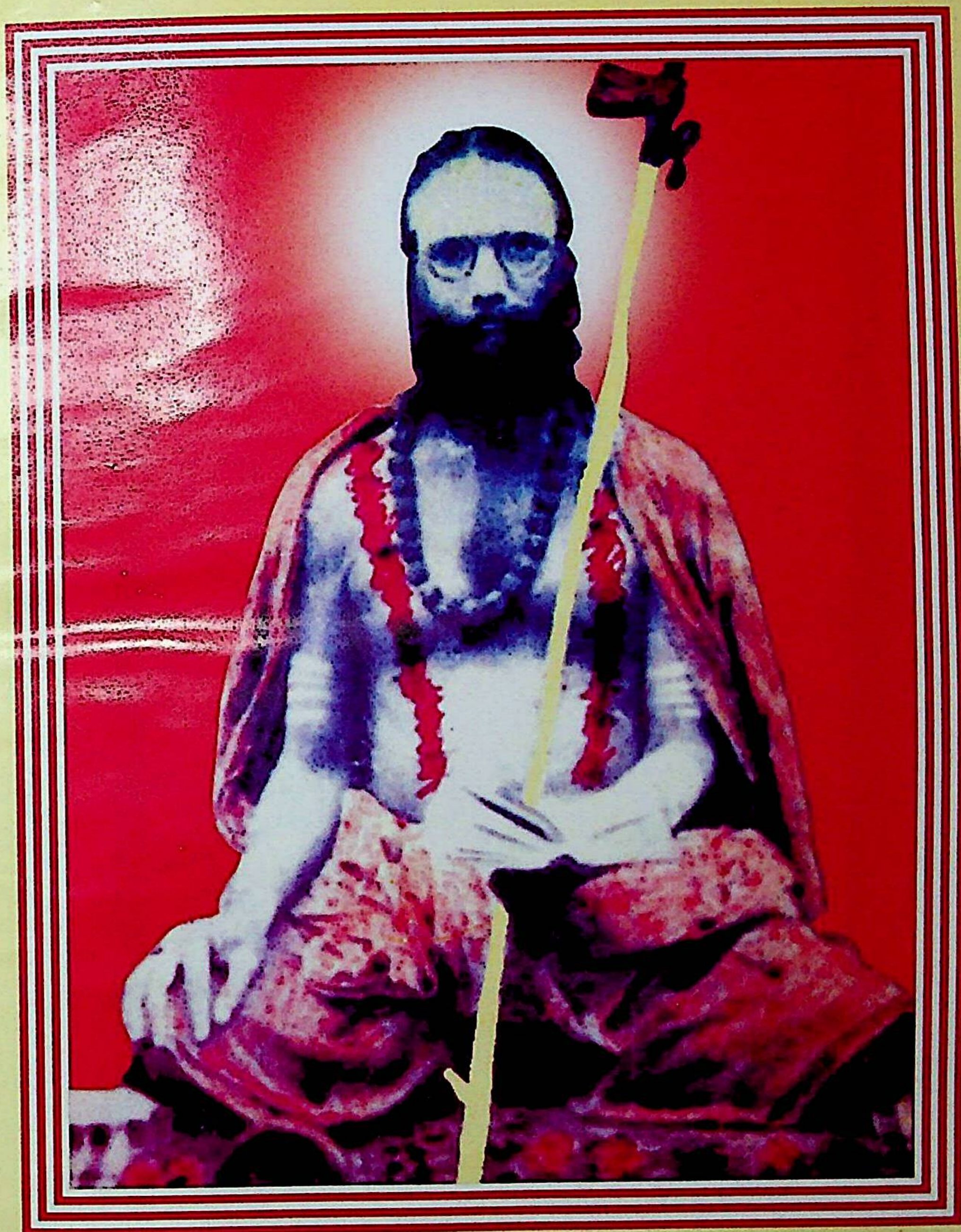
ब्रह्मलीन दण्डी स्वामी श्रीभूमानन्दतीर्थ जी महाराज जिनके साथ
पूज्य सद्गुरुदेव जी ने ३३ वसन्त यापित किया।



अखिल-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परात्पर परब्रह्म सद्गुरुदेव
ब्रह्मलीन ब्रह्मऋषि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज

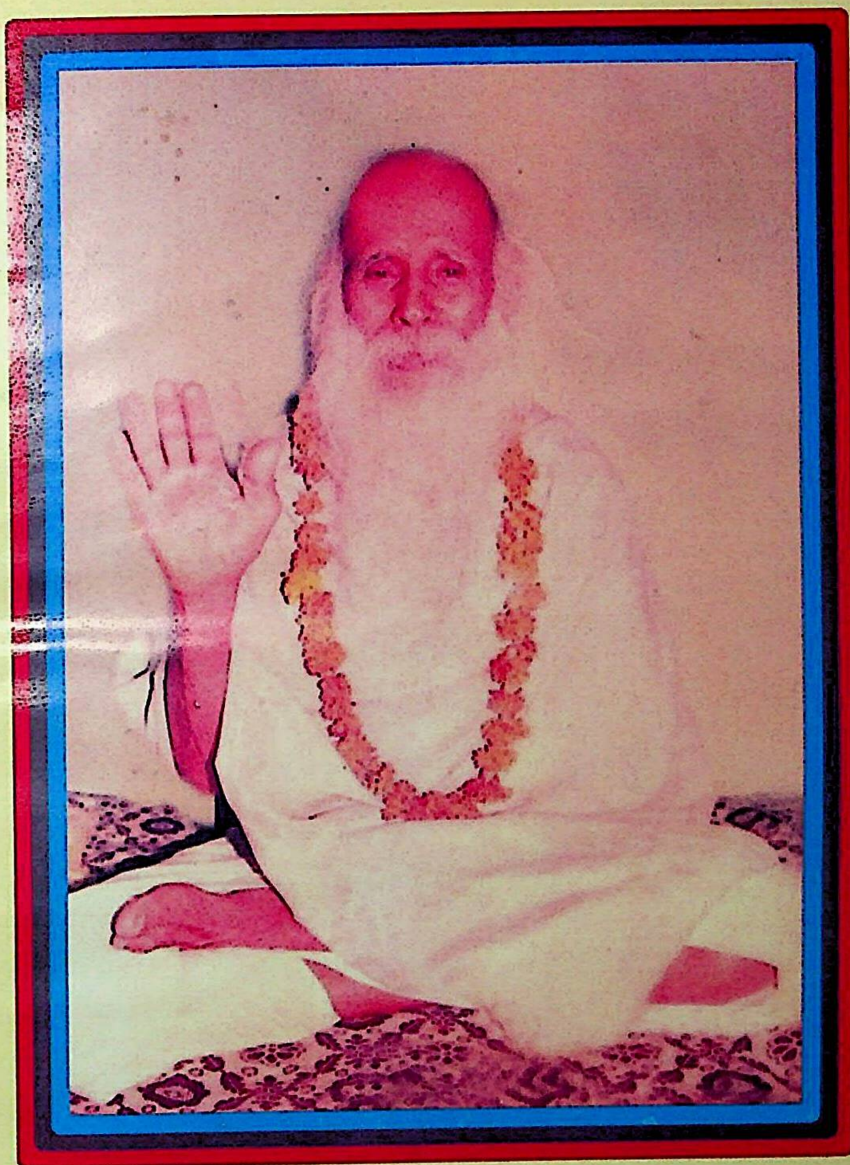


ब्रह्मलीन परम सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीशान्तबोध आश्रमजी महाराज



ब्रह्मलीन परात्पर सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीआनन्द आश्रमजी महाराज

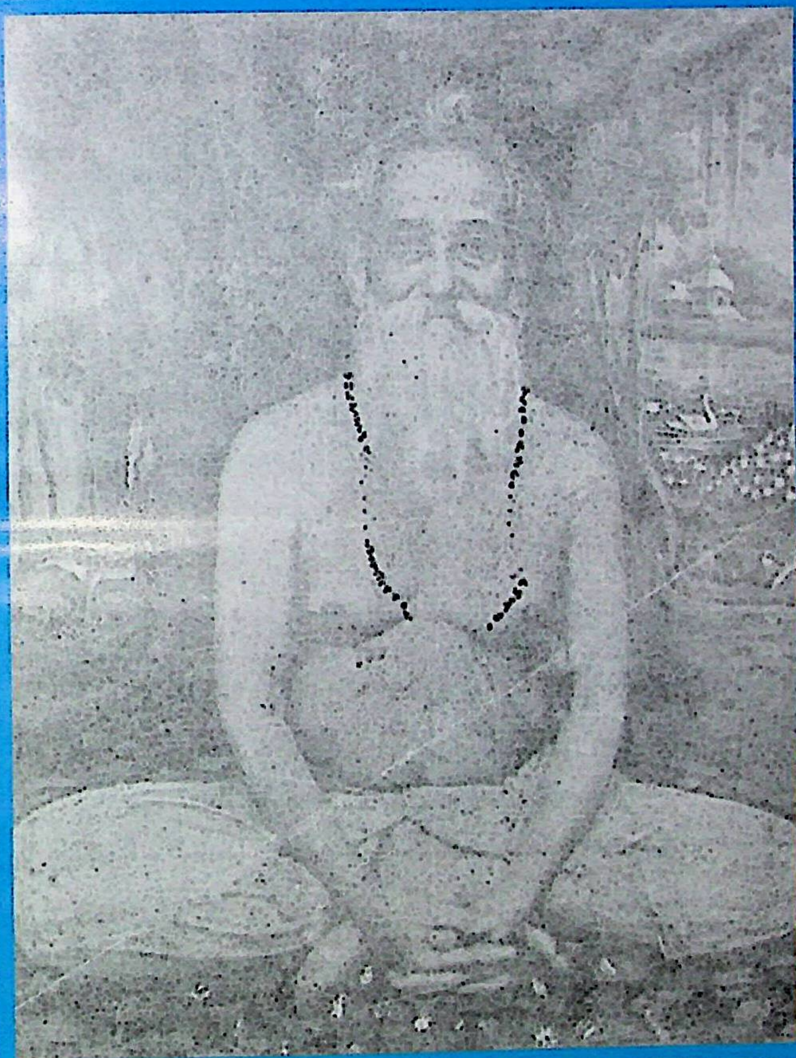




ब्रह्मलीन स्वामी विश्वम्भर सहाय (स्वामी जी लुहसाना वाले)



ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि लश्येक्षर आश्रम जी के प्रथम संन्यास गुरु



अनन्त श्री विभूषित
१००८ परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री योगानन्द जी महाराज

ॐ

पुत्रत्व की सफलता के लिए
ह्री सारस्वत यज्ञ द्वारा
मातृ-पितृतर्पणम्

महाराजश्री जी की कृपामृत सुरसरिता
से ही परिपोषित-पल्लवित-पुष्पित-फलित
यह वंशवल्लरी—

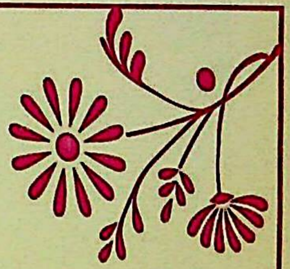
१. पवन कुमार-कुसुमलता,
२. राजेश कुमार-पूनमरानी,
३. राकेश कुमार-ऊषारानी,
४. प्रदीप कुमार-मंजूरानी,
५. विनोद कुमार-सुधारानी,
६. शिवहरि-संगीतारानी,
७. दिनेश कुमार-कवितारानी

महत्पादरजोभिषिक्त सौभाग्यशाली सुजन

ब्रह्मलीन पिताश्री श्री लाला आनन्द प्रकाश जी

ब्रह्मलीन माताश्री श्रीमति शकुन्तलता देवी





ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज

की

महानिर्वाण यात्रा





भूमा पीठाधीश्वर की पूज्य माताजी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ।

श्री महाराज जी के मानस पुत्र पवन कुमार श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ।

भूमापीठाधीश्वर श्री अच्युतानन्दतीर्थ जी महाराज वन्दना करते हुए ।

भूमापीठाधीश्वर श्री अच्युतानन्द तीर्थ जी माल्यापर्ण एवं कीर्तन करते हुए ।

शुकताल दण्डी आश्रम के श्री गुरुदत्त ब्रह्मचारी श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए ।

स्वामी श्री निगमबोध आश्रम एवं श्री प्रमोद आश्रम श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए ।

स्वामी श्री महादेव आश्रम श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए ।

भूमापीठाधीश्वर के शनि श्री विनोद कुमार नमन करते हुए।

सिंघल परिवार के विनोद कुमार निर्वाण यात्रा में न्यौछावर करते हुए ।

कंधा देते हुए श्री दिव्य स्वरूप ब्रह्मचारी, श्री सुनील कुमार एवं करपात्री धाम के
श्री पवन ब्रह्मचारी ।

श्री दिव्य स्वरूप ब्रह्मचारी एवं श्री संजय शर्मा नमन करते हुए ।

निवर्तमान शंकराचार्य स्वामी सत्यमित्रानन्द जी महाराज (भारत माता मन्दिर वाले)
षोडषी में पदार्पण करते हुए

स्वामी चिन्तयानन्द जी, पूर्व गृहराज्य मंत्री 'चिन्तामणि' भाग छः का अवलोकन करते हुए।

निवर्तमान शंकराचार्य स्वामी सत्यमित्रानन्दजी महाराज चिन्तामणि भाग छः
का लोकार्पण करते हुए

चिन्तामणि भाग छः का लोकार्पण

सिंघल परिवार के श्री विनोद कुमार महात्माओं को दक्षिणा वितरित करते हुए ।

श्री आनन्द स्वरूप पाण्डेय जी श्रीमद्भागवत का पाठ करते हुए ।



अनन्त श्री विभूषित द्वारकाशारदापीठाधीश्वर एवं ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

श्रीशारदापीठम्
द्वारका, जामनगर, गुजरात
दूरभाष : 02892-235109

ज्योतिर्मठ
ज्योटकाचार्य गुफा, चमोली, गढ़वाल, उत्तराञ्चल
दूरभाष : 01389-222185



क्रमाङ्क :

दिनाङ्क : ....
स्थल : ....

।। शुभाशंसनम ।।

स्वस्तिश्री पवन अग्रवाल,

पूज्य महाराजश्री के नारायणस्मरणपूर्वक शुभाशीर्वाद

चिन्तामणि नाम से स्वामी लक्ष्येश्वराश्रम जी के संस्मरण एवं अनुभवपूर्ण उद्‌गार प्रकाशित किये जा रहे हैं यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। भारत की प्राचीन संत परम्परा के संवाहक स्वामी लक्ष्येश्वराश्रम जी की पूज्य महाराजश्री भी प्रशंसा करते हैं। स्वामी जी वेदान्त-ग्रंथों का अनवरत परिशीलन और जिज्ञासुओं को अपने अनुभवपूर्ण उपदेशों से लाभान्वित किया करते रहते थे। विरक्त भाव से भ्रमण करते हुए भिक्षा मांगते हुए सर्वदा संतुष्ट रहते थे।

समय-समय पर उन्होंने अपनी दैनन्दिनी में जो विचार प्रकट किये हैं उनका पुस्तक रूप में प्रकाशन करने से निश्चित ही आध्यात्मिक साधकों को लाभ होगा। प्रकाश्यमान चिन्तामणि के प्रकाशन की निर्विघ्नता के लिए पूज्य महाराजश्री के भूरिशः शुभाशीर्वादपूर्वक भगवान चन्द्रमौलीश्वर से प्रार्थना संलग्न है।

पूज्य महाराजश्री की आज्ञा से...........

मार्गशीर्ष कृ. १४/ वि.२०६९
१२/१२/२०१२
श्री विद्यामठ, केदारघाट,
वाराणसी (उ.प्र.)

भवदीय

ब्रह्मचारी सुबुद्धानन्दः
निजी सचिव

वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्

।। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।



परम पूज्यनीय प्रातः स्मरणीय अर्चनीय, वन्दनीय, सर्वकाल स्मरणीय वीतराग तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज के श्री चरणों में दण्डवत् नमन् वन्दन्।

पूज्य महाराज श्री की शीतल छत्र छाया में विगत पैंतीस वर्ष से निरन्तर रहने व दर्शनों का पुण्य लाभ इस शरीर को प्राप्त होता रहा उनके द्वारा आत्म-कल्याण सम्बन्धित दिव्य ज्ञान का देदीप्यमान प्रकाश स्वतः यदा-कदा उनकी अहैतुकी कृपा से बरसता रहता था। जीवन के अन्तिम क्षणों में उन दिनों महाराज श्री का पूजन करते व चेतन अवस्था में लाते थे, तब महाराजश्री अति सूक्ष्म दृष्टि से हमारे देह में **शिवोऽहं, सच्चिदानन्दोऽहं, आनन्दोऽहं** के तत्व को एक अलौकिक अनुभूतियों के द्वारा हमें सिंचित करते। वास्तव में जीवन को महान बनाना किसी साधना पर निर्भर करता है। जिसके लिए सम्यक् संकल्प, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् कर्म की अति आवश्यकता आवश्यक हैं।

जिस प्रकार परमपिता परमेश्वर संकल्प से ही विश्व संरचना करते हैं **"एकोऽहं बहुस्यामः"** उनका संकल्प है, उसी प्रकार उच्चकोटि के महापुरुष ज्ञान की उच्चतम भूमिकाओं में विचरण करते हुए, अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं, तथा अपने दिव्य ज्ञान की तरंगों व साधना के फल को संकल्प मात्र से योग्य शिष्य को प्रदत्त करते हैं जो हमें प्रदान हुआ जिसे देखने वालों ने प्रत्यक्ष देखा, अनुभव करने वालों ने अनुभव किया, चिन्तन करने वालों ने चिंतन किया, उस अन्तिम वेला का अलौकिक श्रेष्ठतम दर्शन।

त्वमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

परब्रह्म परमात्मा को जान लेने से ही मनुष्य जन्म-मृत्यु से मुक्ति (मोक्ष) की पूर्णावस्था प्राप्त कर लेता है।

भगवान का वचन है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
व्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुनः ।।

जो महापुरुषों के आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस भौतिक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है। अक्षरसः यह वाक्य पूर्णरूपेण महाराजश्री पर घटित होता है। **"स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाः"** महाराजश्री का आजीवन सदग्रन्थों का अध्ययन जो शास्त्र हमें मूल की तरफ प्रेरित करते हैं। हमारे सुप्त विवेक को जगाये असत से मनोवृत्ति को हटाकर सत् में लगायें। जीवन मूल्यों, आदर्शों, परम्पराओं, भाव, सद्भाव को उत्प्रेरित करे। ऐसे वेद उपनिषद, गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय (ज्ञान यज्ञ) महाराजश्री ने किया जिसे यज्ञ को करने से **"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम"**। जिस द्वार पर पहुँचकर आवागमन का चक्र सदा–सर्वदा छूट जाता है। उस परमपद को उस ऊँचाई को प्राप्त किया, क्योंकि इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है।

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"
"ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्ममात् कुरुते तथा"

महाराजश्री ने परम पवित्र होकर स्वधाम गमन किया यह स्वतः सिद्ध है कि सन्त का ऐश्वर्य उसके स्थूल शरीर को त्यागने के बाद ही चमत्कारी होता है, हमारे दीक्षा गुरु पुण्य श्लोक अनन्त श्री विभूषित स्वामी भूमानन्द तीर्थ जी महाराज के स्वधाम गमन के पश्चात् ही हमें गुरुप्रसाद, सत्कर्म, सद्विवेक, सद्ज्ञान व पुरुषार्थ के बल पर अपनी वैभव की सीमाओं को लाघं कर आज उच्चतम शिखर की ओर अग्रसर हुए यह प्रत्यक्ष प्रमाण सभी के सामने सद्गुरु–सद्शिष्य के मेल का उदाहरण प्रत्यक्ष है।

वर्तमान समय में जो अनमोल प्रसाद उस महापुरुष ने हमें दिया। हमें ऐसा लगता है समस्त भू लोक में जो वस्तु अति दुर्लभ है वह भी हमें प्राप्त हो गयी।

श्रावण शुक्ल द्वादशी वि.स.–२०६९, दिनांक–३० जुलाई २०१२, सोमवार प्रातः ९ बजकर ४५ मिनट में हमने महाराजश्री का षोड्शोपचार पूजन किया। पूजन के उपरान्त ठीक १० बजे उन्होंने अपनी इह लीला समेट ली जो सर्वविदित व दर्शनीय थी। ऐसे त्यागी, तपस्वी, साधक का कृपामयी प्रसाद हमारे जीवन में दिव्यता लायेगा ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

उनकी तपस्या, साधनाा का फल सभी भक्तों को प्राप्त होगा। महाराजश्री के सभी भक्त मण्डली, शिष्य मण्डली, सभी ग्रामवासी भूमा परिवार के सदस्य व हमारे शिष्य हैं, सभी संस्थायें उनकी अपनी हैं ऐसा पूर्ववत् भाव सभी भक्तजन बनाये रखें।

चिन्तामणि ग्रंथ का सप्तम भाग के सम्पादन का कार्य संस्कृत साहित्य के अद्वितीय विद्वान पण्डित अनन्त नारायण पाण्डे जी ने अपने विवेक से जनहित में जो कार्य किया है उसके लिए उन्हें साधूवाद है।

पुस्तक के प्रकाशक पवन कुमार सिंघल ने अपने गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास रूपी गुणों से समर्पित होकर लोक हित में अद्वितीय कार्य किया है वह सराहनीय व प्रत्यक्ष है, ऐसे व्यक्ति वर्तमान समय में कम हैं। हम उनके व उनके परिवार के लिए भगवान विश्वनाथ से कामना करते हैं। उनका जीवन इसी प्रकार गुरुजनों के प्रति समर्पित रहे।

हम सभी उस महामहिम महापुरुषा के श्री चरणों में नमन् करते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माँ कश्चिद् दुख भाग्भवेत्।।

की भावनाओं से

शत्-शत् नमन् तुम्हे प्रभो! शत्-शत् नमन् तुम्हें।

—स्वामी अच्युतानन्द तीर्थ

भूमा निकेतन

हरिद्वार



शुभाशंसा

अद्वैत सिद्धान्त मे दो पदार्थ हैं—दृग एवं दृश्य। दृश्य का तात्पर्य सम्पूर्ण प्रपञ्च हिरण्यगर्भ से लेकर स्तम्ब पर्यन्त तथा दृग्-तत्त्व आत्मा का बोधक है। "आत्मा च ब्रह्मैव"। आत्मा का दूसरा बोधक ब्रह्म शब्द है। आत्मा शब्द को व्युत्पत्ति महाभारत में इस प्रकार है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्तिविषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तेनात्मा परिकीर्तितः ।।

यह आत्म तत्त्व का बोधक होता हुआ, ब्रह्म बोध कहलाता है।

इस ब्रह्म तत्त्व को समझाना ही उपनिषदों का लक्ष्य है, क्योंकि ब्रह्म तत्त्व का साक्षात् कथन करना सम्भव नहीं "अवाङ् मनसगोचरं ब्रह्म" 'ब्रह्म' वाणी तथा मन का विषय नहीं। परन्तु "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" यह श्रुति तो कहती है कि मन के द्वारा तत्त्व साक्षात्कार किया जा सकता।

इन दोनों का विरोधपरिहार गुरु परम्परा-से प्राप्त है कि "संस्कृत मन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, असंस्कृत मन-से नहीं।

प्रमुख दृक्तत्त्व को प्राप्त करने का साधन ओङ्कार है। वह ओङ्कार अकार, उकार एवं मकार से युक्त है। 'अकार' का तात्पर्य व्यापक 'उकार' से तात्पर्य है संसार-से ऊपर उठकर 'म' का तात्पर्य ज्ञान-से है। जो व्यापक तथा संसार से रहित ज्ञान तत्त्व है, वही ओङ्कार है। यह ओङ्कार ही सर्वरूप से सर्वत्र स्थित है।

जैसे कि नृसिंहोत्तर तापनीयोपनिषद् में कहा है—'**भूतं भवत् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव**'।

ऐसे ओङ्कार रूप तत्त्व को जानकर व्यक्ति परम तत्त्व को प्राप्त कर लिया उसे भी "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव" इस श्रुति का तात्पर्य ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसे महापुरुष के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व चिन्तामणि जो हमारे समक्ष प्रस्तुत हो रहा सातवाँ-भाग। पूज्य ब्रह्मलीन श्री लक्ष्येश्वराश्रम स्वामी जी का यह वाङ्मय हमारे लिए प्रेरणा तथा ब्रह्म तत्त्वसाक्षात्कार का उपादेय सिद्ध होगा।

हम स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम महाराज जी के उस महनीय परम्परा का स्मरण करते हुए, पूज्य स्वामी जी 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के तत्त्व को आत्मासाक्षात् जीवित रहते हुए कर चुके थे। ऐसे पूज्य गुरुचरण जो आज सर्वत्र सर्वमय हैं "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते" इस श्रुति के अनुसार वे व्यापक तत्त्व में हम सबके साथ हमारी भावना के लिए लक्ष्य होते हुए, हमारी भावनाओं को अपने उस स्वरूप में समाहित करते हैं, जहाँ जाकर पुनः संसार चक्र में आना नहीं पड़ता।

"यद्गत्वा न निर्वतन्ते तद्धामपरमं मम"।

वह आत्मा जो स्वयं प्रकाश रूप है। जैसा कि प्राय: पूज्य ब्रह्मलीन स्वामी जी श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज कहा करते थे, पञ्चदशी का श्लोक—

मासाब्दयुग कल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येको संविदेषा स्वयं प्रभा।।

इयमात्मा परानन्दः पर प्रेमास्पदं यतः।
मा न भुवंहि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते।।

श्रुति—"न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य मासा सवमिदं विभाति। (मु०) इत्यादि श्रुतियों का पूज्य स्वामी जी कथन करते थे। आज पूज्य ब्रह्मलीन स्वामी जी लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज साकार मानव जीवन के रूप में हमारे मध्य न होते हुए भी व्यापक ब्रह्म तत्त्वरूप-से शाश्वत विद्यमान हैं। जिन ब्रह्मज्ञानी महात्माओं कि प्रशंसा करते हुए गौडपादाचार्य जी लिखते हैं—

आमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कार विदितो येन स मुनि नेतरोजनः।।

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्तिनिश्चितः।
सः पूज्यः सर्वभूतानां बन्द्यश्चैव महामुनिः।।

इस प्रकार ब्रह्मलीन पूज्य प्रात: स्मरणीय स्वामी जी का यह सप्तम भाग सातवीं ज्ञान की भूमिका के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है। जिसमें साधकों के लिए महती सामग्री उपस्थित है, जो कि स्वामी जी महाराज का 'संग्रहात्मक' एक जीवित ग्रन्थ का भाव प्राप्त कर हमारी साधना का निर्देशक बने।

इति—

डॉ. दिव्यस्वरूप (चैतन्य)
ब्रह्मचारी व्याकरणवेदान्ताचार्य
अतिथि अध्यापक, व्याकरण विभाग
सं.सं.वि.वि., वाराणसी
दत्तात्रेय मठ, नारदघाट
वाराणसी

॥ श्रीहरिः ॥

नम्रनिवेदनम्

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रयः ॥३॥

ईश्वरानुग्रह ही जिनकी प्राप्ति में हेतु है एवंविध मनुष्यता मुमुक्षुता और महान् पुरुषों का आश्रय या उनका सङ्ग—ये तीनों अत्यन्त दुर्लभ हैं।

यह मनुष्यता कितनी दुर्लभ, कि जिसको बताने के लिए भगवत् पाद ने एक नहीं, चार बार दुर्लभ शब्द का प्रयोग क्रमशः चार श्लोकों में किया **"नरजन्मदुर्लभम्", "दुर्लभं मनुष्यत्वम्" दुर्लभं मानुषं देहम्"** तथा **"लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्मदुर्लभम्"**।

भगवत में **"लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यम्" नदेहमाद्यं सुलभंसुदुर्लभम्"** एवं मानस में **"बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा। साधन धाम मोच्छकर द्वारा।**

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत इस बिनु हेतु सनेही॥

देवता भी जिसकी याचना करते हैं, उस मनुष्य देह की दुर्लभता का क्या कहना, जो सम्पूर्ण साधनों (ज्ञान-भक्ति कर्म) का धाम एवं मोक्ष का खुला द्वार है। ईश्वर ने स्नेह वश करुणाकर के द्वार अनावृत कर दिया, खोल दिया– जिसको आना है, आजाओ, जो चतुर है, अर्थात् महापुरुष के सङ्ग से जिसमें चतुरता आ गई है, वह तो झट प्रवेश कर जाता है। अवशिष्ट तो भगवान् से यही कहता रहता है, भगवान थोड़ा रूकिये अभी घर बनाना बाकी है, अभी पुत्र-पुत्री का विवाह करना बाकी है, अभी यह बाकी, वह बाकी है, सहस्त्रों जन्मों से यही तो करते आ रहे हैं, उनमें सच्ची मुमुक्षुता जगी ही नहीं हैं क्योंकि उन सबको महापुरुषों का संग मिला ही नहीं या मिला भी है तो उसका लाभ नहीं लिया।

भगवान् कहते हैं—**"पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा"**

कर्म का निषेध नहीं है, श्रुति स्पष्ट कहती है—**"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्" "त्यक्तेन भुञ्जीथा"** इसका फल है चित्त की शुद्धि। **चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये। वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥** (वि०चू०)

निष्कामभाव से कर्म करना चित्त की शुद्धि के लिए है तत्त्व प्राप्ति के लिए नहीं।

अन्यत्र भी **''आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः। समाप्यं तत्पूर्वमुपात्त साधनः, समाश्रयेत्सदगुरुमात्मलब्धये।।** (रा॰गी॰)

सर्वप्रथम स्व-स्व वर्णाश्रम धर्म का पालन शास्त्रानुसार करते हुए, अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर उनको छोड़ कर आत्मा की उपलब्धि के लिए शमादि-से युक्त हो सद्गुरु के चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करें।

अन्यथा "यावज्जीवेत सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं-पिबेत्" सूक्ति को जीवन में उतारने वाले के लिए श्रुति स्पष्ट रूप से कहती है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः।।

अज्ञानान्धार से आवृत (आत्मा के स्वरूप को आच्छन्ति करने वाले) मात्र प्राण पोषण परायण जीवों को नारकीय योनियों में ही जाना होगा क्योंकि आत्मा के स्वरूप को न जानने वालों के लिए एतादृश लोक ही सुनिश्चित हैं।

तथा काठक श्रुति भी कहती है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।१/२/९।।

अज्ञानजन्य, अनेकों प्रकार से शात्रविहित एवं निषिद्ध कर्मों में रागपूर्वक अवस्थित अपने को कृतार्थ मानने वाले, पण्डित मानने वाले वस्तुतः बालक के समान ही हिताहित ज्ञान शून्य पुरुष कर्मफल भोग के पश्चात् न चाहते हुए भी स्वर्गादिक्षीणलोको से च्युत हो जाते हैं, कर्मों का अन्तिम फल क्या हुआ ? जहाँ से चले उससे भी नीचे पहुँच गये।

अतः सच्ची मुमुक्षुता के लिए महापुरुषों का संग करना चाहिये।

नारदभक्ति सूत्र में **''महत्सङ्गस्तुदुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च''** महापुरुषों का सङ्ग दुर्लभ, अगम्य तथा अमोघ है।

"लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव" भगवान् की कृपा से (देवानुग्रह से) महापुरुषों का सङ्ग मिलता है।

''तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'' भगवान एवं महापुरुषों में कोई भेद नहीं होता तथा—

''तदेव साध्यतां तदेव साध्यतां'' उन महापुरुषों का ही सङ्ग करना चाहिये, उन महापुरुषों का ही सङ्ग करना चाहिये।

साथ ही **''दुःसङ्ग सर्वथैव त्याज्यः''** दुःसङ्ग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

कठोपनिषद् में कहा गया है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

जो पापा चरण से विरत नहीं हुआ, जिसने इन्द्रियों का संयम नहीं किया। फलस्वरूप अशान्त चित्त वाला पुरुष केवल अपनी प्रज्ञा के बल पर श्रुति प्रसिद्ध आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

अतः उस अपरोक्ष नित्य प्राप्त तत्त्व की अभिन्नत्वेन उपलब्धि के लिए श्रद्धावित्त से सम्पन्न हो श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुं की शरण में जाना होगा। श्रुति स्वयं कहती है—

तद्विज्ञःनार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।
समित् पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। (मु० (१/२/१२)

तत्पदलक्ष्यार्थ नित्यपरमपद आत्मा के विज्ञान (अनुभूति) के लिए, समित्पाणि (समिधा लेकर) वेदज्ञ (शास्त्रसिद्धान्त के ज्ञाता) एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरण में जाये।

विवेकचूड़ामणि में भगवान् श्रीशङ्कराचार्य जी महाराज ने गुरु का लक्षण कहा है—

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहता यो ब्रह्मवित्तमः ।।३४।।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहैतुक दयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।।३५।।

जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ), अवृजिन (पाप रहित) कामनाओं से रहित, ब्रह्मज्ञानियों श्रेष्ठ बाह्यचिन्ता-त्यागान्तर ब्रह्मचिन्तन में निरत अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ, ईन्धन रहित अनल की तरह शान्त, हेतु रहित दया-सिन्धु (अकारण करुणा करने वाले) प्रणत सत्कारि पुरुषों के बन्धु, एतादृश सद्गुरु का गर्व त्याग पूर्वक नम्र हो भक्ति एवं श्रद्धा पूर्वक आराधना, उनकी आज्ञा का पालन कर, उनको प्रसन्न जानकर आत्म तत्त्व के विषय में जिज्ञासा करे।

भगवत्पाद निरूपित उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न, विशेषतः श्रुतिप्रतिपादित नित्य, अविक्रिय, स्वद्रष्टा, हेतु, व्यापक, असंग, अनावृत्त, सर्वाश्रय, क्षेत्रज्ञ, एक, शुद्ध, अव्यय स्वरूप, आत्म रूप से स्थित ब्रह्मर्षि परमपूज्य यतिवर श्रीलक्ष्येश्वराश्रमजी महाराज थे। उनके चरण कमलों में अनन्त का अनन्त नमन।

सम्बत् १९७३ कार्तिक कृष्णा एकादशी को हरदोई जनपदस्थ मोहदीपुर नामक गाँव में श्री नन्हा जी के घर, देवी इन्द्रायणी के गर्भ से एक भावी महापुरुष ने जन्म लिया, बालक लालबिहारी जो आगे चलकर "श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए।

"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था" जिनके प्रकट होने मात्र से सारा कुल पवित्र हो गया जननी धन्या हो गई। क्योंकि लक्ष्य के बिना ही कुल एवं जननी को लक्ष्य की प्राप्ति हो गई।

मुण्डक श्रुति कहती है—"**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते**"।

प्रणव धनु है, आत्मा शर (बाण) है, और 'ब्रह्म' उस 'आत्मा' का लक्ष्य है।

भगवान् श्री शङ्कर ने ईश्वर शब्द की व्याख्या **"निरूपाधिकमैश्वर्यमस्येति ईश्वरः"** (विष्णु०स०) पुनः सर्ववेदान्तसि० में कहा है—

सर्वेशत्वस्वतन्त्रत्वसर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ।
सर्वोत्तमः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।।२१।।

'आश्रम' शब्द की व्याख्या मठाम्नास महानुशासन में—

आश्रम-ग्रहणे प्रौढ़ आशपाश विवर्जितः ।
यातायात-विनिर्मुक्त एव आश्रम उच्यते ।। (म०महा० ७)

इस प्रकार 'लक्ष्य' पद ब्रह्म का वाचक सिद्ध हुआ, 'ईश्वर' पद सर्वेशत्व, स्वतन्त्रत्त्वं, सर्वज्ञत्व, सर्वोत्तमत्व, सत्यकामत्व, सत्यसङ्कल्प सिद्ध हुआ तथा 'आश्रम' पद आशापाशविवर्जित यातायात विर्निमुक्त का।

ईशश्रुति 'आत्मा' (ब्रह्म) के विषय में कहती है—**"तन्नैजति"** (एजृ कम्पने) वह ब्रह्म उपाधिरहित होने से यातायात रहित है। एवं **'लक्ष्य एव ईश्वरः लक्ष्येश्वरः स चाऽसौ आश्रमः, लक्ष्येश्वराश्रमः अर्थात् अपरोक्षब्रह्म'**।

अथवा **'लक्ष्य ईश्वर अस्यास्तीति लक्ष्येश्वरः तस्यऽऽसमन्तात् श्रमो विश्रामो यस्मिन्निति लक्ष्येश्वराश्रमः'**।

अथवा **लक्षणया ज्ञायते बोध्यते इति लक्ष्यः आत्मा**। आत्मा तु "ब्रह्मैव" एवं "ईशा वास्यमिदं सर्वं" इस उपनिषद् वाक्य से ईश्वर पद तदर्थ ही होता है, उस ईश्वर की प्राप्ति में जिसका श्रम लगा हो वह हैं, लक्ष्येश्वराश्रम। तथा

लक्षयत्यनया सम्यग्भागलक्षणया ततः ।
सर्वापाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।। (शं०)

इस प्रकार 'लक्ष्येश्वराश्रम' यह अन्वर्थ संज्ञा सर्वोपाधिविनिर्मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वय तत्व का ज्ञापक सिद्ध होता है।

अथवा 'लक्ष्य', पद तत् का 'ईश्वर' पद 'त्वं' का एवं आश्रम् पद असि का ज्ञान करता है।

ऐसे महतोमहीयान् पूज्य स्वामी जी महाराज सहज अन्वेषण वृत्ति के कारण, क्योंकि *स्वभाव एष देवस्य आप्रकामस्य का स्पृहा'* के अनुसार जीवनमुक्त पुरुषों को कामना ही क्या हो सकती है; सहज रूप से, सरलता से, अल्प आयास से सर्वदा के लिए चिन्तामुक्त करने हेतु एक अनमोल रत्न विशेष दे गए जिन्हें हम आज "चिन्तामणि" के नाम से जान रहे हैं, जो हमारे हाथों में पुस्ताकाकार में स्थित है। लेकिन शास्त्र में तो यह कहा कि—**'चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्'** चिन्तामणि लौकिक सुख एवं सुद्रु (देववृक्ष) स्वर्ग सुख प्रदान करता है। फिर स्वामीजी महाराज जैसे वीतराग

महापुरुष लौकिक सुख की प्राप्ति हेतु साधनस्वरूप चिन्तामणि क्यों कर प्रदान करेंगे। किन्तु उसी श्लोक के उत्तरार्ध में कहा है—

'प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्' । (भा०मा० ८)

यदि गुरु ब्रह्म प्रसन्न हो जायँ तो योगि दुर्लभ वैकुण्ठ (आत्मस्वरूप) ही प्रदान कर देते हैं। मुख्य रूपसे चिन्तामणि परमार्थ सुख ही प्रदान करती है, लेकिन लौकिक सुख उसके साथ अपने आप आ जाता है। लोग ब्रह्मानन्द में निरत सन्त-महात्माओं को ही नहीं सामान्य साधकों को भी कुछ समर्पित करने में अपना सौभाग्य मानते हैं, यदि महात्मा या साधक उसकी वस्तु यत्किञ्चित् भी ग्रहण कर ले तो लोग अपने आपको कृतार्थ सपझते है, वैसे व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जाय तो 'चिन्तामणि' ग्रन्थ में ऐसे अनेक उपाय हैं जिनके अनुष्ठान से व्यक्ति लौकिक सुख-समृद्धि को प्राप्त कर सकता है।

'चिन्तामणि' में श्रेय एवं प्रेय दोनों की प्राप्ति के उपाय है, अब यह अपने हाथ में है कि हम चयन किसका करते हैं। कठोपनिषद् में आता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौसम्परीत्य विविनक्तिधीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।। (१/२/२)

जो विवेकी होते हैं, वे तो 'श्रेय' का ग्रहण करते है, एवं जो 'मन्द' होते हैं वे प्रेय का ग्रहण करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में लिखते है—**"तुलसी चित चिन्ता न मिटे बिन चिन्तामनि पहिचाने"** । बिना 'चिन्तामणि' को पहचाने (प्राप्त किये) जीव के चित्त की चिन्ता कभी मिट नहीं सकती; मिटनी होती तो अभी तक मिट गई होती इससे सिद्ध होता है कि 'चिन्तामणि' वो विशेष 'मणि' है, जिससे प्राप्तकर तुलसीदास जी मानस के अन्त में लिखते हैं—**'पायो परम विश्रामु'** अर्थात् परमशान्ति (परमात्मा अर्थात् चिन्तामणि) प्राप्त कर लिया। शास्त्र में चिन्ता को चिता के समान माना गया है। किसी ने कहा है—

चिन्ता चितासमा ह्युक्ता बिन्दुमात्रं विशेषतः ।
सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता ।।

चिन्ता चिता के समान ही मानी गई है, चिन्ता में केवल एक बिन्दु की ही तो अधिकता है। चिता तो निर्जीव को (मरे को) उसके लिए लकड़ी घृत अग्नि अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, किन्तु चिन्ता इन सब से निरपेक्ष होकर जीवित मनुष्य को ही जला देती है। देखा भी जाता है अधिक चिन्ता से शरीर गर्म हो जाता है। यह 'चिन्तामणि' इस चिन्तारूपी अग्नि को शान्त करने के गंगा सदृश शीतल, पावन, निर्मल गुणवाली है।

इस चिन्तमाणि ग्रन्थ में वेद, उपनिषद् महाभारत, भागवत, तन्त्र, विशेषतः सूत संहिता, कुछ स्तोत्र तथा कई एक भजन, इनका संग्रह है। इन विषयों को देखकर आश्चर्य होता है कि पूज्य महाराजजी की सहज दृष्टि कितनी व्यापक थी, इनके अध्ययन अवलोकन की सामग्री कितनी विशाली भी।

श्री महाराजजी से तो उन्हीं लोगों ने लाभ उठाया, जो कुछ जानने-सीखने की प्रवृत्ति से उनके पास रहे, या उनका सङ्ग किया, लेकिन उनकी अहैतुकीदया का प्रसाद उनका वाङ्मय स्वरूप यह 'चिन्तामणि' न जाने कितने लोगों के कल्याण मार्ग का पाथेय सिद्ध होगा वस्तुतः हम जैसे लोगों के लिए तो अवश्य ही। विगत कई वर्ष पूर्व सम्प्रति 'विट्टो चौक' निवासी 'पवन जी से मेरा परिचित हुआ था, परिचय बढ़ता गया और वह सत्सङ्ग में बदल गया, और उसी क्रम में 'चिन्तामणि' से मैं भी परिचित हुआ। तबतक इसके 'पाँच खण्ड' छप चुके थे। जिनमें प्रथम एवं द्वितीय खण्ड का अनुवाद 'श्रीत्र्यम्बकेश्वर चैतन्य जी' महाराज एवं अवशिष्ट तीन खण्डों का अनुवाद प० श्रीभद्रनारायण पाठकजी ने किया था, जो मैंने पवन जी माँग लिया। उन दोनों पूज्यजनों को मेरा सादर नमन। किसी कार्यवश एक दिन 'विट्टोचौक' गया हुआ था, पवन जी ने किसी डायरी की छाया प्रति देखने को दिया और कहा इसका अनुवाद कर दीजिये। मैंने देखा तो अवश्य किन्तु मेरी उस समय इच्छा नहीं हुई कि अनुवाद करूँ। मैं टाल-मटोल करने लगा, बहुत समय लगेगा, मेरे में इतनी योग्यता नहीं मैं एक विद्यार्थी हूँ, लेकिन पवन जी के आग्रह के कारण उसे अपने कमरे में ले लाया। इच्छा न रहने पर भी किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से अनुवाद कार्य में लग गया।

सच तो यह है कि मैं सोच रहा था 'पूज्य श्री महाराज जी' जैसे सन्त की डायरी, अनुवाद न जाने कितने विद्वानों के हाथों में जायगी, क्या करूँ ? इस बीच 'पवन जी' ने कहा गुरुदेव आयें हैं। मैंने दर्शन की इच्छा व्यक्त की और सहज महात्मा का सहज में दर्शन, आशीर्वाद एवं आज्ञा ही मिल गयी।

तब कहीं जाकर इस कार्य में गति आई। यह सत्य है, कि उससे पहले मैंने मात्र एक 'पृष्ठ ही अनुवाद के रूप में लिखा था और समय आठ महीने बीत चुके थे। दुबारा पुनः पवन जी के माध्यम से 'महाराज श्री' के दर्शन एवं चरण स्पर्श का सौभाग्य मिला एवं अनुवाद का कुछ अंश पढ़कर सुनाया, तथा कुछ व्यक्तिगत जिज्ञासा भी की और उसका समाधान भी मिला पुनः तीसरी बार महाराज जी के दर्शन नहीं मिले। पवन जी ने दूरभाष के माध्यम से बताया कि गुरुदेव का शरीर पूरा हो गया।

पश्चात् सारा कार्य छोड़कर अनुवाद में लग गया। अध्ययन भी प्रायः बन्द ही रहा। इसी बीच मेरे पूज्य गुरुवर प्रातः स्मरणीय श्री पुरुषोत्तम त्रिपाठी जी का भी पार्थिव शरीर शान्त हो गया, इस तरह बीच-बीच में छोटे-बड़े व्यवधान आते रहे। और लेखन कार्य भी पूरा हो गया।

अनुवाद जैसा होना चाहिए, वैसा हुआ है कि नहीं किञ्चित् भी ठीक हो पाया या बिलकुल ठीक नहीं हुआ है, इसकी परीक्षा, पुस्तक के गुरुजनों के कर कमलों में पहुँचते ही हो जायगी। गोस्वामी जी की भाषा में **''जौ बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।। हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषनधारी''** ।।

मैं एक विद्यार्थी हूँ, और उसी योग्यता के अनुसार यथामति यह कार्य ईश्वर की सत्प्रेरणा से पूरा हो गया। अनुवाद में आई त्रुतियों के लिए में विद्वानों से क्षमा चाहूँगा, साथ ही पूज्य यतिवर स्वामी श्रीमधुसूदनसरस्वती जी महाराज की भाषा में—**यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद् गुरोरेव मे न हि। यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि ।।** (सिद्धान्तबि०) साथ ही इस कार्य में जिन ग्रन्थों से मैंने सहायता ली, उनके लेखक एवं सम्पादकों के प्रति मेरा सादर नमन है। विषघ्नोपनिषद् एवं आयुर्वेदोपनिषद का अनुवाद मैंने नहीं किया, उसका हिन्दी अनुवाद इसमें दिया गया है।

विशेष रूप से मैं अपने परमपूज्य श्री गुरुचरणों का अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्मरण एवं वन्दन करता हूँ जिनका आशीर्वाद मेरे साथ सदा था, है, एवं रहेगा। गुरु तत्त्व क्या है ? वह तो यत् किञ्चित गुरु प्रसाद से ही जाना जा सकता है।

एक जनश्रुति है 'बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद' तो जिसने गुरु चरणों का आश्रय प्राप्त नहीं किया, उनकी कृपावारि से अपने को अभिषिक्त नहीं किया, उनके चरण रज से अपने मन-मुकुर का परमार्जन नहीं किया, वह गुरुचरण की आवश्यकता का अनुभव नहीं कर सकता और नहिं उनकी महिमा को समझ सकता है। मैं तो अपने गुरुजनों के बिना अपने को पङ्गु ही समझता हूँ, उनके बिना मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं।

श्रुति कहती है—"आचार्यवान् पुरुषोवेद" श्रद्धालु के लिए एक श्रुति वचन ही पर्याप्त है, गुरु तत्व की महिमा को बताने के लिये। मैं अपने पूज्यातिपूज्य गुरुदेव 'दण्डिस्वामी श्री हषीकेशाश्रम जी महाराज भूपूर्व तारकेश्वर पीठाधीश्वार सम्प्रति धनबाद मठ निवासी, उनके चरण कमलों में अनन्त प्रणाम, जिनके चरणों में चार वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्रुति में आया है—"**मातदेवोभव, पितृदेवोभव, आचार्य देवोभव**" मैं अपने मातृपितृ चरण कमलों में सादर नमन करता हूँ। साथ ही पूज्य गुरुदेव डॉ०श्रीदिव्यस्वरूप ब्रह्मचारी जी को सादर प्रणाम जिन्होंने बीच-बीच में जल्दी-से-जल्दी कार्य पूरा करने के लिए उत्सह प्रदान किया। साथ ही जिनसे में अभी भी अध्ययन कर रहा हूँ एवं पूर्व भी कर चुका हूँ उनमें पूज्य 'श्रीरामयत्नशुक्ल' गुरुजी को सादर प्रणाम करता हूँ। पूज्य 'श्री सुधांशुशेखर' मिश्र गुरुजी को मेरा प्रणाम पूज्य 'श्रीराममनोहरमिश्र गुरुजी' को प्रणाम साथ ही पूज्य 'श्री श्यामवापट गुरुजी' को प्रणाम 'श्रीरामकिशोरत्रिपाठी गुरुजी' को प्रणाम, 'श्री शेष नारायण गुरुजी' को प्रणाम। 'श्री विनायक बादल गुरुजी', 'श्रीभनुदेव भट्टाचार्य गुरुजी' को प्रणाम एवं 'श्रीस्वपन चटर्जी गुरुजी' को नमन।

हमारी यह भारत भूमि एक ऐसी दिव्यस्थली है, जिसका यश वेदों तक ने गाया है, औरों की कौन कहे। इसकी सनतान संस्कृति की रक्षा एवं उसकी अभिवृद्धि सदैव गुरु-शिष्य की अक्षुण्ण परम्परा से होती आ रही है, जिसका स्वरूप इस 'चिन्तामणि' ग्रन्थ के रूप में आज देखने को मिल रहा है।

महाराज श्री के द्वारा संग्रहीत 'शास्त्र सिद्धान्त' दैनन्दिनी का स्वरूप तो पूर्व ही ले चुका था, लेकिन उसका सर्वजन हिताय पुस्ताकार के रूपमें लोकार्पण हेतु उन्होंने जिसको निमित्त बनाया ऐसे सौभाग्याशाली, सदगुरु चरणानुरागी, ब्राह्मणसेवी आदरणीय 'श्रीपवनकुमारजी' है। मैं उन्हें अत्यन्त साधुवाद देता हूँ। उन्होंने इस प्रकार का अत्यन्त पावन कार्य कर अपने गुरुभक्ति का परिचय दिया, साथ ही लोककल्याण में भी अपने आप को भागी बनाया। साथ ही रेन्बों प्रेस के श्री पण्ड्या जी को तथा उनके सहायक श्री अंजय श्रीवास्तव को भी धन्यवाद देता हूँ। अन्त में मेरे सर्वस्व भगवान् विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा सहित काशी के समस्त देवताओं के चरणों अनन्त श्रद्धा सुमन अर्पित कर सादर प्रणति निवेदन करता हूँ।

गुरुचरणानामनुचरः

अनन्तः

४

श्रीलक्ष्येश्वराष्टकम्

यद् भासया जगद्भाति भासायस्य तदात्मिका।
तं वन्दे परमानन्दं श्रीलक्ष्येश्वरसंज्ञकम्॥१॥

कारणं सर्वभावानां भावाभावविवर्जितम्।
नमोऽस्तु बोधरूपाय श्रीलक्ष्येश्वरदण्डिने॥२॥

शान्तं शिवं सदानित्यं मायाग्रन्थिविभेदकम्।
नौमि नित्यं चिदानन्दं श्रीलक्ष्येश्वरसंज्ञकम्॥३॥

भूमानन्दकरन्देवं शोकमोहविनाशकम्।
नौमि-नौमि मुहुर्नौमि श्रीलक्ष्येश्वरसंज्ञकम्॥४॥

''ईश्वरोगुरुरात्मेति'' यैषाऽस्ति श्रुतिघोषणा।
आत्मत्त्वेन स्थितन्तत्त्वं नौमिलक्ष्यार्थसंज्ञकम्॥५॥

''तद्विज्ञानार्थमित्येतत्'' वक्तिश्रुतिस्फुटंयथा।
यामि तं शरणं सोऽहं श्रीलक्ष्येश्वरसंज्ञकम्॥६॥

साधकानां हितार्थाय बिभर्तिसगुणात्मकम्।
नमोऽस्तु द्वैतहीनाथ लक्ष्येश्वर दण्डिने॥७॥

'तत्वमसीति' वाक्येन बोधयति य आश्रितान्।
एतादृशं गुरुंवन्दे वन्दे-वन्दे निरन्तरम्॥८॥

'लक्ष्येश्वराष्टकं' पूर्णं स्वान्तः सुखायनिर्गतम्।
तदीयपादपद्मेषु नत्वासमर्पयाम्यहम्॥९॥

गुरुचरणानामनुचरः
अनन्तः

तुम्हारी स्नेहवीणा का अछूता तार मैं भी हूँ

सत्पुरुषों विद्वानों, मनीषियों द्वारा अभिवन्दित चरणों वाले, सौभाग्य एवं अभिष्ट फल के प्रदाता, समस्त शास्त्रों-पुराणों के अद्वितीय विद्वान सुगन्धित व सुन्दरता से संयुक्त मुखार विन्द वाले, सत्यार्थ का ज्ञान कराने वाले, अखण्ड शान्ति के भण्डार, परम सिद्ध साधक, सर्वकाल स्मरणीय परम पूज्य सद्‌गुरु के श्री चरणारविन्द में हमारा सपरिवार कोटिश: नमन्।

अपने आचरण में जो महान है, जिन्हें देखकर दुनिया अपना आचरण सुधारे, जिनके सामने प्राणियों का हित सर्वोपरि है। जिनके पास बैठकर शान्ति व शीतलता प्राप्त होती हो, जिनकी एक-एक स्वास संसार का भला करने के लिए प्रकट होती हो, जो हमेशा एक ही बात सोचते हों, मेरे द्वारा संसार का हित कैसे हो,

नाहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।

कामये दुःख तप्तानां प्राणिनां आर्तिनाशनम्।।

महापुरुषों का कथन है, जब परमात्मा आपके अन्दर प्रवेश करता है, तब आपके अन्दर ऊँचाई आती है। भगवान अपनी भक्ति का फल मुझे देना नहीं चाहता तुमसे राज्य, नहीं चाहता स्वर्ग नहीं चाहता मोक्ष वश एक ही ताकत दे रोते हुए, बिलखते हुए पीड़ित इन्सान जहाँ भी हैं उनके चेहरे पर मुस्कराहट ला सकूँ ऐसी शक्ति मुझे दो भगवत्ता की यही उच्चता है। जो महाराजश्री को स्वत: प्राप्त थी।

महाराज श्री का परम शान्तिदायक सानिध्य लगभग २० वर्षों से रहा किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय उन्हें पहचानने व समझने की शक्ति नहीं थी, अज्ञान का आवरण भरा था, जब समझने की शक्ति आने लगी बहुत देर हो चुकी थी तथापि उनकी अमोध कृपा से बुझा हुआ दीपक, जलते हुए दीपक के संसर्ग में टिमटिमाने लगा, इतनी कृपा भी मैं समझता हूँ कम नहीं होती, जो हमें महाराजश्री से प्राप्त हुआ वह "अव्यय" है, अनमोल है, "सर्व धनं प्रधानम्" है। मैं जिस दिन महाराजश्री से नहीं मिलता था, सबसे पूछते थे, आज आये या नहीं, जब मैं पास में जाता था, कोई पुस्तक देते थे, कहते थे सुनाओ, मैं सुनाता था, बड़े प्रसन्न होते थे, जिससे मेरी वाणी पवित्र हुई यह उनकी बहुत बड़ी कृपा हमारे ऊपर है।

महाराजश्री की इच्छा थी मेरी लिखी "डायरियों" का प्रकाशन कैसे हो, यदा-कदा चर्चा मेरे से भी करते थे। श्री पवन कुमार अग्रवाल जी (मु०नगर) महाराजश्री के अनन्य भक्त हैं। जब भी

मु०नगर से आते पहले ही टेलीफोन कर लेते मैं भीक्षा लेकर आ रहा हूँ महाराजश्री अन्यों की भिक्षा रूकवा देते उनसे अनन्य प्रेम करते थे। क्योंकि वे भी ब्रह्मज्ञान के अभिलाषी रहते हैं। भगवद् कृपा, गुरुकृपा, शास्त्र कृपा, पितरों की कृपा का परिणाम हुआ यह दिव्य कार्य पवन जी को प्राप्त हुआ। मैं तो समझता हूँ। जिनका धन व समय ऐसे पुनीत कार्यों में लगता है। वे सबसे बड़े सौभाग्यशाली व भाग्यशाली हैं।

महाराजश्री की इच्छा से पवन जी निमित्त बने और सप्तम भाग का सफल प्रकाशन हो रहा है। पवन जी धन्यवाद के पात्र हैं। और निश्चय ही भक्तों को महाराजश्री की कृपा, आशीर्वाद के रूप में एक आलोक–"प्रकाश" उजाला सभी भक्तों को प्राप्त होगा।

मेरे नाथ ! आप अपनी कृपा सदा सब पर बनायें रखें।

शत्-शत् नमन् तुम्हें प्रभो ! शत्-शत् नमन् तुम्हें।

ॐ नमो नारायण

आपका अपना–

आनन्द पाण्डेय

भूमा निकेतन

हरिद्वार

श्री सतूगुरु लक्ष्येश्वराम नमः

सतूगुरु जी के शत् शत् नमन् करते हुए कुछ लिखने का प्रयास उनकी कृपा प्रसाद से ही कर रहा हूँ। स्वामी ज़ी की महान् अनुकम्पा ही है मुझे जैसे अछूतों को भी उनके चरणों में बैठने का अवसर मिला यह तो अनुभव उनके चरणों में बैठने वालों को ही है कि स्वामी जी जैसा पात्र देखते उसमें वैसा ही प्रसाद दे देते थे। ज्ञानियों को ज्ञान मार्ग भक्ति मार्ग भक्ति भावना वालो को और संसारियों को संसारिक पदार्थ भी प्रदान करते। महाराज जी के पास हरिनाम के हीरे मोतियों का अपार भंडार था उसमें जिसने जैसे रत्न मोती मन में संजोये वैसे ही उसको प्राप्त हुए, संसारिक कार्य कलापों से महाराजजी का कोई लेना-देना नहीं था, शास्त्र विषय में जिसने जो प्रश्न किया उसका उत्तर रूप में ऐसा देते कि पूछने वाला सहज ही समझ लेता था। महाराज जी जहाँ कुरातसी, लुहसाना, सहनपुर, उमरपुर, शाहुपुर बुढ़ाना जहाँ-जहाँ भी जाते रात्री में सतसंग कीर्तन होता था वहाँ पर महाराजजी प्रवचनों में सभी को पात्र अनुसार प्रसाद प्रदान करते थे। स्वामीजी एक बार शाहपुर आये तो उन दिनों काशी में पूआस्वामी भूमानन्द जी अस्वस्थ थे तो महाराजजी उन दिनों काशी में यही से शाहपुर उनसे मिलने काशी गये तो मुझ पर स्वामी जी हवा हुई कि भक्त तुम भी काशी के दर्शन कर आओ उन दिनों कार्तिक मास का महिना था वहाँ से फिर महाराज जी को लेकर शाहपुर आये तो मार्ग में महाराज की जलपान की थी मुझ से कोई व्यवस्था न हो पाई वही प्रात: का स्नान करा सका शाहपुर दिन में १२ एक बजे आकर महाराजजी शिक्षा ली मुझे इसका मन में बहुत ही खेद है लेकिन महाराजजी ने मुझे कभी कुछ भी नहीं कहा, से सन्त इस कलियुग कहाँ, महाराजजी कहा करते थे कि हम जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ पर हमें भक्त ऐसा ही मिलता है उमरपुर में बीरा कुरालसी में लटना श्री सिंह नाम लेकर बताते थे। भाई पवन जी को तो महाराज श्री की अपार कृपा कि साधारण पढ़ाई होने पर भी आप संस्कृत के श्लोक पढ़ लेते है व उनका अर्थ भी समझते हैं और जो हम भक्तों पर महाराज की अपार कृपा का ही फल है कि भाई पवन जी ने महाराज जी की अमूल्य धरोहर जो डारियाँ महाराज जी का हस्तलिखित सभी शास्त्रों का मर्म स्वामी जी ने निचोड़ा वह चिन्तामयी नाम से सात खण्डों में प्रकाशित कराया अपना तन मन धन लगाकर असम्भव कार्य को स्वामीश्री कृपा से सम्भव कर दिखाया, महाराज जी के शब्दों द्वारा मैंने भी सुना कि इस चिन्तामणी पुस्तक के प्रकाशन से इतनी प्रसन्नता हुई कि जैसा किसी का मृतक पुत्र जीवित हो बैठा हो भाई जी पवन जी ने खण्ड नि:शुल्क महाराज के पास ५०० पुस्तक प्रत्येक खण्ड की लेती पात्रानुसार महाराज जी ने अपने कर कमलों से पुस्तक प्रदान की अब छठा भाग भी भाई जी सभी भक्तों को तथा जहाँ भी महाराज जी के अनुयायी है सभी को भेज रहे है। हम सभी भक्तों को महाराज जी के दर्शन चिन्तामणी ग्रन्थ द्वारा यथार्थ होते रहेंगे यह महाराजजी का श्री विग्रह है। हम इस पुत्र कार्य के

लिए भाई पवन जी के हृदय से आभारी हैं सम्मत २०६८ रमा एकादशी २१ अक्टुबर २०११ में महाराज जी का जन्मदिन शिव मन्दिर शाहपुर श्री लक्ष्येश्वर गोशाला गो लोक धाम में बहुत ही भव्य ढंग से स्वामी जी कृपा से मनाया गया। जब मु.नगर कुरातसी, उमरपुर स्वामी जी का जन्मदिन मनाया गया तो मेरे मन में भी भाव था कि शाहपुर में भी स्वामी जी का जन्मदिन मनाया जाये महाराज जी की ऐसी कृपा हुई कि स्वामी जी ने मनका भाव परखकर बहुत ही सुन्दर ढंग से यह कार्य सम्पन्न कराया इससे अधिक औश्र क्र्ा हो सकता है प्रकट कर दिखाया कि भक्त की भावना को भगवान समझते हैं जानते हैं मुझे तो स्वामी जी के चरणों से यह भजन याद आता है।

हम आये शरण तुम्हारी प्रभु, ठुकरा नहीं कहीं हमको देना।
गुरुदेव दया के सागर हो, अपराध छमा सब कर देना।।

१. है पास न मेरे बल बुद्धि तय त्याग नहीं मन की शुद्धि चरणों का सहारा है लेना– **अपराध छमा सब।**

२. हम भटक रहे है इधर उधर कुछ पता नहीं हम जायें किधर चरणों का सहारा है लेना– **अपराध क्षमा सब।**

३. हम लगे डूबनें जहाँ कहीं चाहे दरिया हो या सागर ही प्रभु आकर हमें बना लेना– **अपराध छमा सब कर देना।**

पू.आ. स्वामीजी हमारे पास थे पास हैं और पास रहेंगें ऐसे विश्वास के साथ।

स्वामीजी के चरणों में
इन्द्रराज सिंह

संस्मरण

वीत राम, तपोनि पठ ब्रह्म ऋषि स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज, अद्वितीय विद्वान, समस्त वेदों एवं पुराणों के ज्ञाता थे, इतने बड़े विद्ववान, स्वयं वेदान्त स्वरूप होते हुए भी जिनके मन में कभी यह इच्छा भी प्रकट नहीं हुई कि मेरी ख्याति इस संसार को फैलें, आजीवन ज्ञान की उच्च भूमिकाओं में विचरण करते रहे। और साक्षात् परमब्रह्म की स्वरूपता प्राप्त कर ली मनुष्यों के कल्याण के लिए ही महाराज श्री का जन्म हुआ। इसमें कोई संशय नहीं है। भगत ठा० लहना सिंह कुरालसी एवं भगत पूरण चन्द लुहसाना, महाराज श्री को प्रथम बार कुरालसी ग्राम में लेकर आये थे। तभी से ग्राम कुरालसी पर स्वामी जी की कृपा एवं आशीर्वाद बरसता रहा, उनकी कृपा से, कई बड़े यज्ञ, महायज्ञ, ग्राम कुरालसी में महाराज श्री की संरक्षता में सम्पन्न हुए माँ जगदम्बा भवानी की अखण्ड ज्योति पिछले ५३ वर्षों से निरन्तर प्रज्ज्वलित है। यह उनकी कृपा एवं प्रेम रूपी आशीर्वाद का फल है।

ग्राम के सभी निवासी महाराज श्री को अपना गुरु मानते थे। जिन परिवारों ने महाराजश्री का सच्चा, संग एवं अनुसरण किया है। उन परिवारों का कल्याण हो गया। यह बात साक्षात देखने को मिली है।

मेरे बड़े पुत्र का आक्समिक निधन हो गया था, मैं और मेरी पत्नी, एक दिन स्वामीजी के पास हरिद्वार भूमा निकेतन आश्रम में उसके पास बैठे थे, जब हमारे दुःख का स्वामी जी को पता चला तो उन्होंने जिस तरह से हमें समझाया, तो हमें बड़ी शक्ति एवं सकुन मिला, भगवान की लीलाओं का वर्णन सुनाकर, हमें, शान्ति एव धैर्य दिलाया, तथा इस संसार की वास्तविकता से हमें अवगत कराया उन्होंने बताया कि संसार के सभी रिस्ते, एक अमानत रूप में है। जिसे तुम अपना समझाते हो वह एक अमानत हैं। संसार में तुम्हारा कोई नहीं हैं। यह संसार माया, मोह का प्रपंच हैं। जिसका साथ जितने समय भी इस संसार में रिस्तों के रूप में रहता है। वह परमात्मा के द्वारा उसके प्रारब्ध में तय कर दिया गया है।

महाराज श्री का आशीर्वाद मेरे लिए प्रेरणा दायक रहा; आत्म शन्ति मिली। सच्चे महात्मा की कृपा का फल बहुत ही ऊँचा और अविनाशी, नित्य, सत्य वस्तु की प्राप्ती होता है। अनित्य और विनाशी वस्तुओं की ओर सन्तों का लक्ष्य ही नहीं जाता। ऐसा ही लक्ष्य था महाराजश्री। लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज का। बुरे आचरणों और मानसिक दुष्ट भावनाओं का विचार महाराजश्री के सतसंग प्रवचन व संग से, नष्ट हो जाते थे। उनका जन्म मनुष्यों के कल्याण के लिए हुआ था। सच बात तो यह है।

कि उनके दर्शन, चिन्तन गुण कीर्तन नाम या गुण श्रवण से ही अन्त:करण पवित्र हो जाता था। उनकी चरणधूलि के स्पर्श से ही चित्त का मल नष्ट हो जाता था। ऐसा मैंने स्वयं प्रतीत किया।

आज उनका पाँच भौतिक शरीर संसार में नहीं है। असली मूल्य अब उनके आचरण को अपने जीवन में उतारने से हैं।

बुद्ध शरणं गच्छामि, धर्म शरणं गच्छामि।

गुरुदेव
आपकों शत शत नमन
मा० विजयपाल सिंह
ग्राम कुरालसी
(मु०नगर)

अस्मद गुरवः अखिल-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परात्पर परब्रह्म सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन ब्रह्म ऋषि स्वामी श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज की जय हो

स्वामीजी की जन्मभूमि का नाम—गाँव मोहन्दीपुर।

स्वामी जी की तहसील का नाम—सन्ड़ीला।

स्वामी जी के जनपद का नाम—हरदोई।

स्वामी के जन्म का संवत—१९७३।

स्वामी जी के जन्म का महीना—कार्तिक।

स्वामी के जन्म का पक्ष—कृष्ण पक्ष।

स्वामी जी के जन्म की तिथि—कृष्ण एकादशी।

स्वामी जी की माताजी का नाम—सूर्यरूपी इन्द्रयाणी।

स्वामी जी के पिता श्री का नाम—श्रीनन्हाजी कान्यकुब्जीय विप्रवर जी।

स्वामी जी के शैशव काल का नाम—लाल बिहारी।

स्वामी जी के बाबा जी का नाम—अग्निहोत्र कान्यकुब्जीय विप्रवर श्री भोलानाथ जी।

स्वामी के गुरुजी का नाम—पूज्य स्वामी श्री शान्तबोधाश्रम जी महाराज।

स्वामी के गुरुजी के गुरु जी का नाम—ब्रह्मलीन परात्पर सद्गुरु ब्रह्म श्री आनन्द आश्रम जी महाराज।

स्वामी जी के संन्यास आश्रम की दीक्षा की अवस्था—२७ वें वर्ष में हुई।

स्वामी जी के संन्यास आश्रम का नाम—श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज।

स्वामी जी का पहली बार श्री भूमानन्द स्वामी जी से मिलन—अर्द्ध कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में।

आज जिस भारत भूमि में हम महापुरुषों का सतसंग प्राप्त करते आ रहे है। उनमें हमारे सदगुरुदेव स्वामी श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज ही हमारे अग्रगण्य अद्वितीय ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि हमारे गुरुजी के रूप में हमें प्राप्त हुये है।

'चिन्तामणि' ऐसा सदग्रन्थ है जो वास्तव में चिज्जड़ ग्रन्थि को खोल सकता है। जो नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य तत्व स्वरूप ही है।

मेरे सद्गुरु देव जी ने अपनी ऐसी महान कृपा करके यह ग्रन्थ लिख दिया जो भूतो न भविष्यति परम पूज्य गुरु जी ने जो सनातन धर्म के सिद्धान्त का जो नक्सा खींचा है। उस चित्र से वास्तव में बहुत छोटी बुद्धि का व्यक्ति भी सुगमता से अपने **भक्ति, योग, ज्ञान** के मार्गों को पकड़ कर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है इस **'मणिप्रभा'** ग्रन्थ में जितना योगदान जिला–मुजफ्फर नगर के श्री पवन कुमार सिंघल जी ने दिया है वह भी हम भक्तों को देखने को नहीं मिला पूज्य श्री गुरुदेवजी की पूर्ण कृपा के पात्र और जनपद मुजफ्फर नगर में अग्रगण्य भक्तों में श्रेष्ठ शेर दिल पवन कुमार जी का पूरा क्षेत्र आजीवन ऋषि रहेगा जो इस महान ग्रन्थ **'चिन्तामणि'** को पूरे तन मन धन के साथ अपनी मेहनत व लग्न के साथ देश के हर कोने में इस ग्रन्थ को पहुँचाया इस तरह के महान् व्यक्ति बहुत कम मिलते है जो अपने पूरे परिवार सहित इस चिन्तामणि ग्रन्थ के **छः भाग** आज तक हम सब भक्तों को प्राप्त हो रहे है वास्तव में यही धन का सद्उपयोग है।

जब यह ग्रन्थ चिन्तामणि का प्रथम भाग छपकर आया तो पूज्य श्री गुरुदेव जी की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ फिर गुरु जी ने मुझसे पढ़वाकर देखा और साथ के साथ ही मुझे श्री गुरुजी ने **''श्री सूर्याथर्वशीर्षम्''** पाठ पढ़ाया और मेरे कण्ठस्थ याद करा दिया उसके बाद स्वामी जी ने मुझे **बलाति बला विद्या,** व उसके बाद **कल्मावसाम** वेद का पाठ पढ़ाया और कण्ठस्थ याद करा दिया पूज्य गुरुजी ने उसी समय मुझे बताया की ओर कुछ पढ़ना या ना पढ़ना परन्तु इस **'चिन्तामणि'** ग्रन्थ को अवश्य पढ़ते रहना इसमें वेद पुराण शास्त्र उपनिषद आदि सारे ग्रन्थ भरे है।

स्वामी जी ने दूसरे भाग में पहले ही जो शक्ति बीज मन्त्र **ऐं! ह्रीं! क्लीं!** लिखा है और जो नीचे सम्पूट दिया है। उसका स्वामी जी ने मुझे बहुत ही सरल अर्थ करके पढ़ाया है जो मैं नीचे लिख रहा हूँ।

अर्थ–हे सम्पूर्ण अज्ञान का नाश करने वाली चिद रूपा महासरस्वती जी हे सर्व बन्धन से नित्यमुक्त सदरूपा महालक्ष्मी जी हे पर से परे आनन्दरूपा महाकाली जी हम आपका अपने हृदय में नित्य अनुसंधान करते है।

पूज्य स्वामी जी ने मुझे बताया की इस बीज मन्त्र का कोई कोई बिरले ही सही अर्थ निकाल पाते है मुझे गुरु जी की कृपा प्राप्त हुई और सौ बार मुझे इस मन्त्र को कण्ठस्थ पाद करा दिया। उसके बाद गायत्री मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता सहित जप की विधि बतायी व फिर श्री गुरु जी ने मुझे **''सांख्य शास्त्र''** पढ़ाया हमारा परम सौभाग्य है कि हमें ऐसे महान सद्गुरु स्वामी श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी के रूप में प्राप्त हुये है।

'चिन्तामणि' के दो भागों की टीका जो श्री **व्यम्बकेश्वरश्चैतन्यः** जी ने की है। उससे यही सिद्ध होता है कि **'सन्त हृदय नवनीत समाना'** अब तीन, चार, पाँच और छः भाग जो **पं. भद्रनारायण पाठक** जी ने सरल हिन्दी शब्दों का प्रयोग करके और श्री पवनकुमार जी की प्रार्थना को स्वीकार करके इस महान् ग्रन्थ में अपना अमूल्य समय देकर पूरे संसार को ऋणी कर दिया मैं तो इतना ही कहुँगा।

बंदऊ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संशय सब हरना।।

हमारा परम सौभाग्य है हमें पूज्य गुरुजी ने हमें कंचन कामिनी व क्रोध से बचाने के सरलतम उपाय चिन्तामणि ग्रन्थ को माध्यम बनाकर हमें बहुत अच्छी प्रकार से समझाया और कुकर्मों से हमारी रक्षा में तत्पर रहते हैं जैसे–**जिमि बालक राखहीं महतारी** ये हमारे ऊपर भगवत्कृपा ही है कि हमे कंचन कामिनी की कामना को हटाकर ज्ञान रूपी चाबी प्रसन्न होकर दे रहे है हमारे सदगुरु देव स्वामी श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज जो बिना भगवान की कृपा के नहीं मिलते तो सौभाग्य है हमारा जो ऐसे गुरु हमें प्राप्त हुये है।

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन, मूर्खोवा यदि पण्डितः।
यस्तु संबुद्धत्यते तत्वं विरक्तो भवसागरात्।। (अवधूतगीता)

गुरु वन्दना–

वराभय करं नित्यं श्वेत पद्म निवासिनम्।
महामय निहन्तारं श्री गुरु प्रणामाम्यहम्।।
ब्रह्मरन्ध्रे महापद्मे तेजोविम्बे निराकुले।
योगिमिध्यानगम्ये च, चक्रेसुक्ले विराजिते।।
महाशुक्लभासुरकि कोटि कोटि महौजसम्।
वे दोद्दाररं करं नित्यं परं हंसं परात्परम।। (रुद्राया)

इस पावन भूमि में जिस प्रकार श्री ब्रह्माजी ने मानस पुत्रों को जन्म दिया है श्री पूज्य गुरु ने भी अपने कई भक्तों को मानस पुत्रों का दर्जा दिया। जैसे डॉ० गोपाल बोहरा जी, श्री पवन कुमारजी, केशवपुरी, मु०नगर आदि। वैसे तो स्वामी जी की सभी भक्तों पर महान कृपा हैं और सभी भक्त अनुभव भी करते है।

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी।

जब इस **चिन्तामणि** का प्रथम भाग छपकर आया तो श्री पवन कुमार जी ने स्वामीजी से एक प्रश्न किया कि महाराज जी आपकी पहली डायरी छपकर आ गई है तो महाराज जी ने कहा दिखाओ श्री पवन कुमार जी ने कहाँ कि कैसा लगा तो स्वामी जी ने उत्तर दिया कि हमे ऐसा लग रहा है कि

जैसे किसी का पुत्र मर गया हो और फिर वह कुछ समय बाद जीवित हो गया हो यह हमारी विद्या मरी पड़ी थी सो जीवित हो गई पवन जी ने प्रथम भाग का विमोचन अपने घर केशवपुरी मु०नगर में ही करवाया और श्री गुरुजी को व अन्य भारत भूमि के शंकराचार्य, सन्तों महन्तों को बुलाकर विधि विधान से इस महान ग्रन्थ **''चिन्तामणि''** का विमोचन व भागवत सप्ताह पूरे परिवार ने तन मन धन से करवाया और आज तक समस्त भागों की टीका करवाने व छपवाने में अपना पूरा योगदान दे रहे है मैं श्री गुरुदेव जी से प्रार्थना करता हूँ हे गुरुदेवजी पूरे सिंघल परिवार को मोक्ष प्रदान करे और भक्ति बढ़ावे।

इस ग्रन्थ में जिन-जिन सन्तों ब्रह्मचारियों पंड़ितों संन्यासियों ने भक्तों ने अपना अमूल्य समय देकर **''चिन्तामणि''** को प्रकाशित करने में सहयोग किया है मैं उन सभी विद्वानों महापुरुषों को कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ।

अब में **भूमा पीठाधीश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री अच्युतानन्द तीर्थ जी महाराज जी** को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने पूज्य श्री गुरुजी के प्रतिक्षण सेवा की और समय समय पर उपचार करवाया और न अन्तिम बेला के समय सभी भक्तों को सूचना दे देकर हरिद्वार बुलवाया और श्री गुरुजी के दर्शन करवाते रहे और साथ-साथा गरुड़ पुराण गीता पाठ ब्रह्मसूत्र कीर्तन आदि का आयोजन चलता रहा है।

जब श्री गुरुजी पंच तत्वों में विलीन हो गये तब आपने भारत भूमि के कोने-कोने से महान पंडितों को बुलवाकर शास्त्रोक्त विधि विधान से समस्त संस्कार सम्पन्न कराये और स्वामी जी की पड़ोसी भी धूमधाम से तन मन धन से हरिद्वार तीर्थ में सम्पन्न करायी धन्य है ऐसे महापुरुष जो अपने भक्तों को बुला बुलाकर हर एक आयोजन जैसे जन्म दिवस, निर्वाण दिवस भागवत रामायण आदि सप्ताह का आयोजन पं. आनन्द पाण्डेय जी (साहित्याचार्य) हरिद्वार पं. राजेन्द्रजी मैनेजरजी व आश्रम के सभी कर्मचारियों व देश के कोने कोने के भक्तों से सलाह मिलाकर करते आ रहे है मैं मूर्ख अज्ञानी आपको हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ मूर्ख की गलतियों को क्षमा करना। अब में कुरालसी, उमरपुर बुढाना, लुहसाना हुसैनपुर, मौहम्मदपुर रायसिंह कपूरगढ़ कुटी शाहपुर सिरसा मुज़फ़्फ़र नगर आदि के सभी भक्तों को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज जी को अपना गुरु बनाया और अपनी बुद्धि का परिचय दिया श्री गुरुदेवजी की कृपा से मुझे **ॐ रां रामाय नमः** मन्त्र प्राप्त हुआ मैंने पूर्ण श्रद्धा प्रेम और विश्वास के साथ अपनाकर जपना आरम्भ कर दिया जो मेरे ह्रदय में एक वट वृक्ष कि तरह फैलने लगा यही गुरुदेव जी की महान कृपा फल आज तक प्राप्त होता आ रहा है जय गुरुदेव जय गुरुदेव जय गुरुदेव।

हे मेरे स्वामी श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्ति मास्त्वं चरणां विन्दं अकिंचनोऽय गति शरणं त्वत्पाद मूलं शरणं प्रपद्ये ।।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलंगुरुोः पदम् ।
मन्त्र मूलं गुरुो र्वाक्यं, मोक्ष मूलं गुरोः कृपा ।।

जो भक्त इस महागुरु का ध्यान करता है भजन करता है उसके जीवन में कभी विघ्न बाधा नहीं आती और उस भक्त को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, प्राप्त होता है मेरा नाम राजेश है इसमें तीन अक्षर है और राक्षस में भी तीन अक्षर है मेरी राक्षसी वृत्ति है। फिर भी गुरु जी ने मुझ जैसे राक्षस पर अपनी महान कृपा कर दी सौभाग्य है हमारा कि ऐसे गुरुजी हमें प्राप्त हुये श्री पूज्य गुरु जी मुझसे इस भजन को सुनते थे जो मैं नीचे लिख रहा हूँ।

भजनः—

टेकः— आनन्द स्रोत वह रहा तू क्यूँ उदास है।
अचरज है जल में रहकर मछली को प्यास है
आनन्द स्रोत........

कली १— फूलो मे जो सुगन्ध है
गन्ने में जो मिठास है।
उसी तरह भगवान का
कण कण में वास है।
आनन्द स्रोत...........

कली २— टूक ज्ञान चक्षु खोलकर
तू देख तो सही,
जिसे फिरे तू ढूढ़ता सदा तेरे पास है।
आनन्द स्रोत.........

कली ३— कुछ तो समय निकाला कर आत्म शुद्धि के लिये
मानव जीवन का उद्देश्य केवल विलास है।
आनन्द स्रोत बह रहा तू क्यूँ उदास है.............

पूज्य स्वामी जी ने धर्म के मुख्य चार पैर बताये हैं।

१. सत्य, २. दया, ३. अहिंसा, ४. पवित्रता

इन चारों पादों में से यदि मनुष्य एक पाद का भी अनुकरण करता है उसकी ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा भक्ति उमड़ जाति है ऐसा मुझे स्वामी जी ने बताया और इन चारों पादों को कण्ठस्थ पाद कराया।

श्री गुरुदेव जी के बारे में लिखना तो एक धृष्टता मूझ अज्ञानी की है। स्वामी जी तो, स्वयं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, रुद्र ईश्वर सूर्य चन्द्र गणेश दुर्गा शिव, ग्रह, नक्षत्र पर्वत समुद्र नदी गंगा यमुना पंचमहाभूत अणु परमाणु अजर अमर अविनाशी आदि है। इनको साधारण महात्मा समझना एक बहुत बड़ी भूल होगी। इनको साधारण महात्मा समझना एक बहुत बड़ी भूल होगी इनको सवेरे शाय उठते बैठते सोते जागते खाते पीते हर समय याद रखो उद्धार होगा कल्याण होगा।

मुझे श्री पवन कुमार जी ने काशी जी से फोन किया कि श्री गुरुदेव जी के बारे में अपना व क्षेत्र के भक्तों से संस्मरण लेना में तुरन्त जगा और भक्तों को मौखिक रूप से सूचना दी मुझे लिखना, पढ़ना, तो नहीं आता जो लिखा है यह पूज्य श्री गुरुजी की कृपा से ही लिखा गया है कोई भी भक्तजन ब्रह्मचारी जी, सन्त महात्मा जी मेरी त्रुटियों पर ध्यान न देना और अपना आशीर्वाद देने की कृपा करना।

अब में परम वीतराग तपोनिष्ठ ब्रह्मलीन स्वामी श्री लक्ष्येश्वर आश्रम महाराज जी को साष्टांग प्रणाम नमस्कार करता हूँ।

जय गुरुदेव जय गुरुदेव जय गुरुदेव

गुरु की असीम कृपा का पात्र
पंड़ित राजेश शर्मा
गाँव व पोस्ट : उमरपुर
जिला : मुजफ़्फ़रनगर
मोबाइल नं. : ९४११४४९७००

श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज के जीवन परिचय की एक झलक

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, स्वेष्टदेवस्वरूपिणे।
यस्य वाक् सकलं हन्ति, विषं संसारसंज्ञकम्।।

आनादि काल से (पुण्यातिपुण्यमयी सकल ब्रह्माण्ड की सम्पोषिका यह भारत भूमि अपनी तप:पूत सन्तसन्तति के अजस्रधारा से प्लावित करती हुई सम्पूर्ण विश्व में अपनी गरिमा-महिमा को अक्षुण्ण रखने में समर्थ रही है। अपने सच्चारित्र्य आलोक से जगत् भर के अज्ञान तिमिर ध्वान्त को ध्वस्त करने वाले महापुरुषों में अन्यतम हैं पूज्य श्री स्वामी लक्ष्येश्वराश्रमजी महाराज।

पूज्यश्री का प्रार्दुभाव जनपद हरदोई के मोहंदीपुर नामक गाँव में सम्वत् १९७३ कार्तिक कृष्ण एकादशी को अग्निहोत्र कर्म में निरत कान्यकुब्जीय विप्रप्रवर श्री भोलानाथ जी के पुत्र श्री नन्हा जी के घर में पूर्व दिशारूपी इन्द्रायणी की पावनतम कोख से हुआ। इन बालदिवाकर का शैशव नाम हुआ करता था लालबिहारी। इन भावी महामनीषी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही प्राइमरी पाठशाला में कक्षा तीन तक हुई और आगे की शिक्षा के लिए गाँव में ही व्यक्तिगत तौर पर आपने कक्षा पाँच पास किया। लेकिन इसी बीच जब आप की अवस्था छ: वर्ष की थी पिताश्री का शरीर शान्त हो गया। तदुपरान्त माँ आपको लेकर लखनऊ चली आई। वही पर कुछ साधुओं का संग हो गया और साधु भावना से प्रभावित होकर आपका साधु बनने का निश्चय हो गया। उसके बाद लखनऊ में ही योगेश्वर मठ में जाने लगे। महन्त जी ने संस्कृत पढ़ने की व्यवस्था कर दी। वहीं से अपने प्रथमा परीक्षा पास किया।

फिर माँ को डर सताने लगा कहीं साधु न बन जाये वापस गाँव ले आयी। घर कच्चा था, आधा गिर गया था, उसी में गुजर बसर होने लगी। पुन: इन्हें ननीहाल में सीतापुर पढ़ने के लिये भेजा गया। वहाँ आजीवका के लिये आर्युवेद का अध्ययन करने लगे। पढ़ ही रहे थे कि पण्डित मधुसूदन दीक्षित ने अपनी रसायन शाला में रख लिया। वहाँ कार्य चल ही रहा था कि माँ का शरीर शान्त हो गया। तब गाँव में आकर अपने मामा जी के साथ माँ का शास्त्रोक्त विधि से अन्त्यष्टि संस्कार आपने सम्पन्न किया। तदुपरान्त माँ के पास जो तीन गायें थी उनको लेकर मामा जी के साथ उनके गाँव आ गये और वहाँ पढ़ने लगे। वहाँ से फिर गाँव के कुछ बचपन के मित्र गाँव ले आये। वहाँ भी वही आयुर्वेद का काम करने लगे और गाँव में मित्र मण्डली के संग आनन्द से रहने लगे। वही से अपने कुछ मित्रों के साथ में धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज के यज्ञ के दर्शनार्थ कानपुर गये। वहीं रास्ते में योगेश्वरमठवाले गुरु जी के पास लखनऊ रूके। वहाँ गुरु जी ने प्रश्न किया कि—तुम्हारा पहले वाला निश्चय साधु होने का है या गृहस्थी में रहने का है ? महाराज श्री ने कहा—मेरा मन साधु होने का है, तब योगेश्वर मठ वाले गुरु जी ने कहा तब घर में रहना ठीक नहीं यहाँ आ जाओं। जब गुरुदेव लखनऊ

आश्रम पर आ गये और ब्रह्मचारी के वेष में रहने लगे और सम्वत् २००१ माघसुदी पंचमी (वसंत पंचमी) को आपका संन्यास ग्रहण संस्कार हो गया। संस्कार होने से पहले आप पण्डित लाल जी को बुला कर लाये और उन्होंने परामर्श में कहा—संन्यास लेते हो तो महन्त नहीं बनना। यही गाँठ जीवन में लग गयी और आज तक उसी प्रण को निभा रहे है।

उसके उपरान्त नैमिषारण्य मेले में जब गये तो वहाँ स्वामी श्री शान्तबोध आश्रमजी से भेंट हो गयी। स्वामी जी संस्कृत में ही बोलते थे, महाराज श्री ने स्वामी शान्तबोध जी से साथ में रखने का निवेदन किया और उन्होंने आज्ञा दे दी। स्वामी जी ने उनसे होली के दिन दण्ड ले लिया। फिर उनके साथ हरिद्वार आ गये, जहाँ पर परमगुरु श्री आनन्द आश्रम जी मिले और उन्होंने कहा कि—इनकी आयु कम है इन्हें व्याकरण पढ़ने सिरसा भेज दो। स्वामी जी सिरसा चले आये। वहाँ दो साल में सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन किया। फिर एक साल नौहर में न्याय पढ़ा। उसके बाद ऋषिकेश आ गये और वहाँ पर स्वामी सोमेश्वर आश्रमजी से छान्दोग उपनिषद् पढ़ा। उसके बाद हरिद्वार आ गये। तब तक गुरुजी ने छोटा सा आश्रम बना लिया था। उसमें अपने गुरुदेव के साथ रहने लगे। उनके साथ रहकर स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भागवत, गीता आदि ग्रन्थ श्रवण किया। उसके बाद आपको आपके गुरु जी ने पढ़ने काशी भेज दिया। पढ़ ही रहे थे कि छः वर्ष बाद गुरु जी का शरीर शान्त हो गया। फिर हरिद्वार आ गये एवं तीर्थयात्रा वगैरह किया। भ्रमण काल में भी आपने पैसा नहीं छुआ और कोई भी यात्रा बिना टिकट नहीं किया।

जब भूमा निकेतन बना तब स्वामी भूमानन्द जी के साथ रहने लगे। स्वामी जी को कुरालसी से लूहसाना श्री लहना सिंह जी व पूर्ण भगत जी लेकर आये। कुरालसी में श्री विश्वेश्वर सहाय वैश्य ने कहा—हम छोटा-सा मन्दिर बनाना चाहते हैं और महाराज श्री ने कहा बनाओ। मन्दिर बनना शुरू हो गया गाँव वाले उसके बाद मन्दिर बनाने के लिए स्वांग ले आये जो महाराज श्री को अच्छा नहीं लगा। महाराजश्री वहाँ से घूमने कूटी तक जाया करते थे, वह उजड़ चुकी थी। हुसैनुपर में आपको लाला चमन लालजी व पदमसेन भगत जी लेकर आये। इस प्रकार आप उमरपुर, शाहपुर, बुढ़ाना आदि में भ्रमण करने लगे।

सम्प्रति चिन्तामणि भाग-७ का अनुवाद पं. अनन्त कुमार पाण्डेय, वाराणसी द्वारा सम्पन्न हुआ है। आप व्याकरण एवं अद्वैत वेदान्त के आचार्य हैं और बहुत ही सरल रहनी और करनी हैं। इस टीका का नाम भी पूर्व टीकाओं की भाँति मणिप्रभा ही है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में भी श्री राधेश्याम खेमका (सम्पादक, कल्याण) एवं श्री डॉ. प्रेमप्रकाश जी लक्कड़ (पूर्व चीफकमिश्नर, आयकर) सहसम्पादक (कल्याण) एवं श्रीकृष्णकुमार जी खेमका का विशेष योगदान है एवं बहुत अदृश्य हाथ इसमें लगे है। उन सभी साथ जिनके तपबल से जिनका यह अपना काम हो रहा है, ऐसे महाराज श्री एवं सभी शुभचिन्तकों की तथा महाराज श्री के सभी भक्तों की विशेष कृपा से यह चिन्तामणि ग्रन्थ के मणिप्रभा टीका का प्रकाशन कार्य सम्पन्न हो रहा है। शेष शुभ !

गुरुकृपाधनसम्पन्नः

पवन कुमारः

गुरू के माहात्म्य कथन और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन–

परमपूज्य सद्गुरुदेव ही सर्वस्व

परमेश्वर का साक्षात्कार मात्र श्रीगुरु की कृपा से सम्भव होता है। श्रीगुरुज्ञान से प्रकाशित परमब्रह्म की ही परम्परा यह जगत् है। ऐसे गुरु की महत्कृपा प्राप्त करनी चाहिए। जब तक श्रीगुरु की कृपा से अन्तर्ज्योति नहीं प्रकाशती तब तक अन्दर का दिव्य ज्ञाननेत्र नहीं खुलता और तब तक हमारी जीवदशा नहीं मिटती। जीवदशा के रहते हुए ब्रह्मदशा की दिव्यानुभूति में रमण नहीं हो सकता। जैसे—स्वप्न (निद्रा) में राजा भिखारी बनता है और समझता है कि मैं भिखारी हूँ, वैसे ही अज्ञाननिद्रा में यह आत्मा जीव बनकर उस कंगाल की अवस्था को प्राप्त कर अपने को कर्ता, भोक्ता, अल्प और साधारण समझकर दुःख का अनुभव करता रहता है। अतः विकास के लिए, दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए, परशिवपद को पाने के लिए, हमें मार्ग दर्शक की यानी पूर्ण सत्य के ज्ञाता एवं ज्ञानशक्ति सम्पन्न सद्गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे प्राण के विना जीना सम्भव नहीं होता, उसी तरह गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता और अज्ञानरूप अन्धकार का नाश नहीं होता तथा तीसरे नेत्र का उदय भी नहीं होता। अतः गुरु की जरूरत द्रव्य, कल-कारखानों, कला से अधिक है। गुरु की आवश्यकता आरोग्य और प्राण से भी ज्यादा है। गुरु की महिमा रहस्य तो अति दिव्य और गूढ़ है। वे मानव को नया जन्म देते हैं, ज्ञान की प्रतीति कराते हैं और यह सौभाग्य है कि ऐसे ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में हमें श्रीगुरु प्राप्त हैं।

गुरु की व्याख्या यह है कि जो शिष्य की अन्तःशक्ति को जगाकर उसे आत्मानन्द में रमण कराता है, ज्ञान की मस्ती देता है, जीते जी जो मोक्ष देता है, ऐसे परमगुरु शिव से अभिन्न रूप होते हैं। पूज्यनीय परमगुरु तो जीवन के आदि से लेकर अन्त तक शिष्य के देह में ज्ञान ज्योति को प्रज्ज्वलित करते हुए अनुग्रहरूप से कृपा करते हैं और स्वयं लीलाराम होकर उसी में रहते हैं। गुरु के प्रसाद से नर-नारायण होकर आनन्द में मग्न रहता है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज के रूप में प्राप्त है।

गुरु जी संसार के व्यवहार को भलीभाँति समझते हैं। वे परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण परचित होते हैं। इसलिए वे परमार्थ और व्यवहार में भी पूर्णकुशल होते हैं। ऐसे सद्गुरु के आश्रय में रहकर शिष्य महान् संकट को भी सहज में पचा जाता है। उनकी महिमा अनोखी होने के कारण वे कृपा मात्र से ज्ञान दृष्टि प्रदान कर देते हैं। वे प्रपंच में ही ब्रह्म दिखाते हैं। वे हमेशा अमनस्क स्थिति में रहते है, मानो उनका मन ही चैतन्य हो गया है। तत्त्वतः आप गुरुजी इस जगत में अन्दर और बाहर से पूर्ण व्यापक ब्रह्मरूप ही है। क्योंकि जो महापुरुष सर्वात्मा में लीन रहते हैं, वे सर्वव्यापी होते है। साधारणतया गुरुजनों का परिचय पाना, उन्हें समझना महाकठिन हैं। अतः गुरु सत्य है, गुरु पूर्ण है और वे शिष्यों के हित चिन्तक है। वें शिष्य का धन नहीं, वरन शिष्य का अज्ञान, अविद्या लूट लेते है, चिन्ता और पाप को हर लेते है। गुरु जी की यही महिमा है कि वे कठिन तपस्या के विना ही शिष्य को परमात्मा का दर्शन करा देते है। घर में ही गुफा की शान्ति और एकान्त का अनुभव करा देते हैं और प्रपंच में भी परमार्थ दिखाते है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

श्री गुरु जी एक महान् चमत्कारिक दैवत हैं। साक्षात्कारी गुरु को साधारण समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। गुरु की महानता तब समझ में आती है, जब अपने पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा होती है। गुरु जी अपने शिष्य को एक ऊँचे स्तर पर ले जाकर उन्हें सत्यस्वरूप बोध कराकर के शिव में शिव को मिलाकर शिव ही बना देते हैं। गुरु जी में एक ऐसी अनोखी शक्ति है, जिससे वे मानव को पूर्णरूप से बदल देते है। जरा-जन्म के दुःख से रहित नया जीवन प्रदान करते हैं। जैसे दिन के सारे व्यवहार उल्लू अपने से नहीं देख पाता, रात्रि

में जगत् को कौवा नहीं देख पाता, वैसे ही गुरु प्रसाद पाये विना मानव संसार को सर्वमय नहीं देख पाता। वह अज्ञानवश दु:ख में या शोक में ही जगत् देखता है। जो पूज्यनीय परमगुरु आत्मरूप से शिष्य में प्रविष्ट रहते है उन गुरु से हम कैसा व्यवहार करें, कैसे प्रेम करें, उनके उपकार को कैसे चुकावें ? हे गुरुदेव आप हमारे अशुचि को धो डालते हैं, नाड़ी-नाड़ी में रक्त के कण-कण में शक्तिरूप से प्रविष्ट होकर हमें आप क्रियाशील बनाते हैं। आपका कितना उपकार है, कितना अनुग्रह है, कितनी दया है, ऐसे कौन मित्र हो सकते हैं ? जो शरीर के अंग-अंग में, अच्छे बुरे स्थानों में, व्याप्त होकर दोषों को धोबी के समान साफ कर दे। ऐसे गुरु समान कौन मित्र, कौन प्रेमी और कौन देवता है ? ऐसे गुरु का हम क्या दासत्व कर सकते है ? जिन गुरुदेव ने हमारे कुल, जाति, कर्माकर्म गुणदोष देखे विना ही मुझमें प्रविष्ट होकर अपना लिया, उन गुरुदेव की महिमा को कौन नकार सकता है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

'ॐ नमः शिवाय' आप का दिया हुआ मन्त्र है, गुरुदेव ! यही आपकी पूर्ण स्मृति रूप है। आप ही शिव है।

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो, यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उपयोरन्तरं नास्ति, गुरोरपि शिवस्य च।।

आपके द्वारा दिये हुए इस मन्त्र में ज्ञान की सातों भूमिकायें अर्थात् शुभेच्छा से लेकर तुर्यातीत तक निहित हैं। आपने मुझे अपना बनाया है इसके लिए हे गुरुदेव ! आपका सम्मान कैसे करू ? आपकी पूजा कैसे करूँ ? इतना अवश्य रटता रहूँगा जय गुरुदेव ! जय गुरुदेव ! जय गुरुदेव !

ऐसे गुरुदेव को गुरु मानकर उनसे मन्त्र पाना क्या परम सौभाग्य नहीं ? उनके लिये शब्द ही चैतन्य मन्त्र है। वे परमगुरु मन्त्र द्वारा, स्पर्श द्वारा या दृष्टि द्वारा शिष्य में प्रवेश करते है, इसलिए गुरु का साहित्य, गुरु का सम्बन्ध, गुरु का चरणस्पर्श, गुरु के चरण के चरणोदक का तीर्थपान, गुरुप्रसाद, गुरुसेवा, गुरुगुणगान, शिष्य को पूर्ण पद प्राप्त करा देने में समर्थ है। मेरे गुरुदेव ऐसे ही एक महान् सिद्ध सन्त है। उनकी जिस पर दृष्टि पड़ती वह जाग उठता है। उनकी महिमा महान् है इसलिए कहा है—

दुर्लभो विषयत्यागः, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरो करूणां विना।।

यह सहजा अवस्था जो इतनी दुर्लभ है, सद्गुरु की करुणा के बिना नहीं मिलती। गुरु तत्त्वतः साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हैं। गुरुगीता में जो गुरु का वर्णन है, और ज्ञानेश्वर जी ने जो गुरु महिमा गायी है, उसमें अणुमात्र भी अतिरेक नहीं है। जो गुरुपादोदक का सेवन करता है उसके लिये अमृतत्व एक साधारण वस्तु है। गुरु पूजा ही सार्वभौम महापूजा है, ऐसा गुरु गीता कहता है—

गुरुरेव जगत्सर्वं, ब्रह्माविष्णुशिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति, तस्मात्संपूजयेद् गुरूम्।।

आध्यात्म मार्ग में गुरु कृपा ही केवलं और गुरोराज्ञा ही केवलं है।

पावन सत्य कहता है कि सब विद्याओं में, मोक्ष धर्म में, और स्वस्वरूप विमर्श में गुरु कृपा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—तुम्हारा परमार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग और साधना सब के सब तभी फलीभूत होगा जब गुरु कृपा से लब्धिकाल का उदय होगा।

जो अपने गुरु को जितना महान्, श्रेष्ठ, पूर्ण, सिद्ध, सामर्थ्यवान् समझते है, श्रीगुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर उसके साथ खड़े रहते हैं। वस्तुतः तुम में गुरु के प्रति प्रत्यक्ष ईश्वर की तरह जितना प्रवल और जितना तीव्र भाव होगा, उतना शीघ्र तुम सब कुछ पा लोगे, उसमें देर नहीं लगेगी। लेकिन फिर भी धैर्य ही कसौटी है। श्रीगुरु के चरणां में भावपूर्ण विश्वास रखने से बिना कष्ट उठाये सहज में अपने आप तत्त्व का बोध हो जाता है। इसलिए गुरु को भजो। इतना ही नहीं अपने ध्यान में लाओ, क्योंकि ईश्वर गुरु के पास रहता है। इतना

याद रखना कि गुरु चरणों में महान् आदर्शरूप, पूर्ण विश्वास, अनन्यभाव रखना आवश्यक है। गुरु ध्यान सर्वध्यान प्रक्रियाओं का मूल है, गुरु गीता में कहा है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्र मूलं गुरो र्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

मुझे महामन्त्र मिल गया, इसको अत्यन्त प्रेम से अपनाया। तुकाराम महाराज सत्य कहते हैं कि—गुरु में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम पूर्णभाव हो जाने पर परमात्मा सहज मिल जाता है। इसलिए गुरु की पूजा करो, गुरु का महाध्यान करो। सौभाग्य है कि हमें श्रीगुरु के रूप में ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज प्राप्त हैं।

श्रीगुरुदेव की कृपा मात्र से ही एक क्षण में सिद्धि ही नहीं, बल्कि शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है। आप कितना भी जप करें, तप करें, ध्यान करे, यज्ञ करें, गंगा सागर नहायें, लेकिन गुरु की कृपा के विना पूर्णता प्राप्त नहीं होती। गुरु भवसागर में डूबते हुए को उससे निकालकर अपने जैसा निर्द्वन्द्व कर देता है। सब संशय मिटाने के लिये शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को उद्घाटित करके दिव्य आत्मतेज को प्रकट कर देता है। उसको अपने जैसा ही आत्मरति प्रदान कर देता है। ऐसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिए ? यह खुद ही सोचने का विषय है। वस्तुतः श्रीगुरु इस जगत् को शिष्य के लिए ब्रह्ममय बना देने की सामर्थ्य रखते हैं। मानव इस विस्तृत जगत् क्रीड़ा को देखते हुए चाहे जो करे, परमशान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यह समझ में नहीं आता कि कैसे एक नयी बात पैदा हो गयी कि जगत् एक है, जीव दूसरा है, माया तीसरी है ? क्योंकि आत्मा के विना अन्य और किसी का ऐसा सामर्थ्य है ? जो जगत् रूप हो सके। परम स्वतन्त्रता से, परम स्वच्छन्दता से, प्रकाशमान होने वाले उस आत्मा को कौन मलिन कर सकता है ? प्रज्ज्वलित अग्नि के साथ कौन रह सकता है ? पावन मात्र जगत् ही आत्मा का विलास है। इस आत्मविलास को समझने के लिए श्रीगुरु के कृपा की आवश्यकता है। गुरु कब सन्तुष्ट होता है ? यह मत समझिये कि गुरु के सामने वाह गुरु, वाह गुरु करने से या मुख स्तुति करने से गुरु सन्तुष्ट होगा ? ऐसा कदापि नहीं होगा।

गुरु तब सन्तुष्ट होता है जब शिष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है, जैसे कोई कलाकार अपने विद्यार्थी की कला पूर्ण होने पर वाह-वाह करके आशीर्वाद देता है। पण्डित का शिष्य पण्डित बन जाने पर आशीर्वाद पाता है, वैसे ही श्रीगुरु से शक्ति प्राप्त किये हुए शिष्य की पूर्णत्व प्राप्ति से गुरु को सन्तोष प्राप्त होता है। शिष्य गुरु वस्त्र दिया, खिलाया, मुख स्तुति की तो इसमें गुरु को क्या और कैसे सन्तोष होगा ?

गुरु प्रज्ञा प्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्येत् तत्त्वं विरक्तो भव सागरात्।।

श्रीगुरु तभी सन्तुष्ट होते है जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाता है। इसलिए यह पवन कहता है—श्री गुरुं शरणं गच्छामि। सततं गुरुं स्मरामि। मम मति श्रीगुरु, मम गति श्रीगुरु, मम रति श्रीगुरु इति सत्यं सत्यं वदामि।

ईश्वरो गुरु आत्मेति, मूर्तिभेद विभागतः।
व्योमवत् व्याप्तदेहाय, तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

यस्य देवे पराभक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः, प्रकाशन्ते महात्मनः।।

गुरुदेव में इष्ट के समान जब निष्ठा होती है तभी सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का हृदय में प्रकाशित होता है, यह गुरुदेव की ही कृपा है। गुरु की महिमा अनन्त है, अतः लेखनी का विराम ही उचित है।

॥ शुभमिति ॥

गुरुकृपाधनसम्पन्नः
पवन कुमारः

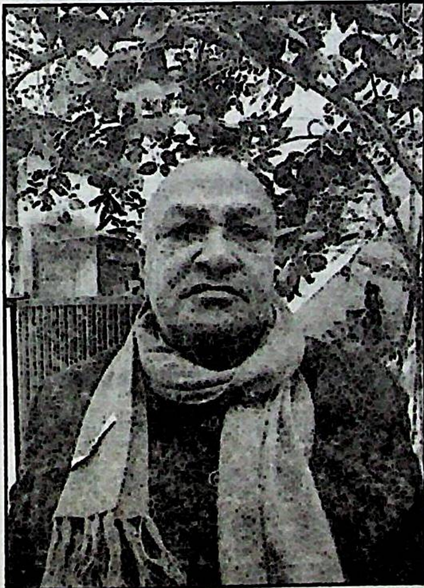
श्री गणेशाय नमः

'श्री ब्रह्मऋषि गौरव माला'

गुरुकृपाधनसम्पन्नः पवन कुमार

गणेशं शङ्करं वाणीं श्री लक्ष्येश्वराश्रम गुरुम् ।
बृद्धऋषिपदारूढं, प्रणमामि पुनः पुनः ।।
आकरं गौरवाणां वै कृष्ण वन्दे श्रीगुरुम् ।
बोधवन्देलक्ष्येश्वराश्रमाणांप्रभाकरम् ।।





गुरुत्त्वं जगतोयत्र, गुरुत्वं यत्र सुस्थितम् ।
सर्वथा पूर्णता यत्र, स गुरुर्गरिमायुतः ।।१।।
ब्रह्मऋषि स्वयं कृष्णः, परमानन्द लक्षणः ।
अज्ञाननाशको बोधश्चिदद्वैतस्वयंप्रभः ।।२।।

भक्तानुकम्पी भगवन् सुपात्रपरिपोषकः। बोधेनाज्ञान नाशाय बहुधा जायते भुवि ।।३।।
जन्मना गौरवं तेषां मोक्ष भूमौ जनिर्यतः। कुलतो गौरवं चैव भूमि देवकुलं किल ।।४।।
नैष्ठिकं ब्रह्मचर्य च गौरवस्य प्रयोजनम्। उत्तमश्चापि संन्यासी वैराग्यस्य प्रकर्षतः ।।५।।
आचाराद्गौरवं तेषां सादाचारस्य चाक्षतेः। आचार्य प्राप्तिरप्यग्त्या ब्रह्मज्ञान प्रदायिनी ।।६।।
गुरुपासनमप्यन्त्यं, प्रसादफलकं खलु। सुदीक्षा च सुशिक्षा च, सुविचार परम्परा ।।७।।
शास्त्रेषु च श्रमःश्लाध्यः सर्वशास्त्रार्थ भासकः। अविस्मृतिरधीतानामर्थानां स्थिरतातथा ।।८।।
पदवाक्यप्रमाणानां, यथावत्सुनिरूपणम्। व्यवस्थाधर्मवाक्यानां पुराणार्थस्यनिर्णयः ।।९।।
संदेहस्यसदाऽभावः कुतोपि न विपर्ययः। संशयस्य प्रशमनम् निश्चितंतत्ववक्तृता ।।१०।।
ऋजुतागौरवं पूर्णं, सर्वेषु चात्मता परा। मृदुता चानुकम्पा च, अक्षताऽसंगता सदा ।।११।।
अमोनित्वमदम्भित्व-मद्वेष्टृत्वं सुगौरवम्। प्रसाद गुणकं येषां भाषणं भावगुम्फितम् ।।१२।।
प्रसाददायिनी दृष्टिः, प्रसन्नाप्रतिभासदा। प्रशान्तिदान्तिसम्पन्नाः, परमंगौरवंगताः ।।१३।।
सदैक रसतायत्र, समाधिपरतासदा। सच्छास्त्रपरताचापि, सदर्थपरतासदा ।।१४।।
सत्तीर्थपरताख्याता, सत्प्रीतिप्रतिपालिता। सत्तपोनिरतानित्या, सर्वसम्मतताऽक्षता ।।१५।।
पूर्णताधर्ममनसोः पूर्णता वृत्तविद्ययोः। पूर्णता दान शक्तिश्च, पूर्णता धर्मरक्षणे ।।१६।।
कृतज्ञतासदाऽक्षुण्णा, कृपापूर्णाऽवलोकना। मैत्र्यादि गुणता सम्य, गद्वेष्ट्यादिकतातथा ।।१७।।
एकरूपासदाप्रीति, रेकरूपासदाकृतिः। एकरूपाविभूतिश्च, एकरूपसमीक्षणम् ।।१८।।
अभयंसर्वदायेषां, जीवने च स्पृहा नहि। जीवभावजगद्भाववाधस्य सर्वदा स्थितिः ।।१९।।
अखण्डैकरसंज्ञानमखण्डैकरसंमनः। अखण्डैकरसादृष्टिखण्र्डकरसास्थितिः ।।२०।।
अखण्डैकरसाचारो, ह्यखण्डैकरसंतपः। अखण्डचिद्रसानन्दो, ह्यखण्डैकरसमात्रकः ।।२१।।
अनुभूतिपरा बुद्धिरनुभूतिपरारतिः। अनुभूतिपराशुद्धि रनुभूतिः प्रियासदा ।।२२।।
आचार्यपदआसीना आचार्यमानवर्जिताः। आचार्ययोग्यतायोग्या विद्वद्भिरनुमोदिताः ।।२३।।
दिव्यमध्ययनयेषां दिव्यंशास्त्रानुशीलनम्। दिव्यंज्ञानं सदाऽवाध्यं सर्वानुरंजन सदा ।।२४।।
दिव्याचर्यादयाभावो दमनं दानशीलता। दूरदृष्टिर्विचारेण दिव्यदृष्टिप्रदायिता ।।२५।।
अमोघं सेवन येषा ममोघं वाक्यसेवनम्। अमोघं दर्शनं चैवस्मरणंसफलसदा ।।२६।।
आर्तानामार्तिहरणं शास्त्ररीत्यागतिप्रदाः। जिज्ञासुभ्योज्ञानदावै अर्थिभ्यस्तद्विधिप्रदाः ।।२७।।
ज्ञानिनां स्वयमात्मानो ज्ञानिनामग्रवर्तिता। ज्ञानयोगेपरानिष्ठा ज्ञानयोगेपरामतिः ।।२८।।
बोधस्योपरतेश्चैव विरतेश्चापिसंगमाः। तीर्थराजसमाः शश्वदधिकारि जनप्रियाः ।।२९।।

भक्तिज्ञानविरागाणां कर्मणां शिक्षका:सदा। षड्दर्शनविशेषज्ञाः षड्दर्शनसमर्थकाः ।।३०।।

षट्सम्पत्तियुत्ता:सन्तः सतांमार्गप्रदर्शकाः। षड्र्भिरहितात्मानः षडविकार विवर्जिताः ।।३१।।

ब्रह्मविद्याविचाराढ्या राजविद्याविशारदाः। मनुविद्याप्रदातारो मानवोचित मन्त्रदाः ।।३२।।

धर्ममेधसमाधिस्था धर्मरक्षणतत्पराः।
धर्मसेतुविधातारः स्वधर्मेदत्तजीवनाः ।।३३।।

धर्मसंघस्यनेतारो धर्माणांसुष्ठुवेदिनः।
धर्मद्रुमस्यसेक्तारो धर्मधारणदक्षकाः ।।३४।।

सत्यप्रिया:प्रवक्तारः सत्यतत्त्वप्रदर्शकाः।
सत्यनिष्ठाश्च सततं सदाचार परायणाः ।।३५।।

प्रत्युत्पन्नसुविज्ञानाः प्रमाणज्ञाः सुदक्षकाः।
प्रेमयुक्ताहिसर्वत्र चिरं वै प्रेमपालकाः ।।३६।।

वेदान्तवादवक्तारो वेदान्तपथदर्शकाः।
वेदान्तज्ञाननिष्णाता वेदान्तवनचारिणः ।।३७।।

भक्ति योग प्रवक्तारो भक्तिवाद प्रपोषकाः।
कर्मयोग प्रचाराढ्याः कर्मनिष्ठा प्रदायकाः ।।३८।।

शान्तिदान्तियुताः सम्यक् शान्तिसारपरा:सदा।
शान्तिदा:शान्तिमानज्ञाः शान्तिजीवन निर्झराः ।।३९।।

अतिधीरा धृतिप्रौढ़ाः परत्रघृतिदायकाः।
धियंधर्मेप्रयोक्तारो धौप्रबोधनकारकाः ।।४०।।

दुःखगोपनकर्त्तारः परदुःखनिवारकाः।
दुःखदारिद्रदाबघ्नाः स्वयंनिर्दुःखमानसाः ।।४१।।

तितक्षाशमशीलाश्च श्रद्धावन्तोऽतिपावनाः।
आस्तिकाश्चास्तिकज्ञाश्च सदास्तिकप्रपोषकाः ।।४२।।

विद्वद्गोष्ठीषुमूर्धन्या विद्वद्गोष्ठीषुभूषणाः।
विद्वद्वादप्रवक्तारो विदुषामात्मरूपिणः ।।४३।।



आत्मारामाश्चनिष्कामा मुमुक्षूणांपरायणाः। मुमुक्षसुहृदः शश्वद्मुमुक्षादायका:सदा ।।४४।।

भुनयोलीनचैत्या वै जीवन्मुक्ताः सुसाधकाः। मननेसततंयुक्ता निदिध्यासनतत्पराः ।।४५।।

अन्तर्मुखाह्यतीवाच्छा आधिव्याधिविदारकाः। विवुधाइवसत्वस्थाः सत्वशोधप्रदायकाः ।।४६।।

अजातशत्रयः शान्ता अजातकलिकल्मषाः। अजातरागद्वेषाधै ह्यजातद्वैतविभ्रमाः ।।४७।।

स्वजातिभूषणाःसुज्ञाः स्वज्ञातिदिव्यदीपकाः । स्वपरभेदशून्याश्च स्वाश्रितपोषकाः सदा ।।४८।।
स्वामित्वेऽपि समात्मानः सुष्ठुशास्त्रप्रबोधकाः । सुष्ठुशास्त्रस्यसारज्ञाः सुष्ठुसाम्यप्रदर्शकाः ।।४९।।
सहजावस्थयायुक्ताः सहजाचर्ययायुताः । सहजसाधनसंपन्नाः सहजासरलामतिः ।।५०।।
सगाज्ज्ञानप्रदातारः संगाद्भक्तिप्रदायकाः । संगात्सत्कर्मदातारः संगाद्वैराग्ययोगदाः ।।५१।।
सत्संगयोग्यतापूर्णाः सत्संगपथदेशिकाः । सत्संगसम्मितज्ञानाः सत्संगतिसुजीवनाः ।।५२।।
समाधानयुतात्मानः समाधानविधायकाः । समाधानप्रियानित्यं समाधानसुधाप्रदाः ।।५३।।
द्रव्ययज्ञविधानज्ञा ज्ञानयज्ञविशारदाः । योगयज्ञसमारूढ़ाः युक्तायुक्ति प्रकाशकाः ।।५४।।
उपनिषत्सुशास्त्रेषु पुराणेषुनिमग्नकाः । धर्मशास्त्रेतिहासेषु न क्वचित्स्खलितामतिः ।।५५।।
मान्यानांमानदानित्यं न कस्याप्यवमानकाः । न दोषदृष्टिःकुत्रापि न दोषेमानसं क्वचित् ।।५६।।
आचारे नियतानित्यं आहारेनियतास्तथा । आशयज्ञाश्चसर्वेषां आशयेशुद्धिदायकाः ।।५७।।
षडंगवेदिनः सुज्ञाश्चतुर्वेदार्थवेदिनः । संस्कृतवाङ्मयज्ञावै, स्वयं संस्कृतजीवनाः ।।५८।।
ऋजवः सर्वभावेन स्थितप्रज्ञा ऋतंभराः । ऋषिकल्पा ऋषिज्ञाना ऋष्याचार समन्विताः ।।५९।।
प्रेतादिवाधकेदक्षाः वाक्सिद्धाःसाधकप्रियाः । सुतप्राप्तिप्रयोगज्ञा दारिद्रयशमसिद्धिदाः ।।६०।।
यौवनाद्योगनिष्णाता यौवनाच्छान्तमानसाः । यौवनाज्ज्ञानमार्गाणां यौवनाच्चशिवार्चकाः ।।६१।।
दिव्यमध्ययनयेषां दिव्यं च श्रवणंश्रुतेः । दिव्यंशीलं दयाशीलं र्दिव्या च शयनक्रिया ।।६२।।
श्रद्धेयाः श्रद्धयायुक्ता दिव्यश्रद्धाप्रवर्तकाः । श्रीमन्तः श्रीप्रदातारः स्मितपूर्वप्रवादकाः ।।६३।।
अमाययाकृताचारा मायाहीनक्रियाकराः । मायाबाधयुतामुक्ताः मायामोचनकारकाः ।।६४।।
मायाप्रपञ्चबाधज्ञा मायामायित्ववेदिनः । मातृमानप्रमेयज्ञा वेदमानप्रयोजकाः ।।६५।।
यतिधर्मेरताः सम्यग् यतिमण्डलभूषणाः । कल्पद्रु मायतीनांवै यतिजीवनदर्पणाः ।।६६।।
अर्थलोलुपताहीना भोगलिप्साविवर्जिताः । कामकालुष्य रहिताः कामबाधत्रिनेत्रकाः ।।६७।।
मोहावरणनिर्मुक्ता मुक्ति-मौक्तिकहंसकाः । ज्ञानभक्तिरसज्ञाश्च ज्ञानभक्ति प्रमेलकाः ।।६८।।
ज्ञानभक्तिप्रदातारो ज्ञानभक्तिप्रमोदकाः । भक्तिज्ञानेनिमग्नावै भक्तिज्ञानोभयात्मकाः ।।६९।।
ब्रह्मसूत्रधराः शुद्धा ब्रह्मसूत्रप्रकाशकाः । ब्रह्मसूत्रप्रदाःपात्रे ब्रह्मसूचनदक्षकाः ।।७०।।
गीताज्ञानविशेषज्ञा गीताज्ञानपरायणाः । गीतानिर्मग्नहृदया गीतारसरज्ञकाः ।।७१।।
प्रस्थानत्रय पारीणाः प्रस्थानत्रयपाठकाः । प्रस्थानत्रय मस्तिष्काः सुष्ठुप्रस्थानवेदिनः ।।७२।।
आचार्यमठ संप्राप्ता असंगास्तस्यवैभवे । अलिप्तामानमायायां मठसन्मानरक्षकाः ।।७३।।
धार्मिकाणांसहायाहि स्वयंधर्मधुरम्पराः । धर्मेच्छूणां सुने तारो धर्भपालकबान्धवाः ।।७४।।

गोप्तारोधर्मसेतूनां गोप्ता रोनिजसंपदाम्। आश्रितानां च गोप्तारःस्वगुणगोपकाःसदा ।।७५।।

समेषांसुहृदः सौम्या दैवीसम्पत्प्रदायकाः। दीनकारुण्यहृदया दीनबन्धुसमानकाः ।।७६।।

उपकारकृपासारा, उपकारैक कार्यकाः। उपकारिजनेप्रीता उपकारप्रवेदकाः ।।७७।।

परिव्राजकसाहाय्याः परिव्राजकज्ञानदा। परिव्राजक शोभाढ्याः परिव्राजक भूषणाः ।।७८।।

आर्यावर्तप्रचाराढ्या आर्यावर्तकृतादराः।
आर्यतादायका ह्यत्र आर्यावर्तसुक्षेत्रकाः ।।७९।।



उत्तराम्नायवेत्तार उत्तराम्नायगोपकाः।
आचार्याउत्तराम्नाय, उत्तराम्नायमण्डनाः ।।८०।।

अन्तर्वेदप्रियानित्य मन्तर्वेदनप्रियाः।
अन्तर्वेदप्रवेत्तारो, ह्यन्तर्वेदसुचन्द्रकाः ।।८१।।

सर्वमानवमूर्धन्याः सर्वमानवशिक्षकाः।
सर्वमानवतायुक्ताः सर्वमानवमानिताः ।।८२।।

कलौकृतसमाचाराः कलिदोषनिवारकाः।
कलिकालमहात्मनः कलिकालुष्यशोधकाः ।।८३।।

पूर्णाःप्रसाधवःपुण्याः पूर्णाश्रमप्रसाधनाः।
पूर्णज्ञानानुरागाश्च पूर्णप्रापणसुक्षमाः ।।८४।।

पूर्वजन्मनियोगज्ञाः पूर्णसंस्कारसंयुताः।
पूर्णतायांसदासुस्था सदापूर्णसमाधयः ।।८५।।

ज्ञानदण्डधराःप्राज्ञा मृत्कमण्डलधारिणः।
श्वेतभस्मधराःशुद्धा गंगाधूलिकृतादराः ।।८६।।

स्वदेशवसनप्राया मुनिचीरधराःसदा।
अनुल्लंघितमर्यादा अनुल्लघितशास्त्रकाः ।।८७।।

विष्णुपादोदकप्रीता विष्णुमानसपूजकाः।
तुलसीपिप्पलादीनां गवाचैवातिमानदाः ।।८८।।

विप्राणांचहितासक्ताः सर्वेषांहितबुद्धयः।
हिन्दुप्राणाःपरित्राणा हिन्दुतास्थापकाःसदाः ।।८९।।

हिन्दूनांगौरवज्ञेया गुरुतास्थापकायतः।
गोब्राह्मणहितासक्ता गोब्राह्मणप्ररक्षकाः ।।९०।।

तीर्थश्रद्धायुतास्तीर्था स्तीर्थानां तीर्थकारकाः। तारकाः स्वयमुत्तीर्णास्तारकज्ञानदायकाः ।।९१।।

कुशलाब्रह्मवार्तायां, कुशलावृत्तिरक्षणे। कुशलाशिष्यशिक्षायां, कुशलावृतरक्षणे ।।९२।।

वासनाक्षयसम्प्राप्ता, सद्वासनयायुताः। अमनस्कदशांप्राप्ताः पूर्णबोधदशायुताः ।।९३।।

शाम्भवीमुद्रयायुक्ताः शाम्भवीप्रतिभायुताः। शाम्भवीप्रीतिसंयुक्ता, शाम्भवीप्रीतिदायकाः ।।९४।।

निस्त्रैगुण्येस्थितामार्गेशिक्षायै विधिवादकाः। शिक्षायै जीवनप्रायाः शिक्षायैग्रन्थधारकाः ।।९५।।

अनेकग्रन्थसुज्ञाना, अनेकग्रन्थदर्शकाः। अग्रन्थलेखकाश्चापि परग्रन्थकृतादराः ।।९६।।

देहाध्यासविदूरस्था, दिव्यमानवजीवनाः। दिव्यभावनयायुक्ता, योगनिद्रासुदिव्यकाः ।।९७।।

समताकाञ्चनेलोष्ठे समता सुखदुःखयोः। जीवने मरणे चापि समता सार्वभौमिकी ।।९८।।

अभयंसत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः। अभयं सर्वभूतेभ्यइहामुत्राभयंस्वतः ।।९९।।

परमात्मनिनिर्मग्नाःपरमात्मनि जीवनाः। परमात्मकथाभिज्ञाः परमात्मप्रकाशकाः ।।१००।।

चरन्तोवेदविधिना चरमेजीवनेस्थिताः। दयिताचरमावृत्तिश्चरन्तो धर्मशिक्षकाः ।।१०१।।

चरितब्रह्मचर्यावै अकृतग्राम्य जीवनाः। कृतकृत्यास्त्रिशुक्लावै संगात्संसारतारकाः ।।१०२।।

यानिशा सर्वभूतानां तस्यांजागरणक्षमाः। प्रबुद्धा मोहनिद्रातो गौरवं बहुलं गताः ।।१०३।।

जगत्यांगौरवं प्राप्ता जगतांगगौरवप्रदाः। जन्मलीलासु सम्पूर्णा जन्मसाफल्य कारकाः ।।१०४।।

स्नेहसिक्ताः स्नेहरूपा आसक्तिपरिवर्जिताः। अन्ते संत्यक्तसर्वेहा अन्तर्मुखसमाहिताः ।।१०५।।

संयोगे सुखदानित्यं वियोगे दुःखदायिनः। अस्माकं दुर्विपाकेन महाप्रस्थानकं गताः ।।१०६।।

निर्मानमोहाजितसंगदोषा अध्यात्मनित्याविनिवृत्त कामाः।
द्वन्द्वै र्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गताह्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।१०७।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्तयायुता योगबलेनचैव।
निर्वाण रूपे परमे प्रविष्टा यस्मिन्गतान नियतौप्रयान्ति ।।१०८।।

गौरव मालिका चेय गुरुपादेषु दीयते। लक्ष्येश्वरेणरकेन, प्रीयता सद्गुरुः स्वयम् ।।

॥ ॐ तत्सत् ॥

आद्य श्री शङ्कराचार्य के प्रति—

अज्ञानान्तर्गहनपतितान् आत्मविद्योपदेशैः,
त्रातु लोकान् भवदवशिखातापपापच्यमान्।
मुक्त्वा मौनवटविटपिनोमूलतो निष्पतन्ती,
शम्भोर्मूर्तिश्चरति भुवने शङ्कराचार्यरूपा ।।

'अज्ञान के गहरे अन्धकार में गिरे हुए, तथा संसाररूपी प्रचण्ड अग्नि ज्वालाओं से अतीव सन्तप्त होने वाले लोगों को आत्मविद्या के उपदेशों से रक्षा करने की इच्छा से मौन को छोड़कर कैलाश पर्वत के दिव्य वटवृक्ष के मूल से निकलने वाली यह भगवान देवाधिदेव शङ्कर की मूर्ति है, जो आचार्य शङ्कर स्वामी के रूप में भुवन में भ्रमण कर रही है'।

आज कहने को तो सभ्यता का युग है किन्तु सब प्रकार से सभ्यता के समलोन्मूलक 'नास्तिकवाद' को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। आज आपके देश की सभ्य कहे जाने वाली जनता 'ईश्वर तक का' अस्तित्व मानने से आनाकानी कर रही है जिसका अर्थ है अपने तक को नहीं मानना।

—स्वामी श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी

विषय-सूची

ॐ

चिन्तामणि-मणिप्रभा

"ॐ"– अङ्गीकारे ब्रह्मणि च। ओमकार के दो अर्थ होते हैं—अङ्गीकार करना एवं ब्रह्म। अङ्गीकार माने स्वीकार करना अर्थात् किसी कार्य के होने-न-होने में स्वीकृति देना एवं 'ब्रह्म' शब्द प्रत्यक चैतन्याभिन्न आत्मा का वाचक है—"तस्य वाचक प्रणव:" (योग०-१/२६) "ओङ्कार आत्मैव" माण्डू-१२)

"ओमित्येकाक्षर ब्रह्म" (गीता ८/१३)

"ॐ तत्सदिति निर्देशा" (गीता १७/२३),

ओं तत्सद् इति एष निर्देशो निर्दिश्यते अनेन इति निर्देश त्रिविधो नामनिर्देशो ब्रह्मण:— शाङ्करभाष्ये।

"ॐ तत्सत्" ये तीन नाम ब्रह्म के हैं और वह ब्रह्म कौन है, कैसा है ? तो कहते हैं—"परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहभस्मि" (स्वरूपानु-१)

सम्बन्ध–तत्वों (आकाशादिकों) का एक-दूसरे में अन्तर्भाव होने के कारण वक्ता तत्त्वों की संख्या को अपनी इच्छा के अनुरूप चाहे घटा ले अथवा बढ़ा ले, यह घटाना और बढ़ाना उभयात्मक है अर्थात् कारण को कार्य में या कार्य को कारण में मिलाकर, इससे कोई हानि नहीं और न हि तत्त्वदशियों को इनसे विरोध है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का पदार्थों के साथ सम्बन्ध है ही नहीं और तत्त्वों का वर्णन भी भेद दृष्टि के निवारणार्थ ही है, इसी का वर्णन निम्नलिखित पद्य में है—

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैंलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्थ................ ।। (भागव. ११/२२/११)

जो लोग छब्बीस तत्व नहीं मानते, अपितु पच्चीस ही मानते हैं, उनके मतानुसार इस शरीर में जीव और ईश्वर का अणुमात्र भी भेद नहीं है, अत: इन दोनों में भेद करना व्यर्थ है।

व्याख्या–अत्र = इस शरीर में, **पुरुषेश्वरयो:** = जीव और ईश्वर का, तत्र जीवोनामान्त: करणावच्छिनं चैतन्यम् अर्थात् अन्त:करणावच्छिन्न, माने मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार से युक्त जो चैतन्य है, वही जीव कहलाता है एवं मायावच्छिन्नं चैतन्यम् परमेश्वर:, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वम् अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर कहते हैं, क्योंकि माया चैतन्य में विशेषणत्वेन प्रयुक्त है।

अणु = अणुमात्र भी अर्थात् सूक्ष्म, कतिपय वादी सूक्ष्म भेद दिखाने का प्रयास करते हैं उनके

(व्यास पूजन म०)

ईशानः	आनन्दात्मा अन्तरात्मा आत्मा परमात्मा ज्ञानात्मा	गणेशः
सुमन्तु पैलः व्यासः जैमिनिः वैशम्पायनः	अनिरुद्धः वासुदेवः कृष्णः संकर्षणः प्रद्युम्नः	तोटका० विश्वरूपा० आचार्यः हस्तामलका०
सरस्वती	गौड़पादा० परमगुरुः गुरुः गोविन्दपू.पा. परमेष्ठिगुरुः	दुर्गा
सनत्कुमारः नरनारायणौ सनन्दनः कृ.प. सनत्सुजातः ब्रह्मा, विष्णुः महेश्वरः सनकः		(आत्म०पु० ११)

लिये। **अपि** = भी, **वैलक्षण्यम्** = विसदृशत्वं अर्थात्, **वैपरीत्यम्** = अन्तर या भेद, **न** = नहीं है, क्योंकि दोनों ही चिद्रुपत्व एवं निर्विशेष है, **तत्** = अतः उन दोनों में, जीव और ईश्वर में **अन्यकल्पना** = अभेद से विपरीत भेद की कल्पना करना, **अपार्था** = व्यर्थ ही है।

अर्थ–जो पूर्ण होने के कारण ही शान्त है, भूमा अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण सुबोध है, आनन्दस्वरूप होने के कारण परमात्मा है एवं आत्मस्वरूप होने के कारण ब्रह्म है, उन्हें स्वाज्ञान हरण के लिए नमस्कार है।

व्याख्या–भूम्ने–सर्वव्यापक जो देश काल से परिछिन्न नहीं है। "शान्तसुबोधाय बोध में शान्त

भूम्ने शान्तसुबोधाय पूर्णाय परमात्मने।
आनन्दात्मस्वरूपाय ब्रह्मणे हरये नमः ।।

अथवा सुविशेषण व्यवहारिक दृष्टि से ही संगत होता है, क्योंकि निजबोध सर्वोपाधि विवर्जित होने-से निर्विशेष है, तथापि शान्तसुबोध है क्योंकि साधक उसे दुर्बोध्य मान बैठता है।

पूर्णाय—वह पूर्ण है क्योंकि वह अभावशून्य है वह आप्तकाम है। वह अन्तर भी है, बाहर भी है। श्रुति कहती है, "पूर्णमिद" वह पूर्ण है।

परमात्मने—परमश्चासौ आत्मा परमात्मा तस्मै परमात्मने। जो निरतिशय एवं क्षयशून्य हो वही परम होता है। जो परम होता है वही आत्मा है, क्योंकि वह किसी का दृश्य नहीं यदि दृश्य होगा तो परमता नहीं रह सकती।

ब्रह्मणे—ऐसे सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म को। **हरये**—जो जीवों के कल्याण के लिए सगुण रूप भी धारण करता है। **नमः**—मेरा नमन है ताकि सगुणे निर्गुण का भेद जो कल्पित है, निःशेष हो जाय।

अर्थ—प्रतिवर्ष आषाढ़ पूर्णिमा-से संन्यासियों का चार्तुभास्य व्रत प्रारम्भ होता है। इस आषढ़ पूर्णिमा को परम्परा से गुरु पूर्णिमा भी कहा जाता है क्योंकि इस दिन समस्त यतिवृन्द आदिगुरु-से लेकर वर्तमान स्वगुरु पर्यन्त सबका अतिशय आदर पूर्वक पूजन करते है। गुरु की आवश्यकता उनकी महिमा के विषय में कुछ कहना गङ्गाजल-से गङ्गा पूजन के समान ही है। 'गुरु' इस शब्द का उच्चारण करते ही श्रद्धालु का चित्त अपने गुरु की अजस्त्र करुणा की स्मृति से आप्लावित हो जाता है। वह अपने उन दिनों की याद करता है कि मैं क्या था ? कहाँ था ? आज उस आत्मदेव गुरु की करुणा से मैं कहाँ हूँ मैं क्या हूँ। उसकी सारी भ्रान्ति गुरु के एक वाक्य से मिट जाती है, अनत जन्मों की कालिमा एक क्षण में धूल जाती है। जिसने अपने सर्वस्व, गुरु की अनुकम्पा को प्राप्त किया है, वही गुरु की महिमा को कुछ समझ सकता है। आदि गुरु-से लेकर वर्तमान गुरुदेव के क्रम में भगवान् शुकदेव जी के पिता एवं पराशर जी के पुत्र भगवान् व्यास का अवदान अविस्मरणीय है, आज का निखिल वाङ्मय उन्हीं नारायणावतार भगवान् व्यास की अनुकम्पा का फल है।

अतः 'ब्राह्मणवशिष्ठन्याय' से पृथक् रूप से इस पूर्णिमा को व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं। व्यास की अर्थ विस्तार होता है, चूँकि इन्होंने वेदों का विस्तार किया अतः वेद व्यास नाम पड़ा। श्यामवर्ण होने से कृष्ण एवं द्विप में उत्पन्न होने-से द्वैपायन इस प्रकार भगवान् व्यास 'कृष्णद्वैपायनवेदव्यास' कहलाते है।

चित्र के अनुसार नैऋत्य कोण से आरम्भकर कर ईशान पर्यन्त आठ कोणों में तत्तदेवताओं एवं ऋषियों की मध्य में कृष्णादि का पूजन कर्तव्य है। बड़े से पीठ पर अष्टदल पद्म की आकृति रचकर क्रमशः अक्षपुञ्ज या सुपारी में देवता की प्रतिष्ठाकर आचमन.... स्वस्तिवाचन.....संकल्प गणेशादि पूजन....घटस्थापन पूर्वक न्यासानन्तर मण्डलस्थ देवताओं एवं ऋषियों की स्थापना कर पूजनादि विसर्जनान्त कर्म सम्पन्न कर संकल्प पूर्वक चातुर्मस्य व्रत प्रारम्भ करना चाहिये।

यतेरनशनैत्विदम् इच्छा मात्रस्य संत्यागः इहा मुत्रार्थ संक्षयः।।

अर्थ—यतियों का अनशन तो यही है कि वह सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर दे। न तो इस लोक की किसी वस्तु की कामना हो और ब्रह्मादि लोक की ही। उसे आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का या लोक का आश्रम ही नहीं लेना चाहिये।

सम्बन्ध—मनुष्य के शरीर में चतुर्दश भुवन की कल्पना प्रतीक के रूप में दिखाया गया है। अथवा भागवत के अनुसार—

विशेषस्तस्य दोहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत।। (भाग० २/१/२४)

इदं रूप से दृश्यमान जो यह सम्पूर्ण विश्व है, वह जिस रूप में था, वर्तमान में है, या आगे भी होगा—जिस अधिष्ठान में प्रतीति हो रहा है, वही भगवान् का स्थूल-से-स्थूल एवं विराट रूप पर शरीर है। जिसमें समस्त लोकों की कल्पना की गई है।

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णि प्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे।।२६।।

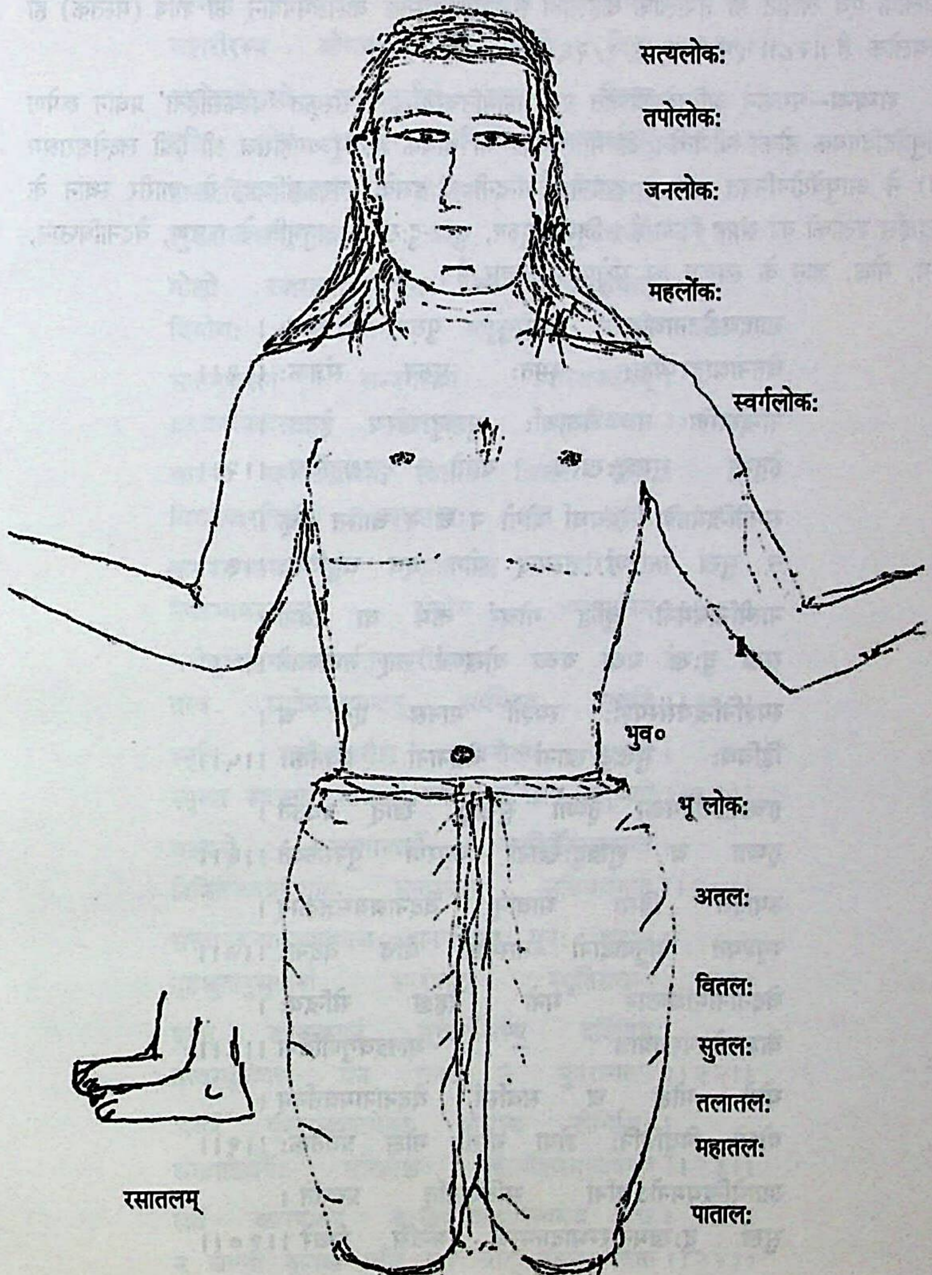
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलं च।
महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गुणन्ति।।२७।।

उर स्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः।।२८।।

अर्थ—पाताल लोक को विराट् पुरुष का दोनों तलवा कहा गया है, एड़ियाँ तथा पञ्जे रसातल हैं, दोनों गुल्फमहातल हैं, पैर के पिंडे (जंघाद्वय) तलातल लोक हैं॥२६॥

विश्वमूर्ति परमात्मा के दोनों जानु (घुटने) सुतललोक हैं, उरुदद्वय वितल एवं अतल लोक तथा नाभि के नीचे पेडू भूतल लोक है, तथा हे महीपति परीक्षित्। उनका नाभि सर को ही आकाश कहते हैं॥२७॥

आदि पुरुष परमेश्वर की छाती को स्वर्गलोक, गले को महर्लोक कहा गया है, मुख उनका


सत्यलोकः
तपोलोकः
जनलोकः
महर्लोकः
स्वर्गलोकः
भुव०
भू लोकः
अतलः
वितलः
सुतलः
तलातलः
महातलः
रसातलम्
पातालः

जनलोक एवं ललाट ही तपोलोक कहलाता है, सहस्रमस्तक वाले भगवान् का शीर्ष (मस्तक) ही सत्यलोक है ॥२८॥ (भागवत् २/१/२६-२८)

सम्बन्ध—भगवान् अग्निवेशप्रणीत एवं महामुनिचरक द्वारा संस्कृत 'चरकसंहिता' प्रधान रूपेण आयुर्वेदविषयक होकर गौणत्वेन आत्मतत्व का भी बोधक है, पूज्यमहाराज श्री (श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी) ने आयुर्वेदोपनिषत् नाम-से अपनी दैनन्दिनी में इसके (चरकसंहिता) के शारीर स्थान के अट्ठाईस श्लोकों का संग्रह किया है। जिसमें पुरुष, सुख-दुःख के अनुभूति के कारण, वेदनाधिष्ठान, योग, मोक्ष, ज्ञान के स्वरूप का संक्षेप में विचार है।

खादयश्चेतनाधातु षष्ठास्तु पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुष संज्ञकः ॥१॥

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः ॥२॥

सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक्।
न सुखं कारणं तस्माद् योग एव चतुर्विधः ॥३॥

नात्मेन्द्रियमनो बुद्धि गोचरं कर्म वा विना।
सुखं दुःखं यथा यच्च बोद्धव्यं तत् तथोच्यते ॥४॥

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥५॥

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुः खात् प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥६॥

उपादत्ते हिंसा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादानो नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥७॥

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्न – मलद्रवगुणैर्विना ॥८॥

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्त्तनम्।
मोक्षो निवृत्तिर्निः शेषा योगो मोक्ष प्रवर्तकः ॥९॥

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते।
सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥१०॥

निवर्तते तदुभयं वशित्वञ्चोप जायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ।।११।।

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ।।१२।।

इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ।।१३।।

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः कर्मसंयोगैः अपुनर्भव उच्यते ।।१४।।

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्ज्जनम् ।
व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ।।१५।।

धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ।।१६।।

कर्मणामसमारम्भः कृतानाञ्च परिक्षयः ।
नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोग भयदर्शनम् ।।१७।।

मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम् ।
तत्त्वं स्मृतेरुपस्यानात् सर्वमेतत् प्रवर्त्तते ।।१८।।

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुप लभ्यते ।
स्मृत्या स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते ।।१९।।

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौं स्मृतिर्यैरुपजायते ।
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात् ।।२०।।

सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात् ।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते ।।२१।।

एतत् तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ।
तत्त्वस्मृतिबलं येन गता न पुनरागताः ।।२२।।

अयनं पुनराख्यातमेतद् योगस्य योगिभिः ।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्यचायनम् ।।२३।।

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वञ्चानित्यमेव च ।
न चात्मा कृतकं तद्धि तत्र चोत् पद्यते स्वता ।।२४।।

भावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिनैर्तदहं यया।
नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्त्तते।।२५।।

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
समज्ञानविज्ञानात् निवृत्तिं यान्त्यशेषतः।।२६।।

अतःपरं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते।।२७।।

ज्ञानंब्रह्मविदाश्चात्रनाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हन्ति ।।२८।।

(चरक सं., शारीरस्थानम्)

(पुरुषः)

अर्थ–खादयः खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा इति वक्ष्यमाणाः। चेतनाषष्ठा इत्यत्रैव चेतनाशब्देन चेतनाधारः समनस्क आत्मा गृह्यते। (चक्रपाणिः)

क्षिति (पृथ्वि), जल, तेज, वायु, आकाश एवं चेतन तत्त्व इन छः धातुओं को पुरुष कहते हैं, इनमें से केवल चेतना धातु को भी पुरुष कहते हैं॥१॥

इन्द्रिय तथा विषय सुखः दुःख के कारण नहीं माने गऐ हैं बल्कि सुख, दुःख के हेतु तो चार प्रकार का योग ही देखा गया है॥२॥

इन्द्रियाँ भी हैं और नानाविध विषय भी हैं, परन्तु उन सब का स्वतः परस्पर योग (सम्बन्ध) का अभाव है, अतः इनसे न तो सुख ही सिद्ध होता है, और दुःख, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि चार प्रकार का योग ही सुख-दुःख का हेतु है॥३॥

(सुखदुःखानुभूतिकारणानि)

कर्म के विना आत्मा, कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इनके विषय किसी की प्रतीति नहीं होती है। कार्यवशात् जिससे जो सुख एवं दुःख अनुभव किया जाता है, वह उसी प्रकार-से कहा जाता है, किसी अन्य रूप-से नहीं। विषयों के साथ मन आदि का योग होने पर ही सुखादि की अनुभूति होती है, किसी कारणवश एक का दूसरे-से संयोग न हो तो, न सुख की सिद्धि होती है और न दुःख की॥४॥

इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श (विषयों के साथ इन्द्रियों संयोग) तथा मानस स्पर्श यह (इस प्रकार) दो प्रकार का स्पर्श ही सुखदायी एवं दुःखदायी वेदनाओं का प्रवर्तक है॥५॥

सुख तथा दुःख से इच्छात्मक एवं द्वेषात्मक तृष्णा उत्पन्न होती है, फिर वही तृष्णा सुख एवं दुःख का कारण कही जाती है॥६॥

इसका कारण यह है कि, तृष्णा वेदनाओं के आश्रयभूतभावों को ग्रहण करती है, क्योंकि विना ग्रहण के स्पर्श नहीं होता और स्पर्श के बिना वेदनाओं का अनुभव ही नहीं हो सकता ॥७॥

(वेदनाधिष्ठानम्)

वेदनाओं का अधिष्ठान (स्थान) है केश, रोम, नखाग्र, अन्न, मल, द्रव गुणों के विना इन्द्रिय सहित शरीर और मन ॥८॥

योग तथा मोक्ष में कोई वेदना नहीं होती है। मोक्ष में सम्पूर्ण विषयों, सभी बातों की निवृत्ति हो जाती है और योग-से मोक्ष की प्राप्ती होती है ॥९॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा विषयों का जब आपस में संयोग होता है तभी सुख एवं दुःख की प्रवृत्ति (अनुभूती) होती है और यदि किसी कार्य विशेष में न लगकर मन यदि आत्मा में तो क्या होगा ? आगे बताते हैं ॥१०॥

(योगः)

यदि मन आत्मा में स्थिर हो जाय तो सुख-दुःख दोनों निवृत्त हो जाते हैं तथा शरीर सहित इन्द्रियाँ अपने वशीभूत हो जाती हैं। ऋषिवृन्द इसी अवस्था को योग कहते हैं ॥११॥

चित्त का आवेश अर्थों का ज्ञान, स्वच्छन्दता-से कार्य करना, दृष्टि, श्रवण, स्मृति, कान्ति और अपनी इच्छा के अनुसार अदृष्ट हो जाना ॥१२॥

इस प्रकार यह आठ प्रकार का दैवी सामर्थ्य योगियों को प्राप्त हो जाता है। शुद्धचित्त की समाधि लगने-से ही यह सब बातें उत्पन्न होती है ॥१३॥

(मोक्षः)

रजोगुण एवं तमोगुण के क्षीण (अभाव) होने के कारण कर्मों के क्षय हो जाने-से कर्म के संयोग से रहित हो जाने को मोक्ष तथा अपुनर्भव कहते हैं ॥१४॥

अच्छी प्रकार-से सज्जनों की उपासना, असज्जनों का त्याग, व्रत, उपवास, अनेक प्रकार के नियम् ॥१५॥

धर्मशास्त्र का अभ्यास, विज्ञान, निर्जन स्थान में रहने की आकांक्षा विषयों से वैराग्य, उनकी प्राप्ति में इच्छा का अभाव, मोक्ष के लिए उद्योग, अतिशय धैर्य ॥१६॥

नए-नए कर्मों को आरम्भ न करना, पूर्व कर्मों का नाश या त्याग, कर्मशून्य होना (विषय सम्बन्धी कर्म) मलिन अहंकार का त्याग, संयोग से भय ॥१७॥

मन एवं बुद्धि का समाधिस्थ होना तथा अर्थ तत्त्व की परीक्षा करना यह सब बातें स्मृति के उपस्थित होने-से होती है ॥१८॥

(सत्त्वस्मृतेः धारणानि)

जिन आठ कारणों-से स्मृति उत्पन्न होती है, उनको कहते हैं दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थों का निमित्त ग्रहण से रूप ग्रहण-से, सादृश्य-से, विपर्यय-से, मन को लगाये रखने-' से, अभ्यास से, ज्ञानयोग-से तथा पुनः सुनने से जो स्मरण होता है, उसे स्मृति कहते हैं ॥२०-२१॥

मुक्त लोगों ने तत्त्वों के स्मृति बल को ही मोक्ष का मार्ग कहा है, जिसके द्वारा जाकर पुनः पुरुष इस संसार में वापस नहीं आता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥२२॥

योगी लोगों ने भी इसे योग का मार्ग कहा है और सांख्य जानने वालों ने भी इसी को मोक्ष का मार्ग कहा है ॥२३॥

(अज्ञानम्)

इस संसार में जो कुछ है सो सब कार्यरूप है, दुःखद है, एवं अनित्य है। संसार में अपना कुछ भी नहीं हैं फिर भी इसमें स्वत्व तब तक बना रहता है।

(ज्ञानम्)

जब तक यह 'मैं नहीं हूँ' और 'यह मेरा नहीं है' यह सत्यबुद्धि नहीं उत्पन्न होती और सत्य बुद्धि के उत्पन्न होने पर ज्ञानी पुरुष सबका त्याग कर देता है ॥२४-२५॥

(चरमः त्यागः)

उस अन्तिम त्याग में नाम सहित सम्पूर्ण वेदना ज्ञान-विज्ञान के द्वारा मूल सहित नष्ट हो जाती हैं।

उसके बाद जीवात्मा ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, फिर वह चिह्नों-से नहीं जाना जाता है, वह सम्पूर्ण भावों से पृथक् हो जाता है, इससे उनके कोई चिह्न नहीं रहते क्योंकि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में ही लीन जाते हैं और ब्रह्म अक्षय तथा लिङ्गों (चिह्नों) से रहित है। ब्रह्म ज्ञानी लोग ही उनको जान सकते हैं अज्ञानी लोग उस ब्रह्म को नहीं जान सकते हैं ॥२७-२८॥ (चरक सं.)

सम्बन्ध—शरीर के छः प्रकार की त्वचा का वर्णन।

१. उदकधरात्वग्बाह्या। २. असृग्धरा। ३. सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना।
४. कुष्ठसम्भवाधिष्ठाना ५. अलजीविद्रधीसम्भवाधिष्ठाना।
६. यस्यांछिन्नायां मूर्छति। (चरक शा./ ७/४)

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्षमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्राश्मशाने वने।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु, शय्यामही
संचारो निगमान्तर्वीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणी।।

(वि.चू. ५३९)

अर्थ—शरीर में छः त्वचा हैं उनमें पहली बाह्य त्वचा उदकधरा (जल को धारण करने वाली), दूसरी असृग्धरा (रुधिर को धारण करने वाली), तीसरी सिघ्म (सेंहुआ) तथा किलास की स्थान है, चौथी त्वचा कुष्ठ की उत्पत्ति स्थान है, पाँचवी त्वचा अलर्जी तथा विद्रधिनाम के फोडाओं के होने का स्थान है और छठी त्वचा वह है जिसके कटजाने से मनुष्य बहुत व्याकुल होता है, अज्ञान हो जाता है। (च.शा. ७/४)

सम्बन्ध—निम्नलिखित पद्य, (भूम्नेशान्त...) पूज्य स्वामीवय श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज द्वारा रचित है, इसमें पूज्यस्वामी जी ने अपने सद्‌गुरुदेव प्रातः स्मरणीय ब्रह्मर्षि श्रीशान्तबोधाश्रमी जी एवं परमगुरुदेव ब्रह्मर्षि श्री आनन्दाश्रमजी महाराज जी की वन्दना की है।

पूर्ण बोधस्वरूप महाराज जी जो सर्वदा प्रत्यक चैतन्याभिन्न स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, जहाँ भेद का अवसर ही नहीं है; क्यों कर स्वसद्‌गुरुद्वय की वन्दना की ? जबकि सद्‌गुरुद्वय भी वस्तुतः स्व-से अभिन्न बोधस्वरूप ही हैं। कहा भी गया है—

''**वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुता स्तोत्रं विधीयते**'' (परापूजा)

वस्तुतः श्लोकस्थ पदों का विचार करने से प्रतीति होता है कि स्वामी जी महाराज की दृष्टि तत् पद वाच्य साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म मैं ही स्थित है और वे उन्हीं की वन्दना कर रहे हैं जोकि सद्‌गुरु द्वय के रूप में ही सर्वथा निर्गुण होते हुए भी सगुण रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। जिनकी वन्दना लोकसंग्रहार्थ सर्वथा शास्त्रानुकूल है। भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी महाराज ने अपने तत्वपदेश नामक ग्रन्थ में कहा है—''यावदायुस्त्रयो वन्द्याः वेदान्तोगुरुरीश्वरः'' प्रारब्धानुसार जब तक शरीर है। तब तक वेदान्त, गुरु एवं ईश्वर की वन्दना अवश्य करनी चाहिये। वस्तुतः ये तीनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हुए भी एक हैं।

''चिन्ताशून्य'' पद्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्य द्वारा रचित विवेक-चूड़ामणि ग्रन्थ का है। सर्वदा स्वस्वरूप में स्थित रहने वाले महापुरुष के लिए सम्पूर्ण शास्त्रतद्द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेध से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता फलस्वरूप उनकी रहनी की कोई सीमा रेखा बनाना असम्भव है, अतः भाष्यकार कहते हैं।

अवस्थात्रय हीनाय अवस्थात्रयसाक्षिणे।
चिदानन्द स्वरूपाय, तुरीयाय नमोनमः।।

(१४ स्व.कृ.)

अर्थ—आत्मज्ञ होने के कारण सर्वतः चिन्ताशून्य पुरुष का भिक्षान्न ही भोजन तथा नदियों का जल ही पान होता है, क्योंकि उसमें दीनता का अभाव है। विधि-निषेध के ऊपर होने के कारण वे स्वतन्त्र है, अतः उनकी स्थिति निरङ्कुश होती है। निर्भय होने के कारण वे चाहे श्मशान हो या वन सुख पूर्वक निद्रा लेते हैं। जब दिशाओं को ही वस्त्र रूप में मान लिया तो फिर क्या धोना और क्या सुखाना, जब भूतल को ही शय्या बना लिया तो फिर पर्यङ्क की क्या आवश्यकता, उनका आवागमन विषयीपुरुषों की गलियों में नही अपितु वेदान्त-वीथियों में होता है, क्योंकि वे ब्रह्मवेत्ता है और उसी में रमण करते हैं।

अर्थ—आत्मतत्त्व तीनों ही अवस्थाओं से रहित है, क्योंकि वह इन तीनों का साक्षी है। अतः चिदानन्दस्वरूप है, क्योंकि वह अपरिणामी है, ऐसे तुरीय तत्त्व परिशेषात् सबसे अलग चतुर्थ तत्त्व है, उसको बारम्बार नमन है।

व्याख्या—अवस्थात्रयहीनाय—तुरीय तत्त्व बाल्य, युवा एवं वृद्धावस्था से रहित होता है। ये अवस्थायें दृश्यमान जगत के सभी वस्तुओं में देखी जाती है तथा अवस्थात्रयसाक्षिणे—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का भी वह साक्षी है क्योंकि वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। चिदानन्दस्वरूपाय—साधनान्तर नैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानतयेतर पदार्थावभासक यत् तच्चित् और यहि उसके साक्षित्व होने का कारण भी है क्योंकि साक्षि कभी भी परम्परया किसी का द्रष्टा नहीं होता, आनन्दः—आङ् उपसर्ग पूर्वक टुनदिसमृद्धौ (भ्वादि.) धातु से घञ् प्रत्ययकर आनन्द शब्द की सिद्धि होती है, जिसका तात्पर्य सर्वसमृद्ध्यर्थक होता है। आनन्दः सुखस्वरूपम् सुखद्विविधम्–सातिशयन्निरतिशयञ्च। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरण वृत्तितार तम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः। एतस्यैवानन्द-स्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ.उ. ४/३/२) निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव। आनन्दो, ब्रह्मेति व्यजानात् (तै.उ. ३/६) विज्ञानमानन्द ब्रह्म (बृ.उ. ३/१८)

अष्टावक्र जी ने भी—

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्व सुखं चर।।

जिस अधिष्ठान सत्ता में रज्जु में सर्प की तरह दृश्यमान जगत् अज्ञान से कल्पित होकर

अनाथः स्नेहार्द्रां, विगलितगतिः पुण्यगतिदां
पतन विश्वोद्धर्त्रीं गदविगलितः सिद्धभिषजम्।
सुधासिन्धुं तृष्णाकुलित हृदयो मातरमयं
शिशुः सम्प्राप्तस्त्वामहमिह विदध्याः समुचितम्।।
(गंगा ल. २४)

यदाचायं न बिभेति, यदाचास्मान्नबिभ्यति।
यदानेच्छति न द्वेष्टि, ब्रह्मसम्पद्यते तदा।।
(महाभा.शा. २५०)

भासित हो रहा है वह आनन्द-परमानन्द बोध स्वरूप और कोई नहीं तुम्ही हो, ऐसा जानकर सुख से विचरण करो।

भगवान् भाष्यकार ने विवेक-चूड़ामणि में—

प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं, निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्।

वह तत्व शान्त, आदि-अन्तरहित, अक्रिय और सदैव आनन्दस्वरूप है। स्वरूप पद लक्षण का वाचक है।

तुरीयायु नमोनमः—अवस्थायें तीन मानी जाती है, जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति। इनकी अपेक्षा से आत्मतत्व को तुरीय कहते हैं। आत्मा में तुरीयत्व की कल्पना भी अविद्या के कारण ही वस्तुतः अवस्थातीत साक्षी के लिये तुरीयत्त्व की कल्पना साधक के बोधार्थ ही है, यथार्थ नहीं।

अर्थ—हे तापत्रयनिवारिणी गङ्गे! मैं अनाथ हूँ और तुम स्नेहरस से सिक्त रहती हो, मैं विनष्ट ज्ञान वाला हूँ अतः मोक्ष का अनधिकारी हूँ किन्तु तुम पुण्यातमाओं की कौन कहे पापात्माओं को भी गति देनेवाली हो। मैं निजकर्मवशात् नरक में गिरने जा रहा हूँ किन्तु तुम तो सारे विश्व का उद्धार करनेवाली हो फिर मेरा उद्धार कैसे नहीं करोंगी। रोगों के कारण मेरे सारे अंग गल गये है किन्तु तुम सुधासिन्धु हो क्या देख भी नहीं रही हो कि मेरा हृदय तृष्णा से विदीर्ण हो रहा है, अरि मा! में छोटा सा बालक तुम्हारी शरण में आया हूँ अब तुम्हें जो ठीक लगे सो करो अधिक क्या कहूँ।

सम्बन्ध—यदाचायं—यह पद्य शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के दो सौ इक्यावनवें अध्याय का पाँचवा श्लोक है। दो सौ पचासवें अध्याय का पहला श्लोक शुक्र उवाच है, जिसमें शुकदेव जी

के प्रश्न करने पर भगवान् व्यास जी पाँच अध्यायों में इसका उत्तर देते हैं। शुकदेव जी के— यस्माद् धर्मात् परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन। यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतुमे ।। अर्थात् हे पिताजी ! इस लोक में जिस धर्म-से पर माने सवश्रेष्ठ कोई दूसरा धर्म नहीं है तथा जो सभी धर्मों से विशिष्ट है, विशेष रूपेण शिष्टों के द्वारा अनुष्ठित है उसको आप मुझसे चाहिये।

इस प्रश्न के उत्तर देने के क्रम में भगवान् व्यास जी ने कहा हे पुत्र ! 'यदाचायं न बिभेति यदा चस्मान्न बिभ्यति'। यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।

अर्थ—बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला यह पुरुष जिस समय दूसरे प्राणियों से भयभीत नहीं होता और दूसरे प्राणी भी इससे भयभीत नहीं होते तथा जब यह अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर देता है, फलस्वरूप किसी से द्वेष भी नहीं करता कारण द्वेष का कारण इच्छा ही है, उसी समय उसके द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति कर ली जाती है।

व्याख्या—**च**—और, **अयं** = बुद्धि के द्वारा अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करने लेने वाला यह पुरुष, **यदा** = जिस समय, किसी-से भी, **न बिभेति** = भयभीत नहीं होता है, **च** = और, **यदा** = जिस समय **अस्मात्** = इस संयमित पुरुष से भी, **न बिभ्यति** = कोई भी प्राणी भय को प्राप्त नहीं होता, **यदा** = जिस समय यह पुरुष, **नेच्छति** = किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता, क्योंकि काठकश्रुति कहती—"यदा सर्वेप्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः। अथ मर्त्योऽमर्त्य भवति अत्र ब्रह्मसमश्नुते ।। जिस समय हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का अभाव हो जाता है, उसी समय पुरुष को ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। क्योंकि कामनाओं का उदय तब होता है जब व्यक्ति अपने को अपूर्ण जानता है, वस्त्वपेक्ष होकर वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है, फलस्वरूप उसके हृदय में कामनाओं को उदय होता है, और वह उसी कामनाओं की पूर्ति में लगा रहता है। **नद्वेष्टि**—जिस समय यह किसी-से द्वेष भी नहीं करता, राग-द्वेष दोनों ही असत्य में अभिनिवेश के कारण होता है। जो वस्तु अपने लिये अच्छी होती है, उसके प्रति राग होता है, और इसके विपरीत द्वेष एक की प्राप्ति में तो एक की निवृत्ति में राग होता है, इसी प्रकार एक की निवृत्ति में, तो दूसरे प्राप्ति में। **तदा**—उस समय उसे ब्रह्म-स्वरूप का सम्पद्यते—सम्यक् अनुभव हो जाता है।

ब्रह्मानुभूति में बाधक क्या है, क्यों नहीं स्वरूप का अनुभव होता है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर भगवान् व्यास कहते हैं।

कामबन्धनमेवैकं, नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तोहि, ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

(९/२५२)

अर्थ—इस संसार में बन्धन का कोई कारण है, तो वह है 'काम' इससे भिन्न तो दूसरा कारण हो ही नहीं सकता, जो इस 'काम' अर्थात् कामना रूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है वह साक्षात् ब्रह्म ही है।

व्याख्या—**इह**—परिदृश्यमान प्रतिक्षण परिवर्तनशील विनाशी इस संसार में, एकम् एव निश्चित रूप से एक ही बन्धनम्—बाँधनेवाली वस्तु है, और वह काम-(कामना) है, इच्छा है। 'काम' का तात्पर्य "इदं में स्यात् इदं मेस्यात् इति इच्छा कामशाब्दिता" यह वस्तु मुझे मिल जाय; इस तरह की जो चाहना हुआ करती है, उसे ही काम या कामना कहते हैं।

भगवान् श्रीशंकराचार्यजी ने गीताभाष्य में 'काम' व्याख्यावसर में 'कामयन्ते इति कामाः" (१६/११) अर्थात् पुरुष जिन शब्दादि विषयों की कामना करता है वे शब्दादिविषय ही काम हैं। वहीं (उसी अध्याय में)

त्रिविध नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तया लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्येजत्।। (१६/२१)

शाङ्करभाष्य—त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ इदं द्वारं नाशनम् आत्मनो यद् द्वारं प्रविशन् एव नश्यति आत्मा कस्मैचित् पुरुषार्थाय योग्यो न भवति इति एतद् अत उच्यते द्वारं नाशनम् आत्मनः इति।

नरक की प्राप्ति में द्वारभूत त्रिविध कामादि आत्मा का नाश करने में कारण हैं, जिस द्वार में प्रवेश करने मात्र से आत्मा विनाश को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् किसी पुरुषार्थ के योग्य वह नहीं रहता। एतस्मात् कारणात् भगवान् ने कहा ये आत्मा का विनाश करते हैं, अतः नरक के द्वार हैं। सम्पूर्ण आसुरी सम्पदा का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। अकं दुःखं भवन्ति नरान् नरकस्थितान् मनुष्यान् येभ्यः कामदिभ्यः तदेव कामादि द्वारं मार्गः। आत्मा की उपलब्धि का जो द्वार था, वही आत्मा का विनाश कर नरक अर्थात् नीचयोनि की प्राप्ति का द्वार हो गया यही आत्मा का नाश करना है, अतः मुमुक्षु को इनका त्याग कर देना चाहिये।

भगवान् भाष्यकार ने सर्ववेन्दातसिद्धान्त सारसंग्रह में—"काम एव यमः साक्षात्" "यमस्य

कामस्य च तारतम्यम्, विचार्यमाणे महदस्ति लोके। हितं करोत्यस्य यमोऽप्रियः सन् कामस्त्वनर्थंकुरुते प्रियः सन्॥

यमोऽसतामेव करोत्यनर्थं सतां सु सौख्यं कुरुते हितः सन्। कामः सतामेव गतिं निरुन्धन्करोत्यनर्थं ह्यसतांनुकाकथारा॥ काम ही साक्षात् यम है, यदि इनकी आपस में तुलना की जाये, तो यम की अपेक्षा काम ही इस संसार में बलवान् है यमराज तो अप्रिय होकर पुरुष का हित करता है, किन्तु दुष्ट मित्र की तरह काम प्यारा बनकर विनाश कर देता है।

यम तो असाधु पुरुषों के लिये हि अनर्थ का दुःख का कारण होते हैं साधु पुरुषों के नहीं, किन्तु काम तो ज्ञान को ढककर साधु पुरुषों तक का विनाश कर देता है, फिर असाधु पुरुषों की तो बात ही क्या।

कामबन्धनमुक्तो हि-जो कामनारूपी बन्धन से मुक्त है तो इस काम विजय अर्थात् कामबन्धन से छूटने का क्या उपाय है ? उत्तर में भगवतपाद कहते हैं—

संकल्पस्य परित्याग उपाय सुलभोमतः॥
श्रुते दृष्टेऽपि वा भोग्ये यस्मिन्कस्मिश्च वस्तुनि।
समीचीनत्वधीत्यागात्कामो नोदेति कर्हिचित्॥
कामस्य बीजं संकल्पः संकल्पादेव जायते।
बीजे नष्टेऽकुर इव तस्मिन्नष्टे विनश्यति॥

काम बन्धन-से मुक्त होने का सरल-से-सरल उपाय है कि साधक संकल्प का भलिभाँति अर्थात् पूर्णरूपेण परित्याग कर दे। वह त्याग किस प्रकार-से करे ? इस पर कहते हैं ऐहिक-आमुष्मिक चाहे जो भी वस्तु देखने, सुनने या अनुभव में आती हो उन सबमें समीचीनत्व बुद्धि का अर्थात् यह अच्छी है; यह बुरी है का त्याग कर दे, बस फिर कभी भी कामनाओं का उदय नहीं हो सकता, क्योंकि यह अच्छा है; यह बुरा है ऐसा चिन्तन ही संकल्प है, जोकि काम की बीज है, जब बीज ही नष्ट हो गया तो फिर अंकुर कहाँ होगा। अनर्थ परम्परा की ही निवृत्ति हो जायगी। और वह जो साक्षात् ब्रह्म है अनुभव में आ जायगा।

ॐ नवग्रहपीडाहरस्तोत्रम्

ॐकार की व्याख्या ग्रन्थमुख में देखें। नवग्रहकृत जो पीड़ा, उसका हरण करने वाला, स्तोत्र। ग्रह संख्या नौ है; यथा—

अथ खेता रविश्चन्द्रो मङ्गलश्च बुधस्तथा।
गुरुः शुक्रः शनी राहुः केतुश्चते यथाक्रमम।।३।।

ग्रहों की जात्यादि निरूपणानन्तर ब्रह्मर्षि लिखते है, यथाक्रम सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि तथा राहु और केतु ये नौ ग्रह होते हैं। राहु और केतु छाया ग्रह माने जाते हैं।

इन सूर्यादिकों का नाम ग्रह पड़ने का कारण है कि ये सभी स्वगत्या सत्ताईस नक्षत्रों या द्वादश राशियों का उपभोग या ग्रहण करते हैं।

ग्रह्यन्ते स्वगत्या द्वादशमानि यैः ते ग्रहाः।
गच्छन्तो भानि गृहणन्ति सततं ये तु ते ग्रहाः।। (बृहत्पाराशरहोराशास्त्र)

पीड़ा शब्द यहाँ तत्-तत् ग्रह कृत रोगादिव्याधियों का वाचक है। यथा—

सूर्य सदाऽग्निरोगस्वर वृद्धिदीपनक्षयातिसारादिकरोगसंकुलम्।
नृपालदेवावनिदेवकिङ्करैः करोति चित्तव्यसनं दिवाकरः।।

सूर्य के अशुभ होने के कारण सर्वदा अग्निरोग, ज्वरवृद्धि, जलन, क्षय, अतिसारादि रोग समुदायों के कारण तथा नृप, देवता, अवनिदेव अर्थात् ब्राह्मण, भृत्यों के द्वारा चित्त अर्थात् मन-बुद्धि में व्यसन अर्थात् दुःख (क्लेश) पैदा करता है।

चन्द्र—पाण्डुदोषजलदोष कामलापीनसादिरमणीकृतामयैः।
कालिकासुरसुवासिनीगणैरकुलं च कुरुते चन्द्रमा।।

चन्द्रमा के अशुभत्वात् पांडुदोष, जलदोष, कामला पीनसादि रोगों से कष्ट होता है। एवञ्च रमणी अर्थात् स्त्रीकृतरोग द्वारा कालिका अदृष्टशक्ति विशेष असुर तथा सुवांसिनीगणों से व्यक्ति कष्ट उठाता है।

मंगल—पीनबीजकफशस्त्रपावकग्रन्थिरुगव्रणदद्रिजामयैः।
वीरशैवगणभैरवादिभिर्भीतिमाशु कुरुते धरासुतः।।

मंगल के कारण पीनबीज, कफ, शस्त्र, अग्नि, ग्रन्थि (गाँठ) रोग, घाव, दरिद्रता से उत्पन्न रोग तथा वीर, शैवगण एवं भैरवादिकों के कारण आशु भय की प्राप्ति होती है।

बुध— गुह्योदरादृश्यसमीर कुष्ठमन्दाग्निशूलग्रहणीरुगाद्यैः ।
बुधादिविष्णुप्रियदासभूतैरनीवदुःखं शशिजः करेति ।।

यदि बुध किसी का खराब हो तो, गुह्य, उदर, नेत्र, वायु, कुष्ठ, मंदाग्नि, शूल, संग्रहणी आदि रोगों के कारण व्यक्ति पीड़ा उठाता है, एवं विष्णुप्रियदासादि को से भी क्लेश होता है।

गुरु— आचार्यदेवगुरुमसुरशापदोषैः
शोकञ्च गुल्मरुजमिन्द्रगुरुः करोतिः ।

गुरु क अशुभ होने के कारण व्यक्ति आचार्य, देवता, गुरु ब्राह्मणों के शाप के कारण शोक एवं गुल्म रोग से पीड़ित होता है।

शुक्र— कान्ताविकारजनिमेहरुजा सुराद्यैः,
स्वेष्टाङ्गनाजनकृतैर्भयमासुरेज्यः ।।

शुक्र खराब हो तो कान्ता के विकार से प्रमेह रोग होता है। असुरों एवं अपनी प्रिया के कारण हीं भय होता है।

शनि— दारिद्यदोषनिजकर्मपिशाचचौरेः,
क्लेशं करोति रविजः ।

शनि के कारण दरिद्रता के दोष, स्वकर्मवशात् पिशाचों एवं चोरों के कारण क्लेश हुआ करता है।

केतु— सहसन्धिरोगैः । काण्डूमसूरिरिपुकृत्रिमकर्मरोगैः,
स्वाचारहीनलघुजातिगणैश्च केतुः ।।

केतु के कारण सन्धिरोग, खुजली, शीतला, दाद, शत्रुकृत् रोगों के कारण एवं स्वाचार-से भ्रष्ट होने के कारण तथा नीच जातियों के कारण कष्ट होता है।

राहु— करोत्यपस्मारमसूरिरज्जुक्षुददृक्क्रृमिप्रेतपिशाचभूतैः ।
उद्बन्धनेनारुचिकुष्ठरोगैर्विधुन्तुदश्चातिभयंनराणाम् ।।

राहु अशुभ हो तो मृगी, शीतला, फाँसी, संक्रामक रोग, नेत्ररोग, कृमिरोग, प्रेत, पिशाचों से भय होता है, स्वं कारागार जनित दुःख, अरुचि, कुष्ठ रोग के कारण भी क्लेश होता है।
(जातकपारिजात)

यहाँ तत्-तत् ग्रहों से सम्भावित रोगों का समासेन परिचय दे दिया गया विस्तृत ग्रन्थान्तर में द्रष्टव्य है। क्लेशों के निवारणार्थ—

यद्धातुकोपजनिताखिलरोगशान्त्ये तन्नाथमाशु जपतर्पणहोमदानैः ।
सम्पूज्य रोगभयशोकविमुक्तचित्ताः, सर्वेनराः सुखयशोबलशालिन स्युः ।।

जिस ग्रह के धातु कोप से रोगादिकी उत्पत्ति होती है, उनके शमनार्थ तद्रोग सम्बन्धित ग्रहों के लिये आशु जप-होम-तर्पण दान रत्नादि धारण, औषध्यादि से स्नान-सेवन कर व्यक्ति रोग, शोक, भय, चिन्ता से मुझ होकर सुख, यश बलादि से युक्त हो जाता है।

सूर्यादि ग्रह सम्बन्धित रोगों का शमन नवग्रहपीडाहरस्तोत्र के प्रत्येक मन्त्र का क्रमेण विनियोग कर के भी किया जा सकता है।

संक्षेप में अन्य उपायों का भी दर्शन कराया जा रहा है यथा—

सूर्य के लिये दान-सामग्री

गोधूमान्नं गुडं ताम्रं काञ्चनं रक्तचन्दनम्।
माणिक्यं रक्तवस्त्रं च गामर्काय निवेदयेत्।।

गेहूँ, गुड़, ताम्र सुवर्ण, रक्तचन्दन, माणिक्य, रक्तवस्त्र तथा सवत्सा गाय भगवान् सूर्य के लिये दान करना चाहिये।

रत्न	—	माणिक्य।
व्रत दिवस	—	रविवार।
धारणार्थ जड़	—	लाल धागे में बिल्व का जड़।
जप मन्त्र	—	ॐ ह्रां, ह्रीं, ह्रौं, सः, सूर्याय नमः।
जप संख्या	—	७०००
जप समय	—	सूर्योदय
हवन समित	—	आक

अन्यान्य-पूजा—द्विजों के लिये गायत्री, तदतिरिक्त हरिवंश पुराण श्रवण-अध्ययन, सूर्यपूजन, सूर्यार्घ्य।

चन्द्र—तण्डुलं वंशपात्रस्थं मुक्ता रौप्यं सितांशुकम्।
धृतपात्रं सकर्पूरं वृष चन्द्राय चाऽपयेत्।।

अर्थ—चावल वंशपात्रसह, मोती, चाँदी, श्वेतवस्त्र, कपूरसह घृतपात्र, वृष, श्वेतचन्दन, शङ्ख, दही, दूध, काँसे का पात्र चन्द्रमा की प्रसन्नता के ब्राह्मण को दान करना चाहिये।

रत्न	—	मोती
व्रतदिवस	—	सोमवार
धारणार्थ जड़	—	सफेद धागे में खिरनी की जड़।
जपमन्त्र	—	ॐ श्रां, श्रीं, श्रौं, सः, चन्द्रमसे नमः।

जपसंख्या — ११०००

जपसमय — सन्ध्या

हवनसमित — पलाश

अन्यान्यपूजा — शिवपूजा, पूर्णिमाव्रत।

भौम—गोधूम-गुणता म्राणि प्रवालं काञ्चनं वृषम्।
रक्तं मसूरं वस्त्रं च चन्दनं कुजहेतवे।।

अर्थ—गेहूँ, ताम्रवस्तु, मूँगा, स्वर्ण, वृष, लाल वस्त्र, मसूर, लाल चन्दन, घी, लालफल का दान करना चाहिये।

रत्न — मूँगा

व्रतदिवस — मंगलवार

धारणार्थ जड़ — लाल धागे में अनन्तमूल की जड़।

जपमन्त्र — ॐ क्रां, क्रीं, क्रौं, सः, भौमाय नमः।

जपसंख्या — १०,०००

जपसमय — सूर्योदय

हवनसमित — खैर

अन्यान्यपूजा — हनुमत् पूजन, मंगल पूजन, पृथिवी व ग्रहपूजा।

बुध—नीलांशुकं सर्वपुष्पं गजदन्तृश्च काञ्चनम्।
बुधाय दासीं मुद्गाज्ये कांस्यं दद्यात् प्रयत्नतः।।

हरावस्त्र, सर्वपुष्प, गजदन्त, स्वर्ण, भाष, घृत, कांस्यपात्र, शर्करा का दान करना चाहिये।

रत्न — पन्ना

व्रतदिवस — बुधवार

धारणार्थ जड़ — हरे रंग के धागे में विधारा की जड़।

जपमन्त्र — ॐ ब्रां, ब्रीं, ब्रौं, सः, बुधाय नमः।

जपसंख्या — २,०००

जपसमय — सूर्योदय

हवनसमित — अपामार्ग

अन्यान्यपूजा — गणेश पूजन, दुर्गापूजन, बुधपूजन।

गुरु—हरिद्रां शर्करां पीतं काञ्चनमम्बरम्।
लवणं पुष्परागं च तुरगं प्रीतये गुरोः ।।

हल्दी, शर्करा, पीलावस्त्र, स्वर्ण, लवण, पीला फल फूल, अश्व, चने की दाल, धार्मिक पुस्तक, कांसे के पात्र का दान करना चाहिये।

रत्न	—	पुखराज
व्रतदिवस	—	गुरुवार
धारणार्थ जड़	—	पीले धागे में केले की जड़।
जपमन्त्र	—	ॐ ग्रां, ग्रीं, ग्रौं, सः, गुरवे नमः।
जपसंख्या	—	१९,०००
जपसमय	—	संध्या
हवनसमित	—	पीपल
अन्यान्यपूजा	—	ज्ञानवृद्ध की पूजा।

शुक्र—स्वर्णं चित्राम्बरं रौप्यं धेनु श्वेततुरङ्गकम्।
वज्रमाज्यं तण्डुलांश्च कर्पूर प्रीतये गुरौ ।।

स्वर्ण, चित्रवस्त्र, चाँदी, गौ, श्वेत घोड़ा, हीरा, धृत, चावल, कपूर, मिस्री, श्वेतचन्दन, चमकीलावस्त्र शुक्र के दान करें।

रत्न	—	हीरा
व्रतदिवस	—	शुक्रवार
धारणार्थ जड़	—	चमकीले डोरे में सरपोंखा की जड़।
जपमन्त्र	—	ॐ द्रां, द्रीं, द्रौं, सः, शुक्राय नमः।
जपसंख्या	—	१६,०००
जपसमय	—	सूर्योदय
हवनसमित	—	गूलर
अन्यान्यपूजा	—	शुकपूजन, लक्ष्मीपूजन, शिवपूजन।

शनि—नीलरत्नं तिलाः नीलाः कुलित्था महिणी शने।
तिलतैलं कृष्णवस्त्रं लौहं दद्याच्च प्रीतये ।।

नीलम, तिल, नील, कुलथ महिषी, तिलका तेल, कृष्णवस्त्र, लोहा उड़द, काले चने, चाकू शनि के लिए दान दें।

रत्न — नीलम

व्रतदिवस — शनिवार
धारणार्थ जड़ — काले डोरे में बिच्छू की जड़।
जपमन्त्र — ॐ प्रां, प्रीं, प्रौं, सः, शनैश्चराय नमः।
जपसंख्या — २३,०००
जपसमय — संध्या
हवनसमित — शमी
अन्यान्यपूजा — भैरव की पूजा, शनि की पूजा।

राहु—गोमेदमश्वं तैलं च तिलानपि चकम्बलम्।
नीलवस्त्रं सलोहञ्च दद्याद्राहोः प्रतुष्टये।।

गोमेद, अश्व, तेल, तिल, कम्बल, नीलवस्त्र, लोहे के साथ, उड़द, अष्टधातु, खिचड़ी चाकू, नारियल राहु के लिये।

रत्न — गोमेद
व्रतदिवस — राशिस्थ स्वाम्यनुरूप
धारणार्थ जड़ — सफेद चन्दन (स्वाम्यनुरूप)
जपमन्त्र — ॐ भ्रां, भ्रीं, भ्रौं, सः, राहवे नमः।
जपसंख्या — १८,०००
जपसमय — रात्रि
हवन समित् — दूर्वा
अन्यान्यपूजा — सर्प, शिव राहु-पूजन।

केतु—वैडूर्यरत्नं तैलञ्च तिलान कम्बलमर्पयेत्।
शस्त्रं मृगमृदं नीलपुष्पं केतुप्रतुष्टयेत्।।

लहसुनिया, तेल, तिल, कम्बल, शस्त्र, कस्तूरी, नीलपुष्प केतु के लिये।

व्रतदिवस — राशि के स्वामी के अनुरूप
धारणार्थ जड़ — असगन्ध की जड़।
जपमन्त्र — ॐ स्त्रां, स्त्रीं, स्त्रौं, सः, केतवे नमः।
जपसंख्या — १०,०००
जपसमय — रात्रि
हवनसमित — कुशा
अन्यान्यपूजा — गणेश, केतु पूजा।

"श्रीगणेशाय नमः"

ॐ ग्रहाणामादिरादित्यो लोकरक्षणकारकः ।
विषमस्थानसंभूतां, पीडां हरतु मे रविः ।।१।।

"श्री गणेशाय नमः"

सर्वशोभासम्पन्न गणों के स्वामी, शासन कर्ता भगवान् गणेश जी को नमस्कार है।

अर्थ–आप माता अदिति के पुत्र है, ग्रहों में भी आपको आदि (प्रधान) स्थान प्राप्त है, आप सर्वदालोकों की रक्षा करते रहते हैं। प्रारब्ध वशात् मेरे मर्म स्थानों में अत्यधिक पीड़ा हो रही है, कृपा करके आप इस पीड़ा को दूर कर दें, आप-से यह विनती है, मैं आपकों नमन करता हूँ।।१।।

व्याख्या–आदित्यः = हे भगवन्! आप माता अदिति के पुत्र हैं। अदितेरपत्यम् पुमान् आदित्यः (ण्य दित्यदित्या ४/१/८५)। **आदित्यः कस्माद्?** = आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदिते पुत्र इति वा।

आदित्यः कस्मात? = किस कारण आदित्य को आदित्य कहते हैं? **आदत्ते रसान्** = क्योंकि यह अपने रश्मियों के द्वारा आद्र वस्तुओं से रसों को ग्रहण करते हैं। **ज्योतिषाम् भासम्** = ज्योतियों अर्थात् चन्द्रादिकों के भास को माने प्रकाश को अपने प्रकाश से आदत्ते–ले लेते हैं प्रभाहीन कर देते है क्योंकि आदित्य के उदय होने पर इसके प्रकाशाधिक्य के कारण अन्य सभी के प्रकाश का भान नहीं होता।

आदीप्तो भासेति वा = यह भासा-से प्रकाश-से आदीप्त हैं सभी ओर-से आवृत है, चमक रहे हैं। अर्थात् प्रकाशस्वरूप हैं अतः आदित्य है।

अदितेः पुत्र इति वा = यह अदिति के पुत्र हैं, अतः आदित्य हैं।।१।।

ग्रहाणाम् आदिः = ग्रहों मे आदित्य आदि क्यों है? क्योंकि आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद्भूमिर्जायते आदित्यादापो जायन्ते। आदित्याज्ज्योतिर्जायते। आदित्यादव्यामदिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्यावेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति। **असावादित्यो ब्रह्म**। आदित्योऽन्तःकरण मनोबुद्धिचित्ताहंकाराः। आदित्यो वै व्यानः समानोदानोऽपाना प्राणः। आदित्यो वै श्रोत्रत्वकचक्षूरसनघ्राणाः। आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। आदित्यो वै वचनादानागमनविसर्गानन्दाः। आनन्दमयो ज्ञानमयो विज्ञानमय आदित्यः। (सूर्यो०)

अभेद दृष्ट्या आदित्यातिरिक्त संसार कुछ भी नहीं। "सर्वं खल्विदमादित्यः" श्रुत्यनुसार "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म", "असावादित्यो ब्रह्म", "यः सुर्यः सोऽहमेव", "अयमाहमा ब्रह्म", "सूर्य आत्मा जगतः",

कण्ठरवेण श्रुति 'आदित्य' को साक्षात् ब्रह्मरूपेण निरूपण करती है। ईश्वर कोटि के पाँच देवताओं में भी सूर्य को ही 'आदि' स्थान प्राप्त है। स्वयमेव सूर्यगीता में भगवान् आदित्य कहते हैं—

अनन्तग्रहलोकास्त उपग्रहगणास्तथा।
आद्यन्तरहिते चेमे विराड्वपुषि में स्थिताः ।। (सूर्यगीता)

अनन्त ब्रह्माण्ड में आदित्यादि अनन्तग्रहलोक, अनन्त उपग्रहगण मेरे विराड़स्वरूप में स्थित हैं, जिस विराट स्वरूप का न आदि है और नदी अन्त। इससे भी सूर्य का 'ग्रहाणामदि' सिद्ध हो जाता है। माकण्डेयपुराणानुसार—

यो ब्रह्मा यो महादेवो यो विष्णुर्यः प्रजापतिः।
वायुराकाशमापश्च पृथिवीगिरिसागराः ।।
ग्रहनक्षत्रचन्द्राद्या वानस्पत्यं द्रुमौषधम्।
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव वैष्णवी चैव ते तनुः ।।
त्रिधा यस्य स्वरूपन्तु भानोर्भास्वान् प्रसीदतु ।।

(मा० १०९/६१-६१)

जो ब्रह्मा हैं, महादेव हैं, विष्णु हैं, प्रजापति हैं, वायु, आकाश, जल, पृथिवी, पर्वत, सागर, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि आदि ग्रह हैं, जो अश्वि-यादि नक्षत्र हैं, वनस्पति तथा ओषधियाँ जिनके स्वरूप हैं; ब्राह्मी वैष्णवी तथा माहेश्वरी ये तीन प्रकार की शक्तियाँ जिनका तनु यानी विस्तार है, जिसका स्वरूप अत्यन्त तेजोमय है, ऐसे अपनी 'भा' प्रकाश से अर्थात् चर्तुदशभुवनसहित मेरे अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाले 'हे भानो' आप प्रसन्न हों।

एवं श्रुति-स्मृति-पुराण से लेकर लोक साहित्यों तक सर्वत्र भगवान् सूर्यनारायण की महिमा व्याख्यात है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी विनय पत्रिका में—

दीन-दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि, मनुज, सुरासुर सेवा।।
हिम-तम-करि-केहरिकरमाली। दहन दोष-दुःख-दुरित-रूपाली ।।
कोक-कोकनद-लोक-प्रकासी। तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी ।।
सारथि पंगु, दिव्यरथ-गामी। हरि संकट-बिधि-मूरत स्वामी ।।
वेद-पुरान प्रगत जसजागी। तुलसी राम-भगति बर माँगै ।।

(वि.प. २)

अतः ग्रहाणामदित्वेन भगवान् आदित्य प्रतिष्ठित हैं। बार गणना के क्रम मे भी आदि आदित्य वार ही है, इसका कारण भगवान् का संकल्प ही है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कुछ अन्य कारण है।

सर्वलोकोपकारार्थं वारान्कल्पितवान्प्रभुः ।
आदावारोग्यदं वारं स्ववारं कृतवान्प्रभुः ।। (शि०पु०वि० १४/१२-१३)

अर्थ–सर्वसमर्थ परमात्मा शिव ने सम्पूर्ण लोकों के उपकार के लिए वारों की कल्पना की, जिनमें पहला आरोग्य प्रदान करने वाला उनका अपना 'आदित्य' वार था।

अर्थ–सूर्यसिद्धान्त के अनुसार आदि में अर्थात् सम्पूर्ण ग्रहों में पहले उत्पन्न होना ही 'आदित्य' नाम पड़ने के कारण बताया गया है।

हिरण्यगर्भो भगवानेष छन्दसि पठ्यसे ।
आदित्यो ह्यादिभूत्त्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते ।। (सू.भू. १५)

सुवर्णाण्डमध्यरूपगर्भ में स्थित होने के कारण वेदों में हिरण्यगर्भ नाम से जिनका निरूपण हुआ है ऐसे आदि में (सर्वप्रथम) प्रकट होने के कारण आदित्य और इसे सम्पूर्ण जगत् प्रसूत उत्पन्न होने के कारण सूर्य कहते हैं।

"सूर्यात् प्रसूयते सर्वं" (साम्बपु० ८/५)

लोकरक्षणकारकः–आप सम्पूर्ण लोकों की रक्षा करने वाले हैं, तो फिर मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं अर्थात् मेरी रक्षा कीजिये।

पाणिनीयदर्शन (व्याकरणशास्त्र) के अनुसार लोक्यते दृश्यते आभ्यामिति लोकः चक्षु। तयोः लोकयोः चक्षुषोः रक्षणम् लोकरक्षणम् तस्य कारकः (करोतीति) लोकरक्षणकारकः। समासित पद का विग्रह करने पर अर्थ निकलता है, नेत्रों की रक्षा करनेवाले। भगवान् सूर्य नेत्रों के देवता हैं ऐसा प्रसिद्ध भी है। "लौगाक्षीस्मृति" में ऋषि कहते हैं, "आरोग्यं भास्करादिच्छेद"। आरोग्य भगवान् भास्कर से चाहे। सूर्यो नीरोगतां दद्याद (स्क०पु०)

आरोग्यं भास्करादिच्छेद् धनमिच्छद्धुताशनात् ।
ईश्वराज्ज्ञानमिच्छेच्च मोक्षमिच्छेज्जर्नादनात् ।। (मत्स्यपु० ६७/७१)
शरीरारोग्यकृच्चैव धनवृद्धियशस्करः ।
जायते नाश संदेहो यस्य तुष्येद्दिवाकरः ।। (पद्मपु० १/८०/५८)

लोक (नेत्रों) की रक्षा के लिये कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद् का विशेष महत्त्व है, जिसका पाठमात्र करने से नेत्र रोगों का अवश्य ही शमन होता है। किन्तु यह उपनिषद् होने के कारण इसमें द्विजमात्र का ही अधिकार है। स्त्री-शूद्र तान्त्रिक मन्त्र एवं यन्त्रादि के द्वारा अथवा अर्ध्य प्रदान कर नेत्र सम्बन्धी रोगों का शमन करें।

"न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्चैव कदाचन"। (पद्मपुराण)

स्वाहाप्रणवसंयुक्तं मन्त्रं शूद्रे ददत् द्विज।
शूद्रो निरयगामो स्याद्विप्रः शूद्रत्वमाप्नुयात्।। (भविष्योत्तर पुराण)
"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा"। (भागवत)

यो विप्रः शूद्रदक्षिणामादाय तदीयं हविः शान्तिपुष्ट्यादिसिद्धये वैदिकैर्मन्त्रैर्जुहोति तस्य विप्रस्यैव दोषः। (निर्णयसिन्धौ)

त्रैवर्णिकाधिकारं स्यान्नैव सर्वाधिकारिकम्।
नाधिकारो हि शुद्राणां यतः कर्मणि वैदिके।। (कालिकापुराण)

चाक्षुषोपनिषद् गीताप्रेस के नित्यकर्मपूजाप्रकाश में देखें।

समष्टि अभिप्राय से भगवान् भास्कर प्रत्यक्ष देवता होने के साथ जगत् के भी चक्षु हैं— "प्रत्यक्षं देवता सूर्योजगच्चक्षुदिवाकरः"। अपने अनन्त रश्मियों से सम्पूर्ण जगत् को नित्य प्रति आप्लावित कर जगत् की रक्षा करते रहते हैं, स्थिर-जंगमात्मक अखिल सृष्टि इन्हीं भगवान् तपन के प्रसाद से स्व-स्व आहार-विहारादि क्रिया को करने में समर्थ होता है।

प्रश्नोपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—"आदित्यो हवै प्राण" श्रुति कहती है "सूर्य आत्मा जगतः" आत्मा के विना या प्राण के विना जैसे शरीर की रक्षा सम्भव नहीं एवमेव सम्पूर्ण लोक रक्षण का कार्य भगवान भास्कार के भाव (सत्ता) पर ही अवलम्बित है, क्योंकि भगवान् मनु महाराज ने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठग्ते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।। (मनु० ३/७६)

मेघातिथि भाष्य—अग्नौ यजमानेन प्रास्ता क्षिप्राऽऽहुतिर्हूयमानं चरुपुरोडाशाद्युच्यते। आदित्यमदृश्येन रूपेण प्राप्नोति। सर्वरसानामाहर्ताऽऽदित्योऽत आहुतिरसस्यादिप्राप्तिरुच्यते। अतः स रस आदित्यरश्मिषु कालेन परिपक्वो वृष्टिरूपेण जायते। ततोऽन्नं व्रीह्यादि। ततः प्रजाः सर्वप्राणिनः।

श्लोकार्थ—विधिपूर्वक अग्नि में दी हुई आहुति अदृश्य रूपेण सूर्य को प्राप्त होती है, चूँकि भगवान् सूर्य सम्पूर्ण रसों का आहरण करते हैं, अतः यह आहुति रस का आदित्य को प्राप्त होना कहलाता है, अर्थात् आदित्य रश्मियों से अवशोषित आर्द्रवस्तुस्थ रस कालवशात् आदित्यरश्मियों में ही परिपक्व (पुष्ट हो) घनीभूत हो मेघ तत्पश्चात् वृष्टिरूप से पृथिवी पर पतित होता है, इसी से अन्न एवं उससे प्रजा की उत्पत्ति होती है।

विषमस्थानसम्भूतां पीडां—मेरे विषम स्थानों मर्म स्थानों में सन्धिस्थानों में भयंकर पीड़ा उत्पन्न हो गई है।

ॐ रोहिणीशः सुधामूर्तिः सुधागात्रः सुधाशनः ।
विषमस्थानसंभूतां पीडां हरतु मे विधुः ।।२।।

ॐ भूमिपुत्रो महातेजा जगतां भयकृत्सदा ।
वृष्टिकृदवृष्टिहर्ता च पीडां हरतु मे कुजः ।।३।।

सम्भूतां—सम्यक् भूतां उत्पन्नां प्राप्तां। **मे मम पीडां**—आध्यात्मिकादि वेदनां, पूर्वोक्त गुणयुक्तो रविः हरतु निवारयतु।

श्लोकस्थपादद्वयवर्णितगुणयुक्त रवि मेरे कष्ट का हरण करे ॥१॥

"प्रणवो मन्त्राणां सेतु" "प्रणवः प्राक् प्रयुञ्जीत्" इस नियम-से प्रत्येक श्लोक में प्रणव का योग है।

पौराणिक मन्त्र के रूप में पृथक्-पृथक् नवग्रह के श्लोकों का तत्-तत् ग्रहों की प्रसन्नता के लिए जप भी किया जा सकता है।

अर्थ—जो रोहिणी के स्वामी हैं, सुधामूर्ति हैं, सुधागात्र है, सुधा का अशन करनेवाले है, ऐसे विधु मेरे विषमस्थान में उत्पन्न पीड़ा का हरण करें ॥२॥

व्याख्या—रोहिणीशः = दक्ष की पुत्री रोहणी के पति (चन्द्रमा की सभी पत्नियों अर्थात् सत्ताईस पत्नियों में रोहिणी चन्द्रमा को अधिक प्यारी थी, अतः रोहिणीश कहा) हैं। **सुधामूर्तिः** = जिनकी प्रतिमा सुधा अर्थात् सफेदी के सदृश श्वेत है। **सुधागात्रः** = जिनका स्वरूप (कलेवर) सुधा अर्थात् अमृतमय है, जिससे पीयूष की वर्षा होती है। **सुधाशनः** = जो अमृत का ही अशन यानी सेवन करते हैं। या "घृतं वै अमृतम्" देवता अमृत यानी घृत का सेवन करते हैं। गन्ध से तृप्त होते हैं। ऐसे विधु विषम स्थान में उत्पन्न मेरी पीड़ा का हरण करें ॥२॥

अर्थ—भूमिपुत्र महातेजसम्पन्न सर्वदाजगत् को भयप्रदान करनेवाले तथा वृष्टि के कर्ता एवं हर्ता दोनों ही हैं, ऐसे कुज मेरी पीड़ा का हरण करें।

व्याख्या—भूमिपुत्रः = वराहावतार में पृथ्वी से वराहभगवान् के द्वारा उत्पन्न। "सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्वते" गुरुता में पिता की अपेक्षा माता का स्थान सहस्र गुणा अधिक है" इस न्याय से भूमिपुत्र कहा। **महातेजा** = तेजो दीप्तौ प्रभावे च स्यात् पराक्रमरेतसोः (इति मेदिनी) जो महान् तेज, दीप्ति, प्रभाव या पराक्रम सम्पन्न है। ज्योतिष में मंगल को सेनापति का पद प्राप्त है, और सेनापति का प्रभावयुक्त होना ही उचित है, या महत् तेजोयस्य स महातेजा महान् है तेज जिसका।

ॐ उत्पातरूपो जगतां, चन्द्रपुत्रो महाद्युतिः ।
सूर्यप्रियकरो विद्वान, पीडां हरतु मे बुधः ।।४।।
ॐ देवमन्त्री विशालाक्षः सदा लोकहितेरतः ।
अनेकशिष्यसंपुर्णः, पीडां हरतु मे गुरुः ।।५।।
ॐ दैत्यमन्त्री गुरुस्तेषां प्राणदश्च महामतिः ।
प्रभुस्ताराग्रहाणां च पीडां हरतु मे भृगुः ।।६।।

सदाजगतांभयकृत् = जो सर्वदा जगत् के प्राणियों को अपने प्रभाव से भय प्रदान करते हैं।

वृष्टिकृदवृष्टिहर्ताच = और जो वृष्टि एवं अवृष्टि के कर्ता हर्ता हैं, ऐसे पृथिवी पुत्र, कु का अर्थ पृथिवी होता है, उससे जात को कुज कहते हैं, वे मेरी पीड़ा को दूर करें ॥३॥

अर्थ–जो जगत के लिये आकस्मिक दुःख के सूचक हैं, महान् द्युति सम्पन्न, चन्द्रमा के पुत्र, सूर्य का प्रिय करने वाले तथा विद्वान् हैं, ऐसे बुध मेरी पीड़ा का हरण करें ॥४॥

व्याख्या–जगतां उत्पातरूप = सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों के संकट के सूचक हैं। **चन्द्रपुत्रः** = चन्द्रमा के पुत्र हैं। **महाद्युतिः** = महान् तेज से सम्पन्न हैं। **सूर्यप्रियकरः** = बुध सूर्य का मित्रग्रह है, अतः सूर्य का प्रिय करने वाले हैं। **विद्वान्** = बुध वाणी का स्वामी द्वै, विद्वता या मूर्खता वाणी से ही प्रकट होती है। तो बुध ज्ञान सम्पन्न है, मेरे दुःख का ज्ञान जिन्हें है ऐसे बुध मेरी पीड़ा का हरण करें ॥४॥

अर्थ–देवताओं के मन्त्री, विशाल नेत्रों वाले, सदा लोकहित में रत, अनेकाशिष्यों से युक्त देवगुरु बृहस्पति मेरी पीड़ा का हरण करें ॥५॥

व्याख्या–देवमन्त्री = अपने ज्ञान द्वारा देवताओं को मन्त्रणाप्रदान कर उन्हें विघ्नों से रक्षा करनेवाले। **विशालाक्ष** = विशाल नेत्रों वाले अर्थात् ज्ञान दृष्टि सम्पन्न। **सदालोकहिते रतः** = सर्वदा जगत् के प्राणियों के हित में रत रहनेवाले। **अनेकाशिष्यसम्पूर्णः** = इन्द्रादि अनेक शिष्य जिनके हैं, इन शिष्यों से जो परिपूर्ण हैं ऐसे देवगुरु बृहस्पति मेरी पीड़ा का हरण करें ॥५॥

अर्थ–जो दैत्यों के मन्त्री एवं गुरु है, उन सबको प्राण दान करने वाले, महामति सम्पूर्ण ग्रहों एवं नक्षत्रों पर अपना प्रभुत्व रखने वाले, ऐसे भृगु मेरी पीड़ा का हरन करें ॥६॥

व्याख्या–दैत्यमन्त्री = दिति पुत्रों के मन्त्री, **तेषां गुरु** = एवं उनके गुरु, अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले। **प्राणदश्च** = तथा देवासुर संग्राम में संजीवनी विद्या द्वारा दैत्यों को जीवनदान प्रदान करनेवाले। **महामतिः** = महती प्रज्ञावाले। **ताराग्रहाणाञ्च प्रभुः** = सम्पूर्ण नक्षत्रों तथा ग्रहों को

ॐ सूर्यपुत्रो दीर्घदेहो विशालाक्षःशिवप्रियः ।
दीर्घचारः प्रसन्नात्मा, पीडां हरतु मे शनिः ।।७।।

ॐ महाशिरा महावक्त्रो दीर्घदंष्ट्रो महाबलः ।
अतनुश्चोर्ध्वकेशश्च पीडां हरतु मे नमः ।।८।।

ॐ अनेकरूपवर्णश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
उत्पातरूपो जगतां पीडां हरतु मे शिखी ।।९।।

। इति नवग्रहपीडाहरस्तोत्रम् ।

अपने प्रभाव से प्रभावित करनेवाले। **भृगुः मे पीडां हरतु** = ऐसे समर्थ दैत्य गुरु .... मेरी व्यथा का हरण करें ।।६।।

अर्थ—सूर्यपुत्र, दीर्घदेहवाले, विशालनेत्रयुक्त, शिव के प्रिय, दीर्घकाल पर्यन्त एक राशि पर स्थिर रहनेवाले, प्रसन्नात्मा शनि मेरी वेदना का हरण करें ।।७।।

व्याख्या—सूर्यपुत्रः = जो भगवान् सूर्य के पुत्र हैं, कहा भी गया है "छायामार्तण्डसंभूतं" भगवान् सूर्य की दूसरी भार्या छाया से उत्पन्न तथा लम्बे शरीर वाले। **विशालाक्ष** = बड़े-बड़े नेत्रोंवाले, **शिवप्रिय** = शिव के प्रिय। **दीर्घचारः** = (शनैश्चर ढाई वर्ष पर्यन्त एक राशि पर रहते हैं) अतः दीर्घसमय तक जातक की राशि पर सञ्चार करनेवाले। **प्रसनात्मा** = प्रसन्न मनवाले। **शनिः मे पीडां हरतु** = शनि मेरी पीड़ा का हरण करें ।।७।।

अर्थ—विशालमस्तकयुक्त, महावक्त्रसम्पन्न, बड़े-बड़े द्रंष्ट्रवाले, अत्यधिक बलवान् धड़रहित ऊर्ध्वकेशान्वित राहु मेरी पीड़ा का हरण करें ।।८।।

व्याख्या—महाशिरा महाव क्त्र = जिसके ललाट एवं मुखमण्डल अत्यधिक बड़े हैं। **दीर्घदंष्ट्र** = लम्बे-लम्बे दाढ़वाले। **महाबलः** = महान् बल सम्पन्न। **अतनुः** = भगवान् जब देवताओं को अमृत पिला रहे थे, तब राहु देवताओं का रूप धारण कर चन्द्रमा एवं सूर्य के बीच बैठ कर अमृत का पान कर लिया, किन्तु सूर्य एवं चन्द्रमा ने तुरन्त सर्वान्तायामी भगवान् को इसकी सूचना प्रदान कर दी। अमृत का पान करते-करते ही भगवान् ने "क्षुरधारेण चक्रेण शिरः जहार" तीक्ष्ण धारवाले चक्रद्वारा राहु का सिर काट दिया। अमृत का सम्बन्ध न होने के कारण धड़ भाग नीचे गिर गया किन्तु "शिरस्त्वमरतां" सिर अमर हो गया तथा ब्रह्माजी ने उसे ग्रह का पद प्रदान कर दिया। **ऊर्ध्वकेशः** = उसके केश ऊपर को उठे-उठे थे। **तमो मे पीडां हरतु** = ऐसे राहु मेरी पीड़ा का हरण करें ।।८।।

अर्थ—सैकड़ों एवं सहस्त्रों प्रकार के अनेक रूपवर्ण से युक्त, जगत् के प्राणियों को उनके कष्ट की सूचना देनेवाले केतु मेरी पीड़ा का हरण करें ।।९।।

।। इति नवग्रहपीडाहरस्तोत्र ।।

ॐ

श्री व्यासकृतं नवग्रह स्तोत्रम् ।

।। श्री गणेशाय नमः ।।

ॐ जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम् ।
तमोऽरिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम् ।।१।।

ॐ दधिशङ्खतुषाराभं क्षीरोदार्णवसंभवम् ।
नमामि शशिनं सोमं शंभोर्मुकुट भूषणम् ।।२।।

ॐ धरणीगर्भसंभूतं विद्युत्कान्तिसमप्रभम् ।
कुमारं शक्ति हस्त तं मङ्गल प्रणाम्यहम् ।।३।।

अर्थ–जपाकुसुम के सदृश जिनका वर्ण है। कश्यजी के पुत्र, अतिशय द्युति सम्पन्न, अपने प्रकाश के द्वारा जगत् के अन्धकार को दूर करनेवाले अज्ञान रुपि तम के शत्रु उसकी दूर करनेवाले सबके पापों का नाश करनेवाले भगवान् दिवाकर को मैं प्रणाम करता हूँ।।१।।

व्याख्या–**जपाकुसुमसंकाशम्** = जपापुष्प के समान जिनका स्वरूप है, शरीर का वर्ण है या फिर कोमलता जिनमें पुष्प के सदृश है। **काश्यपेयम्** = जो ऋषिप्रवर कश्यप जी के पुत्र हैं ऐसे, **महाद्युतिम्** = महती द्युति द्योतन शक्ति अर्थात् प्रकाशनशक्ति सम्पन्न होने के कारण। **तमोऽरिम्** = अन्धकार के शत्रु, **सर्वपापघ्नम्** = सर्वाणि पापानि ध्नन्ति इति सर्वपापहनः तम् **सर्वपापघ्नम्** = सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाले, **दिवाकरम्** = उदय होने के साथ ही स्वतः दिन अर्थात् जगत को प्रकाशमय करनेवाले भास्कर को मैं प्रणाम करता हूँ।।१।।

अर्थ–दधिशङ्ख एवं तुषार के सदृश जिनकी आभा यानी अङ्गकान्ति है, क्षीरोदार्णव-से मन्थन के समय प्रकट, भगवान् शम्भु के जटाकलाप को भूषित करने वाले, यज्ञ में सोम-रख का पान करनेवाले, शशचिह्न धारण करनेवाले चन्द्रमा को मैं प्रणाम करता हूँ।।२।।

व्याख्या–**दधिशङ्खतुषाराभम्** = दही, शंख तथा तुषार यानी हिम के समान स्वच्छ प्रकाश से या तद्वत धवलता-से जो युक्त हैं। **क्षीरोदार्णवसंभवम्** = दूध के समुद्रसे प्रकट होनेवाले, शंभोः- शिव के। **मुकुटभूषणम्** = जटारूपी मुकुट यानी किरीट को भूषित अलङ्कृत करने वाले, **सोमम्** = चन्द्रमा को, **शशिनम् नमामि** = जिनमें शशका सा चिह्न है, मैं प्रणाम करता हूँ।।२।।

अर्थ–जो माता धरा यानी पृथिवी के गर्भ से प्रकट हुए हैं, जिनकी अङ्गकान्ति विद्युत् की प्रभा के समान है, कुमारावस्थायुक्त अपने हाथ में शक्ति (अस्त्र विशेष) धारण करने वाले मङ्गल को प्रकृष्टरूपेण में नमन करता हूँ।।३।।

ॐ प्रियङ्गुकलिकाश्यामं रूपेणाप्रतिमं बुधम् ।
सौम्यं सौम्यगुणोपेतं तं बुधं प्रणमाम्यहम् ।।४।।

ॐ देवानां च ऋषीणाञ्च गुरुं काञ्चनसन्निभम् ।
बुद्धभूतं त्रिलोकेशं तं नमामि बृहस्पतिम् ।।५।।

व्याख्या–धरणीगर्भसंभूतम् = सम्पूर्ण प्राणियों को जो धारण करती है, ऐसी धरणी माता के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले, **विद्युत्कान्तिसमप्रभम्** = विद्युत् यानी बिजली की कान्ति चमक के सदृशं समान प्रभम्–प्रभा वाले, **कुमारम्** = कुमारावस्थायुक्त (ज्यौतिषशास्त्र के अनुसार मंगल को बाल कहा गया है—"बालोधराजः" अन्यत्र "कौमारं पञ्चमाब्दान्तम्" इस विसंगति का परिहार नारद जी के वचन—बाल-आषोडशाद्वर्पात् से करना होगा। **शक्तिहस्तम्** = अपने हाथ में शक्ति धारण करने वाले, **तम्** = उन मङ्गल को, **अहम्** = मैं, **प्रणामि** = हृदय से नमन करता हूँ ।।३।।

अर्थ–यज्ञ में सोमरस को पाने के योग्य, सौम्यगुणों से युक्त, प्रियङ्गु लता के कलिका के समान श्याम, हरे रंग वाले अप्रितमरूप सम्पन्न बुध को मैं प्रणाम करता हूँ ।।४।।

व्याख्या–सौम्यम् = सोमरस को पीने वाले अथवा सुखद, **सौम्यगुणोपेतम्** = मृदु अर्थात् कोमल गुण, स्वभाव से, **उपेतम्** = युक्तम्, **प्रियङ्गु** = एक लता जो स्त्रियों के स्पर्श-से खिल उठती है, **कलिका** = उसके अनखिले पुष्प के सदृश, **श्यामम्** = हरे रंगवाले, **अप्रतिमम्** = अतुलनीयं जिसकी तुलना नहीं ऐसे, **रूपेण (सौन्दर्येण)** = सुन्दरता से युक्त, **तम्** = उन बुधको, **अहम्** = मैं, **प्रणमामि** = प्रणाम करता हूँ ।।४।।

अर्थ–जो देवताओं तथा ऋषियों के भी गुरु हैं; जिनके शरीर की आभा काञ्चन यानी स्वर्ण के सदृश हैं, ज्ञान-प्रदान करने के लिये ही जो प्रकट हुए है ज्ञानप्रदातृत्वेन जो तीनों लोकों के स्वामी है, ऐसे बृहस्पति जी को मैं प्रणाम करता हूँ ।।५।।

व्याख्या–देवानाञ्च = दिव्यगुण सम्पन्न इन्द्रादि देवताओं एवं, **ऋषीणाञ्च गुरुः** = भूत, वर्तमान तथा भविष्य का भी ज्ञान रखने वाले ऋषियों के भी जी गुरु हैं। **काञ्चसन्निभम्** = जिनके शरीर की प्रभा सोने के समान है। **बुद्धिभूतम्** = दिव्यप्रज्ञाप्रदान करने हेतु ही जिन्होंने शरीर धारण किया है। **त्रिलोकेशम्** = गुरुत्वेन तीनों लोकों के प्राणियों के जो ईश है, क्योंकि गुरु शिष्य को शासन करता है, अतः ईशत्व है। **तम्** = तादृशं, **बृहस्पतिम्** = देवगुरु बृहस्पति को, **अहं प्रणमामि** = मैं प्रणाम करता हूँ ।।५।।

ॐ हिमकुन्दमृणालाभं दैत्यानां परमं गुरुम् ।
सर्वशास्त्रप्रवक्तारं मर्गवं प्रणमाम्यहम् ।।६।।

ॐ नीलाञ्जनसमाभासं रविपुत्रं यमाग्रजम् ।
छायामार्तण्डसम्भूतं तं नमामि शनैश्चरम् ।।७।।

ॐ अर्धकायं महावीर्यं चन्द्रादित्यविमर्दनम् ।
सिंहिकागर्भसंभूतं तं राहुं प्रणमाम्यहम् ।।८।।

अर्थ—जिनके शरीर की कान्ति हिम के सदृश, कुन्दपुष्प के समान तथा मृणाल की तरह स्वच्छ है। जो दैत्यों के परम अर्थात् श्रेष्ठ गुरु हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के व्यवहार सौकर्य हेतु जिन्होंने नीति शास्त्र का प्रकृष्टेन वाचन किया है, ऐसे भृगुपुत्र शुक्राचार्य जी को मैं प्रणाम करता हूँ॥६॥

व्याख्या—**हिमकुन्दमृणालाभम्** = हिम के सदृश श्वेत आभा से युक्त, कुन्दपुष्प के समान शुक्लवर्णयुक्त, मृणाल कमलवृन्त वत शुभ्र गात्र वाले, **दैत्यानाम्** = दिति के पुत्र बलि आदि के, **परमम्** = श्रेष्ठ, **गुरुम्** = गुरु हैं, **सर्वशास्त्रप्रवक्तार** = सम्पूर्ण शास्त्रों के सार को नीतिज्ञानार्थ, प्रवचन करनेवाले, **भार्गवम्** = भृगु पुत्रं शुक्राचार्यं, शुक्राचार्य जी को, **अहम्** = मैं, **प्रणमामि** = प्रणाम करता हूँ॥६॥

अर्थ—नीलाञ्जन अर्थात् कज्जल के सदृश आभा वाले, रवि के पुत्र, यमराज के ज्येष्ठ भ्राता, सूर्य की दूसरी मार्या छाया से उनके द्वारा सम्भूत प्रकट होने वाले शनैश्चर को मैं प्रणाम करता हूँ॥७॥

व्याख्या—**नीलाञ्जनसमाभासम्** = अतिशय कृष्ण कान्तियुक्त, **रविपुत्रम्** = रवि के पुत्र, **यमाग्रजम्** = यम के अग्रज, **छायामार्तण्डसम्भूतम्** = छाया एवं मार्तण्ड (सूर्य का नाम, मृत अण्ड से प्रकट होने के कारण) के द्वारा जन्म लेनेवाले, **तम् शनैश्चरम् अहं प्रणमामि** = उन शनि महाराज को मैं प्रणाम करता हूँ जिनकी गति अत्यन्त मन्द है॥७॥

अर्थ—अधकाय अर्थात् धड़ रहित केवल मस्तक ही काय शरीर है जिनका, महावीर्य अर्थात् शक्ति सम्पन्न, चन्द्र और आदित्य का विशेष रूपेण मर्दन करने वाले, सिंहिका के गर्भ से जन्म ग्रहण करने वाले राहु को मैं प्रणाम करता हूँ॥८॥

व्याख्या—**अर्धकायम्** = आधे शरीर वाले, **महावीर्यम्** = महान् पराक्रम सम्पन्न अतोहि, **चन्द्रादित्यविमर्दनम** = अमृत पान के समय भगवान् को सूचना देने के कारण द्वेष वशात् चन्द्र और सूर्य को ग्रहण के रूप में त्राश देनेवाले, **सिंहिकागर्भसंभूतम्** = राहु की माता का नाम सिंहिका था, उसके गर्भ-से जन्म लेने वाले, **तम्** = उस, **राहुम्** = राहु को, **अहं प्रणमामि** = मैं प्रणाम करता हूँ॥८॥

ॐ पलाशपुष्पसंकाशं, तारकाग्रहमस्तकम् ।
रौद्रं रौद्रात्मकं घोरं तं केतुं प्रणमाम्यहम् ।।९।।
इति व्यासमुखोद्गीतं यः पठेत्सुसमाहितः ।
दिवा वा यदि वा रात्रों विघ्नशान्तिभविष्यति ।।१०।।
नरनारीनृपाणाञ्च भवेद्दुःस्वप्ननाशनम् ।
ऐश्वर्यमतुलं तेषामारोग्यं पुष्टिवर्धनम् ।।११।।
ग्रहनक्षजाः पीडास्तस्कराग्निसमुद्भवा ।
ताः सर्वाः प्रशमं यान्ति व्यासो ब्रुते न संशयः ।।१२।।

॥इति॥

अर्थ—पलाश के पुष्प के समान जिनके वपुका वर्ण है, जो सम्पूर्ण ग्रह नक्षत्रों के मस्तक अर्थात् शिरस्थानीय, दुःख, प्रदातृत्त्वेन प्रधान हैं। प्राणियों को रुलाने वाले कर्म से युक्त, भयानक स्वरूप होने के कारण अशान्त दिखने चाले केतु को मैं प्रणाम करता हूँ॥९॥

व्याख्या—**पलाशपुष्पसंकाशम्** = पलाश जिसे ब्रह्म वृक्ष भी कहते हैं, के पुष्प के समान वर्णवाले, **तारकाग्रहमस्तकम्** = सभी नक्षत्रों एवं ग्रहों में विशिष्ट स्थान है जिनका ऐसे, **रौद्रम्** = भयानक कर्म करने के कारण, **रौद्रात्मकम्** = भयङ्कर स्वरूप से युक्त अतः, **घोरम्** = अशात दिखते हैं, **तम्** = ऐसे, **केतुं अहं प्रणमामि** = केतुं को मैं प्रणाम करता हूँ॥९॥

अर्थ—भगवान् व्यास के मुख से गीत अर्थात् निर्मित उच्चरित, या पठित इस स्तोत्र का जो एकाग्रचित्त से चाहे रात्रि हो या दिन, पाठ करेगा उसके सारे विघ्नशान्त हो जायेंगे यानी नष्ट हो जायेंगे॥१०॥

अर्थ—यह स्तोत्र स्त्री, पुरुष एवं नृप (राजा) के दुःस्वप्न का भी नाशक होगा, साथ-ही-साथ अतुल ऐश्वर्य (सम्पत्यादि) आरोग्य स्वस्थ तनमन की प्राप्ति एवं सभी के पोषण शक्ति की भी अभिवृद्धि होगा। पुष्टि वर्धनम् अर्थात् पोषस्य वर्धयितारम्॥११॥

अर्थ—इस नवग्रहस्तोत्र का पाठ करने से ग्रहनक्षत्र जनित, कष्ट तथा चोर, अग्नि के द्वारा प्राप्त क्लेश, ये सभी शान्त हो जायेंगे इसमें कोई संशय नहीं, ऐसा वेदो का विभाग करनेवाला यह व्यास कहता है॥१२॥

॥ इतिश्रीव्यासविरचितं नवग्रहस्तोत्रं पूर्णम् ॥

(गाधिः, कौशिकः, पिप्पलादः)

ॐ कोणस्थः पिंगलो बभ्रुः कृष्णो रौद्रोऽन्तकोयमः ।
सौरिः शनैश्चरः मन्दः पिप्लादेन संस्तुतः ।।
एतानि दश नायानि प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
शनैश्चरकृता पीडा न कदाचिद्भविष्यति ।।

अर्थ–कोणस्थ, पिङ्गल, बभ्रु, कृष्ण, रौद्र, अन्तक, यम, सौरि शनैश्चर तथा मन्द पिप्पलाद ऋषि के द्वारा सम्यक् स्तुत पठित इन दश नामों को प्रातः उठ कर जो भी पढ़ता है; उसको शनिकृत पीड़ा कभी भी परेशान नहीं करती है।

व्याख्या–कोणस्थ = कोण त्रिकोणेवातिष्ठति इति कोणस्थः। शनि का मूलत्रिकोण कुम्भ है, उसमें रहने के कारण कोणस्थ नामवाले, कुम्भ राशि का शनि २० अंश तक मूल त्रिकोण का अवशिष्ट स्वराशि का होता है। या शनि का अधिकृत स्थल मैली, दुर्गन्ध युक्त स्थान माना जाता है, जो प्रायः घर के आङ्गन के कोने में होती है अतः कोणस्थ कहा, नहीं तो ग्रहस्थापना की दृष्टि से शनि का स्थान पश्चिम "पश्चिमे तु शनिं विन्द्यात्" माना जाता है।

पिंगलः = पीत मिश्रित भूरे रंग को पिङ्गल कहते हैं। कोश के अनुसार "कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ" ये छः नाम पिङ्गल वर्ण के आये हैं। सम्पूर्ण शरीर को पिङ्गल न लेकर यहाँ केवल नेत्र को ग्रहण है। ज्यौतिष शास्त्र में नेत्र के लिये "पिंगलनेत्रोयुक" "कपिलेक्षणः" "पिङ्गो विलोचन आने के कारण।

बभ्रुः = बिभर्ति इति बभ्रुः। जो धारण करते हैं। क्या ? केश अर्थात् भुरे केशवाला। या अपने भक्तों को सम्पत्ति को दानार्थ धारण करनेवाले। **कृष्णः** = कृष्णाङ्ग काले शरीर वाले। **रौद्रः** = रुद्र के समान प्रचंड क्रोधी या कर्म वाले, दुष्टों को रुलाने वाले। **अन्तकः** = सुख का अन्त करनेवाले या फिर दुःख का अन्त करने वाले। "विपदसम्पदप्रदाता शनिः" (जातकपरि०)। **यमः** = नियन्त्रण करने वाले। **सौरिः** = सूर नाम भगवान् सूर्य का है, उनके सन्तान सौरि सूरस्यापत्यम्। **शनैश्चरः** = शनैः मन्दं चरति इति शनिः। मन्द चलने वाले। **मन्दः** = आलसी तथा स्तुति पक्ष में कोमल मृदु। **पिप्पलादेन** = पिप्पलं तत् पतितं फलं अति इति पिप्लादः तेन पिप्पलादेन ऋषिणा–पिप्पल यानी अश्वत्थ वृक्ष के फल का अदन भक्षण करने के कारण पिप्पलाद नाम वाले ऋषि (प्रश्नोपनिषद का प्रवचन करनेवाले) के द्वारा। **संस्तुतः** = वन्दित पठित। **एतानिदशनामानि** = इन दश नामों को, प्रातः उत्थाय यः पठेत्–प्रातः उठकर जो पढ़ता है। "शनैश्चर कृतापीड़ा, न कदाचित् भविष्यति" उसको शनैश्चर कृत पीड़ा कभी भी कष्ट प्रदान नहीं करेगी।

तृष्णावद्धं जगत्सर्वं, चक्रवत्परिवर्तते।
सर्वं संसारसूत्रं हि तृष्णा सूच्यानिबध्यते।।
(महाभा० शा० ११७)

सम्बन्ध—तृष्ण की महिमा और उसके परिणाम का निरूपण। तृष्णा नाम प्राप्यमाणेष्वप्यर्थेष्वतृप्तिः। प्राप्तविषयों में तृप्ति (सन्तोष) का अभाव ही तृष्णा है, यानि लोभ की बढ़ी हुई वृत्ति ही तृष्णा है अथवा विषयों की लिप्सा का न मिटना अपितु बढ़ने रहना ही तृष्णा है। निर्दिष्ट अध्याय में श्लोक की दोनों अर्द्धाली मुझे नहीं मिली।

अर्थ—तृष्णा-से बंधा यह सम्पूर्ण जगत् सर्वदा चक्र के समान घूमता ही रहता है। यह सारा संसार क्या है ? एक धागा है, जो तृष्णारूपी सूची (सूई) में बड़ी अच्छी तरह से पिरोई हुई है, सूई जिधर-जिधर जाती है, धागा भी उसके पीछे-पीछे उधर ही जाती है। तृष्णा के कारण ही व्यक्ति देव, मनुष्य तीर्थक् योनियों में घूमता रहता है। (महाभा०शा० ११७)

सम्बन्ध—भरद्वाज जी के द्वारा यदेतत् भवताभिहितं सुखानां परमास्थितिरिति न तदुपगृह्णीमः एष काम्यो गुणविशेषो न चैनममिलषन्ति च तपसि श्रूयते, त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकीतिष्ठति। ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति। अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमान मङ्गत्वेन शममनयत्।

हे ऋषिवर! आपने जो यह कहा कि "इह खल्वमुष्मिंश्च लोके प्रवृत्तयः सुखाथममिधीयन्ते" अर्थात् इहलोक और परलोक में, किसी भी कर्म में मनुष्यों या देवताओं की प्रवृत्ति सुख की प्राप्ति के लिये ही बतायी जाती है। अतः सुखानां परमा स्थितिः सुखों का ही सबसे श्रेष्ठ स्थान है, उसमें स्वीकार नहीं कर पा रहा हूँ; क्योंकि महती तपस्या में सर्वदा स्थित रहनेवाले वशिष्ठादि प्रभृति ऋषिगण, साधारण प्राणियों के द्वारा वाञ्छनीय सुख यद्यपि इन्हें सरलता से प्राप्त हो सकता है, फिर भी ये ऋषिगण उसकी अभिलाषा नहीं करते। त्रिलोककृत ब्रह्मा ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक अकेले ही रहते हैं, सुखप्राप्ति के लिये काम में मन नहीं लगाते हैं। उमापति भगवान् शिव सम्मुख आये काम को जलाकर उसे अनङ्ग बना दिया, फिर सुखसे बढ़कर अन्य कोई फल नहीं यह कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में भृगु ऋषि कहते हैं।

हे भरद्वाज! जो मनुष्य धर्म का पालन नहीं करता है, बल्कि क्रोध लोभ, हिंसा, झूठ आदि से आच्छन्न रहता हैं, वह निश्चय ही न तो यहाँ सुख प्राप्त करता है, और न परलोक में। वह अपने पापों के कारण नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक दुःखों से संतप्त रहता है। वह बन्धु-बान्धवों के नाश का क्लेश उठाता है, धन की हानी होती है। जिसे ये शारीरिक व मानसिक दुःख स्पर्श नहीं करते, वही सुख को जान पाता है। ये सारे दोष स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होते। तत्र—

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न चपापकम्।।

(महाभा० शा० १९०)

श्लोकार्थ–स्वर्ग लोक में अतिशय सुखदायी पवन अर्थात् पवित्र हवा चलती रहती है, जो शीतल, मन्द और मनोहर गन्ध युक्त होती है। वहाँ न तो भूख-प्यास ही सताती है और न कर्म जन्यश्रम ही क्लेश देता है। वहाँ बुढ़ापे का भी भय नहीं, और न पाप जन्य दुःख ही भोगना पड़ता है। "स्वः स्वर्गे गीयते इति स्वर्गः विष्णुः तस्यलोके वैकुण्ठे" श्लोकस्थ विशेषता वैकुण्ठादि लोकों में ही सम्भव है, भक्ति योग की दृष्टि से।

व्याख्या–स्वर्गे-स्वर्ग लोक में, 'स्वर्गे' पद का अर्थ सामान्यदृष्ट्या देवराज इन्द्र का स्वर्ग प्रतीति होता है, किन्तु विचार करने पर कुछ और ही प्रतीत होता है। यह श्लोक महाभारत के शान्ति पर्व के १९०वें अध्याय का तेरहवाँ श्लोक है, इसी अध्याय के तृतीय श्लोक में "स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च" तथा चौदहवें श्लोक में "नित्यमेवं सुखं स्वर्गे" स्वर्ग में नित्यसुख अर्थात् सर्वदा सुख रहता है। तो इन्द्रादिको को नित्य सुख की प्राप्ति सर्वदा नहीं होती है, उन्हें भी कष्ट भोगने पड़ते हैं। तो जहाँ भूख-प्यास की बात है तो "देवा धृतमश्नन्ति" उनकी पुष्टि के लिए यज्ञ में हुत घृत को हव्यवाहन अग्निदेव उन तक पहुँचाते रहते हैं। असुर जब चढ़ाई करते हैं तो भागने में श्रम भी होता है, जरा मनुष्यों की भाँति भले ही न आती हो किन्तु मन्वतर पर्यन्त आयु भोग के पश्चात् उनका भी नाश तो होता है। पाप का ही फल है, जो उन्हें बार-बार कष्ट आते है, ऋषियों के द्वारा शाप प्राप्त होते हैं। गीता के अनुसार "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" पुण्य क्षीण होते ही वहाँ-से पतन हो जाता है।

भागवत में तो—

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्य पतत्यर्वागनिच्छन् कालचलितः।। (भागवत ११/१०/२६)

अर्थ–मनुष्य तभी तक स्वर्ग में आनन्द मनता है, जबतक उसके पुण्य समाप्त नहीं हो जाते। बस ज्योंही पुण्य क्षय हुआ कि न चाहते हुए भी उसे वहाँ से गिरना पड़ता है, वस्तुतः काल की गति ही ऐसी है।

महाभारत वेदों का उपबृंहण है। भगवान् व्यास काठकश्रुति के मन्त्र का ही यहाँ अनुवाद कर रहे हैं।

काठक श्रुति कहती है—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। (१/१/१२)

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम्।।
(महाभा० शा० १९०)

स कामकान्तो न तु कामकामः।।
(महाभा० शा० २५१)

इस पर भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्त भयं किञ्चन किञ्चिदपि नास्ति। न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्थतो जरया युक्त इह लोकवत्वतो न बिभेति कश्चित्तत्र। किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन च वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये। (१/१/१२)

भगवान् भाष्यकार ने स्वर्गलोके का विशेषण 'दिव्य' दिया है, अर्थात् "अप्राकृतिके अलौकिके" इन्द्रादिको का स्वर्ग लोक प्रकृति के राज्य में होने के कारण मनुष्य लोक की अपेक्षा दिव्य होने पर भी सर्वथा दिव्य नहीं है। अतः स्वर्गे अर्थात् आत्म लोके निजस्वरूपे" पवनः-पुनातीति पवनः ज्ञानम् "नहिज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते, सुसुखः-सुखदायक ज्ञान जो गन्धश्च-गन्धः सर्वत्रात्मभावना" (चिन्तामणि, तृतीयभाग) सर्वत्र आत्मभावना ही गन्ध है वहीं, सुरभिस्तथा-जो श्रुति में प्रसिद्ध है। सुरभि का अर्थ (प्रसिद्ध भी होता है; कोशानुसार)। एतादृश निजस्वरूप में, क्षुत्पिपासा-क्षुधा-पिपासा, श्रमो नास्तिश्रम नहीं है, न च पापकर्म-और न ही पाप हो ऐसा कोई कर्म ही है।

अर्थ—स्वर्गलोक में सर्वदा ही सुख रहता है। इस मर्त्यलोक में सुख, दुःख दोनों की प्राप्ति होती है। नरक में केवल दुःख ही मिलता है। वास्तविक सुख तो स्व परम पद ही है।

व्याख्या—स्वर्गे = स्वर्ग में, **नित्यमेव** = सर्वदा ही, **सुखम्** = सुख होता है। **इह** = इस संसार में, **सुखं-दुःखम् उभयम** = सुख और दुःख दोनों ही प्राप्त होते है। **नरके** = नरक में, **दुःखम् एव** = केवल दुःख ही मिलता है और वास्तविक, **सुखम्** = सुख, **तत्** = परमात्मा का, **परमं पदम्** = परम पद ही है। जो अपना ही स्वरूप है।

सम्बन्ध—स काम कान्तो .... पद्य में ब्रह्मवेत्ता की महिमा गाई गयी है।

अर्थ—कामना ही ब्रह्मवेत्ता की कामना करता है, परन्तु ब्रह्मवेत्ता कामना की कामना नहीं करता क्योंकि वह आप्तकाम है। माण्डूक्य श्रुति की व्याख्या भूतकारिका में भगवान् गौड़पाद कहते हैं "आप्तकामस्य का स्पृहा" आप्तकाम पुरुष की कोई कामना नहीं होती।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिवर्णतां गतम्।।
(महाभा० शा० १८८)

व्याख्या—सः = वह लोक प्रसिद्ध काम, **कामकान्तः** = काम के कान्त की कामना करता है, अर्थात् ब्रह्मज्ञ की कामना करता है, **तु** = परन्तु, **कामम्** = काम की, **कामः** = कामना वह ज्ञानी, **न** = नहीं करता है।

सम्बन्ध—वर्णविभाग का रहस्य क्या है ? क्यों है ? आगे इसी का वर्णन है। सृष्टि के प्रारम्भ में जगत् स्रष्टा ब्रह्माजी ने अपने आत्मतेज से भास्कर और अग्नि के सदृश प्रकाशित होनेवाले सिद्ध वशिष्ठादि ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। तत्पश्चात् सत्य, धर्म, शाश्वत वेद, आचार एवं शौचादि के नियम निर्दिष्ट किये, क्योंकि ये सब स्वर्ग-प्रति के साधन है। इसके बाद देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महान् उरग यानी सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच तथा मनुष्यों की उत्पन्न किया। उसके बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों की रचना की, ब्राह्मणों का रंग, श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला तथा शूद्रों का कृष्ण वर्ण बनाया। भृगु जी के ऐसा बताने पर पुनः भरद्वाज ऋषि प्रश्न करते हैं। हे ऋषिवर ! यदि चारों वर्णों में वर्ण का भेद माना जाय तब तो विभिन्न रंग के मनुष्यों का आपस में वर्ण संकर हो गया। सभी वर्णों में काम क्रोधादि समान रूप-से उपलब्ध होते हैं। फिर तो वर्ण भेद कैसे सम्भव है। सभी के शरीर से मल-मुत्रादि निकलते हैं, इस तरह तो सृष्टि में लाखों योनियाँ हैं, उन सबका वर्ण निर्णय करना कैसे सम्भव होगा ? इस प्रकार प्रश्न करने पर पुनः भृगुजी ने उत्तर दिया।

अर्थ—हे भरद्वाज ! पूर्व में सृष्टि के समय वर्ण चार होते हैं, ऐसा भेद नहीं था। ब्रह्मा-से उत्पन्न होने के कारण यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्राह्मण या अर्थात् सारी प्रजा ही ब्राह्मण थी। बाद में कर्म संकरता के कारण अर्थात् विभिन्न कर्मों के कारण ही उनमें वर्ण भेद की कल्पना कर ली गयी। ताकी समाज में किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने लग जाय।

व्याख्या—हे मुने ! पूर्वे = पहले, सृष्टि के आरम्भिक काल में, **वर्णानाम्** = वर्णों का, कि वर्ण चार थे, ऐसा, **विशेषो न अस्ति** = कोई भेद नहीं था, **ब्रह्मणा** = ब्रह्माजी के द्वारा, **सृष्टम्** = संकल्प मात्र-से उत्पन्न होने के कारण, **इदं सर्वं जगत्** = यह सारा ही जगत्, **ब्राह्मम्** = ब्राह्मण था, **हि** = निश्चय ही, **कर्मभिः** = नाना प्रकार के कर्मों के कारण, **वर्णताम्** = एक होने पर ब्राह्मणादि वर्णों के रूप में, **गता** = विभक्त हो गये।

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मारक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ।।
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ।।
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ।।

सम्बन्ध–किस कारण से ब्राह्मण क्षत्रिय बने यह बता रहे हैं।

अर्थ–जब ब्राह्मणों ने अपने शमादि धर्मों का परित्याग कर दिया एवं काम सम्बन्धि विषयों का राग पूर्वक सेवन करने लगे, इस कारण उनका स्वभाव अत्यन्त तीक्ष्ण होने से वे अतिशय क्रोधी हो गये, मर्यादा का उल्लंघन कर साहस का कार्य करने लग गये, इन्हीं सब कारणों के कारण जिनके शरीर का रंग रक्त वर्ण का हो गया, वे द्विज क्षत्रियभावापन्न होकर क्षत्रिय के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

व्याख्या–**त्यक्तस्वधर्मा** = जब ब्राह्मण अपने धर्म का त्याग करने वाले हो गये; अतः धर्म का त्याग करने से उनका अन्तःकरण मलिन हो गया, मलिन होने के कारण वे, **कामभोगप्रियाः** = विषय भोग के प्रेमी हो गये, रजोगुण क बढ़ने-से सब, **तीक्ष्णाः** = तीखे स्वभाववाले हो गये, **क्रोधनाः** = क्रोध के तो मानो सब मूर्ति ही हो गये, उन्हें, **प्रियसाहसाः** = साहस के काम ही अच्छे लगने लगे। इन्हीं सब कारणों से, **ते** = वे सब, **द्विजाः** = ब्राह्मणगण, **क्षत्रताम्** = क्षत्रियभाव को, **गताः** = प्राप्त हो गये उनके शरीर का, **रक्ताङ्गाः** = रङ्ग लाल हो गया।

अर्थ–द्विजोचित स्वधर्मों का अनुष्ठान न करके जिन ब्राह्मणों ने गोपालन तथा कृषि कर्म स्वीकार कर लिया, इसी वृत्ति के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करने लगे, इन कर्मों के कारण उनके शरीर का रंग पीला हो गया, वे ही द्विज वैश्य भाव को प्राप्त हो गये।

व्याख्या–**स्वधर्मान्** = अपने स्वाभाविक धर्मों का, न **अनुतिष्ठन्ति** = अनुष्ठान जिन ब्राह्मणों ने छोड़ दिया, और, **गोभ्यः** = पशुपालन से तथा **कृष्युपजीविनः** = कृषिकर्म के द्वारा ही जीवन यापन करने लगे, **वृत्ति समास्थाय** = उन वृत्तियों का आश्रम ग्रहण करने के कारण जोकि ब्राह्मणों के लिए अनुचित था, उन द्विजों के शरीर का रंग, **पीताः** = पीला हो गया, और **वे** = ते, वे हि **द्विजा** = द्विजगण, **वैश्यतांगताः** = वैश्य भाव को प्राप्त हो गये।

सम्बन्ध–आगे शूद्रत्व का कारण बता रहे हैं।

अर्थ–जिन लोगों ने शौचादि पवित्र सदाचार का परित्याग कर दिया, अतः अन्तःकरण के

अशुद्ध होने के कारण उन्हें हिंसा और झूठ ही अच्छे लगने लगे, लोभ के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण लुब्धक (व्याध) की तरह पशु-पक्षियों का शिकार, अपवित्र खाद्य पदार्थों का सेवनादि सभी प्रकार के निन्दित कर्मों के द्वारा अपनी जीविका चलाने लगे, अतः उन लोगों के शरीर का रंग काला हो गया, वे हि द्विजगण शुद्रभाव को प्राप्त हो गये।

व्याख्या–शौचपरिभ्रष्टाः–शौच एवं सदाचार-से भ्रष्ट होने के कारण ब्राह्मणगण, हिंसानृतप्रिया–हिंसा एवं असत्य के अनुरागी हो गये, वे ब्राह्मणगण किस प्रकार के शौच से पतित हो गये ? जिसके कारण वे "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" एवं सत्यं वद" इस श्रुति के आदेश का उल्लंघन कर दिया। अतः सम्प्रति शौच की व्याख्या की जा रही है। "शुच् धातु से कि प्रत्यय करने पर 'शुचिः' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है शुद्ध, स्वच्छ तथा शुचेर्भावः शौचम शुचि इस से भाव अर्थ में अण प्रत्यय करने पर 'शौचम्' बनता है, जिसका अर्थ पवित्रता, शुद्धता। शौच दो प्रकार का होता है, बाह्य शौच एवं आभ्यन्तर शौच जल मृत्तिकादि द्वारा मल-मुत्रादि दुर्गन्ध एवं लेपादि को दूर करना बाह्य शौच तथा दम्भ, कपटता, वञ्चनादि का परित्याग करने से अन्तःकरण की जो शुद्धि होती है, उसे भाव शुद्धि कहते हैं, वह आभ्यन्तर शौच है। स्मृति में कहा गया है—

शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः।
शौचाचारविहीनस्य समस्ता निस्फलाः क्रियाः।। (दक्ष)

सर्वदा यत्नपूर्वक शौच सम्बन्धि नियमों का पालन करना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणों के सम्पूर्ण कर्तव्य के मूल में शौच की प्रधानता है। जो द्विज शौचाचार से रहित है, उसके सम्पूर्ण कर्म निष्फल हो जाते है यद्यपि बाह्य एवं आभ्यन्तर शौच में आभ्यन्तर ही श्रेष्ठ है, तथापि पूर्व के अभाव में उत्तर-से भी कोई विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं रहती है, क्योंकि ये एक दूसरे के आश्रित हैं। उसी दक्ष स्मृति में कहा गया है—

"उभाभ्यान्तु शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतरः शुचि"

जिस व्यक्ति में उभयविध शौच विद्यमान है, उसी को शुचि कहते हैं, जिसमें केवल बाह्य शौच है, आभ्यन्तर शौच का जो पालन नहीं करता उसका बाह्य शौच करना न करना बराबर है।

व्याघ्रपादस्मृति में कहा गया है—

गङ्गतोयेन कृत्स्नेन मृदभारैश्च नगोपमैः।
आमृत्योः स्नातकश्चैव भावदुष्टो न शुद्ध्यति।।

भावदुष्ट व्यक्ति सम्पूर्ण गङ्गाजल एवं पर्वतप्रमाण मृत्तिका द्वारा मृत्युपर्यन्त भी स्नान करता रहे तब भी उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।

शौच के विषय में कठोपनिषद् में कहा गया है—

यस्त्वविज्ञानवान भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत् पदमाप्नैति संसारञ्चाधिगच्छति ।।

जो व्यक्ति अविज्ञानवान् चञ्चलचित्तयुक्त एवं सर्वदा अपवित्र रहता है, वह उस परम पद को नहीं प्राप्त कर सकता जिसके विषय में तुमने पूछा, बल्कि जन्म-मृत्यु रूप संसार को ही प्राप्त करता है।

मनुस्मृति में कहा गया है—

क्षान्त्या शुद्‌ध्यन्ति विद्वांस दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।। (५/१०६)

विद्वान् क्षमा-से शुद्ध होता है, अकार्य कर्म करनेवाला दान-से शुद्ध होता है, छुप कर पाप करने वाले जप-से एवं वेद ज्ञाता तपस्यासे शुद्ध होता है।

मृत्तोयैः शुद्‌ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्धयति ।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमाः ।।

मलिन पात्र मिट्टी तथा जल-से, नदी प्रवाह-से, मानसिक पाप करने वाली स्त्री रजस्वला होने-से और ब्राह्मण संन्यास अर्थात् त्याग-से शुद्ध होते हैं।

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ।। (१०८)

शरीर स्नानादि से, मन सत्य–से, जीवात्मा ब्रह्मविद्या-से तथा तप-से और बुद्धि-ज्ञान से शुद्ध होती है।

सदाचार के विषय में विष्णुपुराण में कहा गया है—

सदाचारवता पुंसा जितौ लाका वुभावपि ।।
साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधु वाचकः ।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारस्स उच्यते ।। (विष्णुपुराण ३/११/२-३)

जो व्यक्ति सदाचार का पालन करना है, वह इहलोक तथा परलोक दोनों लोकों को ही जीत लेता है। तो सदाचार कहते किसे है ? 'सत्' शब्द साधु का वाचक है, और जिसके सम्पूर्ण, दोष क्षीण हो चुके हैं, उसको कहते हैं 'साधु', उस साधु पुरुष का जो आचरण है, उसको कहते है सदाचार।

उपर्युक्त शौचाचार एवं सदाचार का परित्याग करने के कारण, **हिंसानृतप्रिया** = जो लोग हिंसा तथा असत्य के प्रेमी हो गये, **लुब्धाः** = लोभ के बढ़ जाने से व्याध की तरह **सर्वकर्मोपजीविनः** = सभी प्रकार क निषिद्ध कर्मों के द्वारा प्राणपोषण परायण हो गये, अतः, **ते द्विजाः** = वे सभी ब्राह्मणगण, **शूद्रतांगताः** = शूद्रभावापन्न हो गये।

इत्येते कर्मभिव्यस्ताः द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ।।१५।।

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वे लोभात् त्वज्ञानता गताः ।।१६।।

ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमास्तथा ।।१७।।

सम्बन्ध—अन्य-अन्य वर्ण के होने पर भी तत्-तत् वर्ण के धर्म का त्याग न करने का नियम।

अर्थ—इन पूर्वोक्त कर्मों के कारण द्विजत्व-से भ्रष्ट होकर, वे सभी ब्राह्मण अन्यान्य वर्ण के हो गये, तथापि उन सब के कल्याण के लिये, शास्त्र ने सामान्य एवं विशेष के भेद से धर्मानुष्ठान तथा अधिकारी भेद से समन्त्रक-अमन्त्रक यज्ञ का निषेध नहीं किया, वस्तुतः यह ईश्वर की महती अनुकम्पा ही है ॥१५॥

व्याख्या—**इत्येतैः कर्मभिः** = पूर्वश्लोकों में वर्णित कर्मों के कारण, **व्यस्ता** = द्विजत्व-से अलग यानी भ्रष्ट होकर, **द्विजाः** = वे सभी ब्राह्मण, **वर्णान्तरम्** = अन्य-अन्य वर्ण के, **गताः** = हो गये, **किन्तु तेषाम्** = परन्तु उनके के मङ्गल के लिये, **नित्यम्** = नित्य, **नैमिन्तिकम्** = काम्यादि, **धर्मः** = धर्मानुष्ठान एवं, **यज्ञक्रिया** = यज्ञादिक्रियाओं अर्थात् दानादि का, **प्रर्तिषध्यते न** = निषेध नहीं किया ॥१५॥

सम्बन्ध—सृष्टि के प्रारम्भ मे वर्ग विभागान्तर भी चारों चर्णों के लिए विहित वेद वाणी का लोभ विशेष के कारण बाद में शूद्रजाती का इसमें अनधिकारत्व का कारण।

अर्थ—इस तरह ये चार वर्ण हुए, जिनके कत्याणार्थ ब्रह्मा जी ने पूर्व में ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) ब्रह्म सम्बन्ध वाली श्रुति प्रकट की। किन्तु लोभ के कारण शूद्र अज्ञानभाव को प्राप्त हुए अर्थात् वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं रहे ॥१६॥

व्याख्या—**इत्येते चतुरोवर्णा** = इस प्रकार चार वर्णों का भेद हो गया, **येषां कृते** = जिनके लिये, **ब्रह्मणा** = ब्रह्माजी ने, **ब्राह्मी** = ब्रह्म से अभेद सम्बन्ध की स्मारिका, **सरस्वती** = वाणी, जिसे श्रुति कहते हैं, **विहिता** = प्रकट की, **तु** = किन्तु, **लोभात्** = के कारण शूद्र वर्णवाले, **अज्ञानतां गताः** = वेदज्ञान-से रहित हो गये, वेदाध्ययन में उनका अधिकार नहीं रहा ॥१६॥

सम्बन्ध—वेद की आज्ञा के अनुसार स्वधर्म के पालन का फल।

अर्थ—वेद को धारण करने वाले ब्राह्मण यदि वेद की आज्ञा के अनुसार सर्वदा व्रत एवं नियमों का सम्यक् पालन करते हैं, तो उनकी तपस्या कभी नेष्ट नहीं होती, अपितु बढ़ती ही रहती है ॥१७॥

इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्यादेतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।
इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेतेत्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः ।।
(महाभा०शा० २०१)

मनसश्चेन्द्रियाणां चात्यैकाग्रय परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ।।
(महाभा०शा० २५०)

व्याख्या—ब्रह्मधारयताम् = जिन्होंने वेदाध्ययन रूपी अभ्यास के द्वारा वेद को धारण किया है, ऐसे **ब्राह्मणाः** = ब्राह्मणगण, यदि **ब्रह्मतन्त्रस्था** = वेद के अधीन रहकर, **नित्यम्** = सर्वदाही, **व्रतानि** = व्रतादि, तथा वैसे ही, **नियमान्** = नियमों का पालन करते हैं, तो, **तेषाम्** = उनकी, **तपः** = तपस्या, **न नश्यति** = कभी नष्ट नहीं हाती।

सम्बन्ध—कर्मों के आरम्भ में हेत एवं ज्ञानयोग के उपदेश का फल।

अर्थ—मुझे मेरी इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाय, अनिष्ट की प्राप्ति न हो, उसकी निवृत्ति हो जाय, इसीके लिये शास्त्रों में कर्मों के अनुष्ठान का आरम्भ किया गया है तथा इष्ट एवं अनिष्ट दोनों की ही प्राप्ति मुझे न हो, इसके लिये शास्त्रों में ज्ञानयोग कर उपदेश किया गया है ॥२०१॥

व्याख्या—इष्टं चमे स्यात् = मुझे अभिलषित वस्तु मिले, इतरच्च न स्यात् अनभिलषित, जो अनिष्ट का जनक हो, ऐसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का संयोग मेरे से न हो, **ऐततकृते** = वस एतदर्थ ही, **कर्मविधिः** = शास्त्रों कर्म सम्बन्धी विधि (आदेश–इदङ्कर्तव्यम् इदन्न कर्तव्यम्) का, **प्रवृत्तः** = आरम्भ किया गया है तथा, **इष्टम्** = प्रिय, **अनिष्टञ्च** = और अप्रिय, **माम्** = मुझे, **न भजेत** = दोनों ही न मिले, **इत्येतत्कृते** = इसके लिये शास्त्रों में, **ज्ञानविधिः** = ज्ञानयोग का (श्रोतव्यो मन्तव्योनिधिध्यास्तिव्यः) **प्रवृतः** = उपदेश दिया गया है। (महाभा०शा० २०१)

सम्बन्ध—सर्वश्रेष्ठ धर्म एवं सर्वश्रेष्ठ तप क्या है ?

अर्थ—मन एवं इन्द्रियों का एकाग्र हो जाना ही सर्वश्रेष्ठ तपस्या है। सम्पूर्ण धर्मों से श्रेष्ठतम अर्थात् परम धर्म यही है।

व्याख्या—मनसः = मन (की), **च** = और, **इन्द्रियाणाम्** = इन्द्रियों की, **एकाग्रयम्** = एकाग्रता, **च** = ही, **परमतपः** = परम तप है, **अपि** = यद्यपि और भी बहुत-से धर्म है, किन्तु, **सर्वधर्मेभ्यः** = सम्पूर्ण धर्मों में, **तत्** = पूर्वोक, **सः ज्यायः** = मन और इन्द्रियों की एकाग्रता रूपी धर्म, **परोधर्म उच्यते** = सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा जाता है। (महाभा०शा० २५०/४)

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद दानं दानस्योपनिषत् तपः।।
तपसोपनिषत् त्यांगस्त्यागस्योपनिषत् सुखम्।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः।।
(महाभा०शा० २५१/११/१२)

अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रियश्चरन्नुदासीवदेष भिक्षुकः।।
(महाभा०शा० २४५/३६)

सम्बन्ध–सर्वोत्कृष्ट सार क्या है? इसका वर्णन दो श्लोकों में किया गया है।

अर्थ–वेद का सार है सत्य भाषण, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, इन्द्रिय संयम का सार दान और दान का सार है तपस्या तपस्या का सार है त्याग त्याग का सार है सुख, सुख का सार है स्वर्ग और स्वर्ग का सार शान्ति। (११/१२)

उपनिषद् शब्द से उप नि उपसर्ग पूर्वक 'षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने से बनता है। सद् के तीन अर्थ होते हैं विशरण अर्थात् नष्ट होना गति मान ज्ञान, गमन और प्राप्ति तथा अवसादन माने शिथिल करना।

भगवान् भाष्यकार ने कठोपनिषद् भाष्य में कहा है—अविद्यादेः संसार बीजस्य विशरणाद् विनाशनाद् .... परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् .... गर्भवास जन्म जराद्यु पद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनः पुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन वा .... ब्रह्मविद्योपनिषत्।

इसके श्रवणमननिदिध्यासन से मुमुक्षु के संसारबीज (अविद्या को) समाप्ती हो जाती है, यह हुआ विशरण, परब्रह्मका आत्मत्वेन बोध, यह गति का अर्थ तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु, आदि सभी प्रकार के दुःख शिथिल हो जाते हैं, यह हुआ अवसादन का अर्थ।

सबका सार हुआ शन्ति की प्राप्ति।
दुःख का नाश एव परमान्द की अवाप्ति।

अतः वेदादि सभी का तात्पर्य सार तत्त्व परमात्मा की प्राप्ति में ही है।

सम्बन्ध–ज्ञानवान् संन्यासी की महिमा उनकी प्रशंसा।

अर्थ–नित्य ब्रह्म ज्ञान सम्पन्न यति रोष और मोह से शून्य होता है। उसकी मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में समान बुद्धि होती है। पञ्चकोशों के अभिमान-से रहित, संधि-विग्रह-से विगत होने

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।
विमुक्त सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम्।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।
(महाभा०शा० २४१)

के कारण, जिसकी निन्दा-स्तुति से कोई प्रयोजन नहीं रहता, अतः उसकी दृष्टि में न तो कोई उसका अपना प्रिय और न ही अप्रिय है। उदासीन की तरह वह भिक्षुक सर्वत्र विचरण करता रहता है।

व्याख्या—अरोषमोहः = जो संन्यासी क्रोध एवं मोह, रजोगुण तथा तमोगुण की वृत्तियों-से रहित है, **समलोष्टकाञ्चनः** = जिसकी मिट्टी के ढेल और स्वर्ण में एक सी बुद्धि है, अर्थात् वह उनमें किसी विशेषता का उनमें आरोप नहीं करता। **प्रहीणकोशः** = पञ्चकोशों के अभिमान-से शून्य, **गतसंधिविग्रहः** = अतः वह न तो किसी-से सम्बन्ध जोड़ता है, और नहीं सम्बन्ध तोड़ता है। **अपेतनिन्दास्तुतिः** = उसको न तो किसी के निन्दा-से कोई प्रयोजन होता है, और न ही स्तुति-से, **प्रियाप्रियः** = क्योंकि उसका न तो कोई प्रिय होता है, और नहीं अप्रिय। **भिक्षकः** = उपर्युक्त गुण सम्पन्न संन्यासी उदासीनवत् सर्वत्र प्रारब्ध का भोग करते विचरता रहता है॥ (म.शा. २४५/३६)

सम्बन्ध—देवता किसे ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) कहते हैं ? आग दो श्लोकों में इसी का वर्णन है।

अर्थ—जिसका जीवन (शरीर धारण) धर्मार्थ है, तथा धर्म का पालन हरि प्रीत्यर्थ है, जिसके दिन और रात पुर्ण्य कर्मों के अनुष्ठान में व्यतित होते हैं, देवगण उसको ब्राह्मण कहते हैं।

व्याख्या—यस्य = जिसका, **जीवितम्** = जीवन धारण करना, **धमार्थः** = धर्म के लिये होता है, **धर्मश्च** = और धर्म का पालन, **हर्यर्थमेव** = हरि की प्रसन्नता के लिये **अहोरात्राश्च** = जिसके दिन एवं रात, **पुण्यार्थम्** = पुण्य के लिये, अर्थात् शास्त्रविहीत पुण्य कर्मों के लिये, इसके परिपालन में बितता है, **देवाः** = देवतागण, **तम्** = उसको, **ब्राह्मणम्** = ब्राह्मण, ऐसा **विदुः** = मानते हैं।

अर्थ—जो सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त हो मुनिवृत्ति का आश्रयकर, आकाश के समान निर्मल एवं स्थिर है, किसी भी वस्तु पर अपना स्वत्व नहीं मानता शान्तभाव से अकेला ही विचरता रहता है, देवतागण उसे ब्राह्मण कहते हैं।

व्याख्या—सर्वसङ्गेभ्योविमुक्तम् = सम्पूर्ण आसक्तियों से शून्य, विमुक्त, **आकाशवत्** = आकाश के समान निर्मल, व्यापक, **अस्वम्** = किसी भी पदार्थ को अपना न माननेवाला, **शान्तम्** = शान्तभाव से, **स्थितम्** = स्थिर, **मुनिम** = आत्मस्वरूप का मानने करने वालों को, **देवा** = देवगण, **ब्राह्मणम्** = ब्राह्मण, **विदुः** = मानते हैं॥२४॥

क्षीरोदधेर्योत्तरतो हि द्वीपः श्वेताः स नाम्ना प्रथितो विशालः ।।
मेरोः सहस्त्रैः स हि योजनानां द्वात्रिंशतोर्ध्वं कविभिर्निरुक्तः ।
अनिन्दियाश्चानशनाश्च तत्र निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनस्ते ।।
(महाभा०शा० ३३५/८/९)

श्वेताः पुमांसो गतसर्वपापाश्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणामः ।
वज्रास्थिकायाः सममानोन्माना दिव्यावयवरूपाः शुभसारोपेताः ।।
छत्राकृतिशीर्षा मेघौद्यनिनादाः सममुष्कचतुष्का राजीवच्छतपादाः ।

सम्बन्ध—श्वेतद्वीप तथा वहाँ के निवासियों के स्वरूप का वर्णन।

नारद जी के द्वारा श्वेतद्वीप के दर्शनार्थ गमन हेतु, भगवान् से निवेदन के पश्चात् द्वीप के दर्शन।

अर्थ—मेरु के शिखर पर से उत्तर-पश्चिम की ओर दृष्टिपात करने पर उन्होंने एक अद्भूत दृश्य देखा। क्षीरसागर के उत्तर की ओर श्वेत नामक विख्यात (प्रसिद्ध) विशाल द्वीप है, वह नारद जी के दृष्टि का विषय हो गया, उन्हें दिखने लगा। कवियों अर्थात् क्रान्तदर्शियों ने उस द्वीप को मेरु पर्वत से बत्तीस हजार योजन ऊँचा कहा है। वहाँ के लोग अनिनिद्रय, निराहार, स्पन्दन रहित, होते हैं, उनके अङ्गों-से उत्तम सुगन्ध निकलती रहती है।

व्याख्या—**क्षीरोदधेः** = क्षीरसागर के, **उत्तरः** = उत्तर की ओर, हि-निश्चय ही, **योद्वीपः** = जो द्वीप विराजमान है, **स नाम्नांश्वेतः** = उसका नाम श्वेत द्वीप है, **प्रथितो विशालः** = जो लोक में अपनी विशालता के कारण प्रसिद्ध है, **सःहि** = वह श्वेत द्वीप, **मेरोः** = मेरुपर्वत-से, **योजनानां द्वात्रिंशत् सहस्त्रै उर्ध्वं** = बत्तीस हजार योजन ऊँचा है, **च अनिन्द्रियाः** = और वहाँ के निवासी देवताओं के द्वारा भी नहीं देखे जा सकते हैं, **अनशनाश्च** = तथा उन्हें आहार की आवश्यकता नहीं होती, **तत्र** = वहाँ के निवासी, **निष्पन्दहीनाः** = चेष्टारहित होते हैं अर्थात् विना श्रम के ही इच्छित वस्तु उन्हें मिल जाती है। **सुसुगन्धिनस्ते** = एवं उनके देह से अत्यन्त मोहक सुगन्ध निकलती रहती है।

अर्थ—वहाँ के निवासियों के शरीर का रंग श्वेतवर्ण का होता है, अर्थात् अत्यन्त तेजोमय होता है, क्योंकि वे अत्यन्त ही निष्पाप अर्थात् निर्मल अन्तःकरणयुक्त होते हैं, इसके कारण पापी मनुष्य उनकी ओर ठीक-से देख भी नहीं पाते, उनके नेत्र बन्द हो जाते हैं। श्वेत द्वीप के निवासियों के शरीर एवं अस्थियाँ वज्र के सदृश अत्यन्त दृढ़ होते हैं। मनापमान में उनकी बुद्धिसम रहती है, वे दिव्यावयव सम्पन्न एवं शुभ बल युक्त होते हैं, उनके मस्तक छत्र के सदृश एवं स्वर मेघों के गर्जन के समान गम्भीर होता है।

भूतानां निधनं निष्ठा स्रोत सामिव सागरः । (म०भा०शा० २२४/९)
अर्थसिद्धिमनर्थं च जीवितं मरणं तथा ।
सुखदुःखैफले चैव न द्वेष्मि न च कामये ।।१३।।

व्याख्या—पुमांसः = वहाँ के निवासियों के, **श्वेताः** = शरीर का वर्ण गौर होता है, **गतसर्वपापा** = उनमें पाप का लेश भी नहीं होता, **पापकृतांनराणाम्** = पापकर्म करने वाले मनुष्यों के, **चक्षुर्मुषः** = नेत्र उनकी ओर देखने पर दिव्य ज्योति के कारण चौधिया जाते हैं, अर्थात् बन्द हो जाते हैं, **वज्रास्थिकायाः** = वहाँ के निवासियों के शरीर की हड्डियाँ वज्र के समान कठोर होती है, **सममानोन्माना** = मान और अपमान दोनों ही में उनकी सममति होती है, **दिव्यावयवरूपाः** = उन सबका स्वरूप देखने में अत्यन्त ही अलौकिक होता है, **शुभसारोपेताः** = वे कल्याप्रदसामर्थ्य से सम्पन्न होते हैं, **छत्राकृतिशीर्षा** = उन सबके मस्तक का आकार छत्र के सदृश होता है, **मेघोघनिनादाः** = तथा उनके स्वर (ध्वनि) मेघों की घटाके तुल्य (ओघ माने समुदाय) होता है।

सम्बन्ध—एक समय इन्द्र समस्त असुरों पर विजय प्राप्तकर लोकपिता ब्रह्माजी के समीप जाकर हाथ जोड़ प्रणाम करने के पश्चात् पूछा—हे देव ! बलि कहाँ छुपा है ? हे ब्रह्मन् ! मुझे उसका पता बताइये। तब ब्रह्माजी ने कहा: हे इन्द्र ! तुम जो मुझसे बलि का पता पूछ रहे हो यह ठीक नहीं। पूछने पर असत्य भाषण नहीं करना चाहिये, अतः में उसका पता बता देता हूँ। किसी शून्यागार में ऊँट, गौ, गर्दम या अश्व जाति के पशुओं में जो जीव मिले वही बली है, ऐसा जानना। पश्चात् ब्रह्माजी के कहे अनुसार इन्द्र ने किसी शून्य घर में गधे के वेष में अपने को छुपाये बलि को देखा। इन्द्र ने जब बलिका अत्यन्त उपहास किया, तब प्रत्युत्तर में नीति की बहुत-सी बातें बताने के क्रम में बलि ने कहा—

अर्थ—हे इन्द्र ! यह संसार चक्र स्वभाव-से ही परिवर्तनशील है, यहाँ की हर चीज अनित्य है। मैं देह की अनित्यता एवं आत्मा की असङ्गता को समझता हूँ; जैसे जल के प्रवाहों का अन्तिम आश्रय सागर है, वैसी ही गति सम्पूर्ण प्राणियों की भी है, अर्थात् जीवों की अन्तिम गति तो निधन, मृत्यु ही है।

व्याख्या—भूतानाम् = सम्पूर्ण भूतों की (प्राणियों का), **निष्ठा** = अन्तिम गति, **निधनम्** = मृत्यु है, जैसे **स्रोतसाम् इव** = समुद्रगामी सरिताओं का, **सागरः** = सागर है।

अर्थ—परस्पर अत्यन्त विपरीत अर्थ की सिद्धि अनर्थ की प्राप्ति, जीवन-मरण तथा सुख एवं दुःख, मैं न तो इनकी कामना ही करता हूँ, और न ही इनसे द्वेष।

व्याख्या—अर्थसिद्धिम् न कमाये = हे इन्द्र ! मैं न तो अर्थसिद्धि चाहता हूँ, **न जीवितम्** = न

दग्धमेवानुदहति हतमेवानुहन्यते ।
नश्यते नष्टमेवाग्रे लब्धण्यं लभते नरः ।।२०।।
अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः ।
बद्धवा तिष्ठति मां रौद्रः पशुरशनया यथा ।।
(म०भा०शा० २२७/१८२)

जीवित रहने की इच्छ ही मुझमें है, **न सुखफलकामये** = मैं सुखमय फल की कामना भी नहीं करता हूँ। **न अनर्थम्** = न अनर्थ, **मरणं** = मृत्यु तथा उसी प्रकार, **दुःखफलमद्विष्मि** = दुःखमय फल-से द्वेष ही करता हूँ।

अर्थ—कालरूपी परमात्मा ने जिसे दग्ध कर दिया है, उसे ही बाद में अग्नि दूग्ध करता है। जिसे काल ने पूर्व में ही मार दिया है, वही अन्य के हाथों मारा जाता है, जो काल के द्वारा पूर्व में ही नष्ट किया जा चुका है, वही बाद में किसी निमित्त को पाकर नष्ट होता है और कालवशात् जो पहले ही से निश्चित हो गया होता है कि अमुक वस्तु मिलेगी, वही बाद में किसी के द्वारा मिल जाती है ॥२०॥

व्याख्या—**दग्धम्** = काले के द्वारा दग्ध हुए को, **एव** = ही, **अनुदहती** = आग बाद में जलाती है, **हतम् एव** = जिसे काल ने पहले ही मार दिया, **अनुहन्यते** = वही बाद में किसके द्वारा मारा जाता है, **नष्टम् एव** = जिसका नाश काल ने पूर्व में ही कर दिया है, **नश्यते** = उसी का बाद में कोई नाश कर पाता है, **लब्धव्यम्** = और जिसका मिलना पहले ही निश्चित हो गया, **नरः** = मनुष्य वही, **लभते** = किसी प्रकार, किसी निमित्त-से प्राप्त करता है ॥२०॥

सम्बन्ध—काल की महिमा—इन्द्र को सम्मुख हाथ में वज्र लिये देख कर भी बलि निर्भय एवं निर्विकार ही खड़ा रहा; तब इन्द्र ने बलि-से-पूछा—बले ! क्या कारण है ? कि विपरीत परिस्थिति में पड़कर भी तुम व्यथित नहीं हो रहे हो। मुझे लगता या तो तुमने ज्ञानवृद्धों की सेवा की है अथवा तपस्या के कारण तुम्हारा अन्तःकरण अत्यन्त ही पवित्र हो गया है। तब बलि ने कहा—हे इन्द्र ! प्रत्येक व्यक्ति क्रमशः सुख एवं दुःख अवश्य प्राप्त करता है। तुमने जो आज इन्द्र का पद प्राप्त किया वह अपने पराक्रम-से नहीं बल्कि काल ही इसमें कारण है। जिस व्यक्ति पर काल आ पड़ता है, अर्थात् काल-से पीड़ित व्यक्ति को न विद्या, न तप, न दान, न मित्र और न भाई-बन्धु ही कष्ट-से बचा पाते हैं, युग-युग में इन्द्रों का परिवर्तन होने के कारण अबतक देवताओं के तुम्हारे जैसे सहस्त्रों इन्द्र काल के गाल में चले गये हैं। आज मेरा काल (प्रारब्ध) ही ऐसा आ गया है, जो तुम बढ़-चढ़ कर दिखावा कर रहे हो।

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् के लिये जिसका उल्लंघन करना अशक्य है, वही यह भयङ्कर काल पुरुष मुझे पशु की भाँति अपने पाश में बाँधे सामने खड़ा है।

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ।
वधबन्ध प्रमोक्षश्च सर्वं कालेन लभ्यन्ते।।८३।।
तेन शक्र न शोचामि नास्ति शोके सहायता।।८६।।
अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम्।
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षेर।।९२।।

व्याख्या—**सः** = वही, **अयम्** = यह, **रौद्रः** = भयङ्कर, **श्यामः** = काल, **पुरुषः** = पुरुष, **लोकस्य** = जो सम्पूर्ण जगत् के लिये, **दुरतिक्रमः** = दुर्लंध्य है, **पशुम्** = कोई पुरुष अपने पशु को, **यथा** = जैसे, **रशनया** = रज्जू के द्वारा बाँध लेता हैं, **माम्** = वैसे ही मुझको अपने पाश में **बद्धवा** = बाँधकर, **तिष्ठति** = सामने खड़ा है।

अर्थ—संसार में प्राणि को लाभ-हानि, सुख-दुःख, कामक्रोध, उत्थापन-पतन, वध, बन्ध (बन्धन में पड़ना) और मुक्ति—यह सब काल के कारण अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार ही मिलता है॥८३॥

व्याख्या—**लाभालाभौ** = लाभ-हानि, **सुखम** = सुख, **दुःखम्** = दुख, **कामक्रोधौ** = काम-क्रोध, **भवाभवौ** = उन्नति-अवनति, **वधः** = वध (हत्या या मृत्यु) **च बन्धः** = और बन्धन, **प्रमोक्षः** = एवं उससे बिलकुल छूट जाना, '**सर्वं कालेन लभ्यते** = यह सब काल के कारण ही व्यक्ति प्राप्त करता है॥८३॥

अर्थ—हे शक्र! काल की ऐसी महिमा जानने के कारण ही, उससे आक्रान्त होकर भी में शोक नहीं करता, क्योंकि शोक करने से विपत्ति दूर हो जाती हो, ऐसा दिखता नहीं उल्टे शक्ति ही क्षीण होती है।

व्याख्या—**शक्र!** = हे शतक्रतु! इसी कारण, **न शोचामि** = मैं शोक नहीं करता, क्योंकि, **शोके** = विपत्ति को हटाने में शोक से, **सहायता** = कोई मदद, **नास्ति** = नहीं मिलती॥८३॥

सम्बन्ध—बलि के पूर्वोक्त नीतियुक्त वचन सुनकर इन्द्र ने कहा।

अर्थ—हे वीर! तुम निश्चय ही धैर्य के कारण व्यथित नहीं हुये। तुम ऐसा जान लो कि मैं भी, तुम्हारी तरह विनाशरहित, सर्वव्यापी, गुह्य एवं भयङ्कर कालरुचि अग्नि में स्थित इस संसार को आशाश्वत ही मानता हूँ।

व्याख्या—**अहम् अपि** = मैं भी, **अक्षरे** = विनाशरहित, **सततगे** = सर्वव्यापी, **गुह्ये** = अज्ञेय (जो जाना न जाय), **घोरे** = अत्यन्त भयङ्कर, **कालाग्नौ** = कालरूपी अग्नि में, **आहितम्** = स्थित, **एनम्** = इस, **लोकम्** = संसार को, **एवम्** = तुम्हारी ही तरह, **अशाश्वतम्** = क्षणभङ्गुर, **जानामि** = मानता हूँ (जानता हूँ)।

न चात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ।
अप्रमतः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ।।९३-९५।।
पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ।।९६।।

अर्थ—काल के चङ्गुल में फँस चुकने के बाद, फिर उससे निकलने के उपाय किसी के पास नहीं होता। देहधारी जीव प्रमाद में पड़कर चैन की वंशी बजाता रहता है; किन्तु काल सर्वदा सावधान रहकर जागता ही रहता है।

व्याख्या—कालस्पृष्टस्य = काल के गिरफ्त में आये, **कस्यचित्** = किसी भी पुरुष के लिए, **अत्र** = (इस विषयमें) इससे छूटने का, **परिहारः** = कोई उपाय देहधारी के पास, **न अस्ति** = नहीं है, **प्रमत्तेषु देहिषु** = असावधान पुरुषों के विषय में, **अप्रमत्तः** = सर्वदा सावधान रहनेवाला, **कालः** = काल, **जागर्ति** = जागता ही रहता है ॥९३-९५॥

सम्बन्ध—जिस काल की इतनी महिमा, उसका स्वरूप कैसा है ?

अर्थ—यह काल पुरातन है, शाश्वत है, धर्मस्वरूप है, और सम्पूर्ण जीवों के प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है।

व्याख्या—पुराणः = यह काल अनादि है, **शाश्वतः** = शाश्वत है, सनातन है, इसका अन्त नहीं, **धर्मः** = धर्मस्वरूप है, और **सर्वप्राणभृतां समः** = समस्त प्राणियों के प्रति समान दृष्टि रखता है। जैसे—ऋण देनेवाला महाजन ब्याज का हिसाब जोड़कर ऋण लेनेवालों को तंग करता, कष्ट देता है, वैसे ही कालरूपी भगवान् दिन, रात, मास, क्षण, कारण, लव और कला तक का हिसाब लगाकर प्राणियों के कृतकर्म का फल उन्हें प्रदान करता है। अरे अभी तो वह जिन्दा था, प्रातः मैंने देखा था, मर गया ? ऐसा पागलों की भाँति प्रलाप करते रहते हैं। यह नहीं सोचते की काल की दृष्टि तुम्हारे पर भी है। इस प्रकार बलि के भाषण करने पर इन्द्र ने कहा, हे असुर ! तुम्हारे जैसी ज्ञानी पुरुष को बन्धन में डालकर वध करना उचित नहीं। ये वरुण पाश अपने आप ही तुम्हें छोड़ देंगे।

जब संसार में प्रजाजनों का न्याय के विपरीत आचरण होने लगेगा, तब तुम्हारा कल्याण होगा। जब पुत्रवधु अपनी वृद्धा सास-से अपनी सेवा कराने लगेगी, तथा पुत्र भी मोहवंश पिता को नाना प्रकार के सेवा कार्यों के लिये आज्ञा प्रदान करने लगेगा, शूद्रगण ब्राह्मणों से पाँव धुलवाने लगेंगे, और वे निशङ्क होकर ब्राह्मण जाति की कन्या को अपनी भार्या बनाने लगेंगे, जब ऊँच और नीच जाति के लोग एक पंक्ति में भोजन करने लगेंगे, अपवित्र पात्रों के द्वारा देवपूजा के लियं उपहार समर्पित किये जायेंगे, सम्पूर्ण वर्णधर्म जब मर्यादाहीन हो जायगा, उस समय क्रमशः एक-एक करके तुम्हारे सारे बन्धन खुलत जायेंगे।

यथा कर्म तथा लाभ इतिशास्त्र निदर्शनम्।।२०।।

सम्बन्ध–शान्ति पर्व के (२७९वें) अध्याय में युधिष्ठिर ने भिष्म से पूछा—पितामह! सभी लोग कहते हैं कि पाण्डव बड़े धन्य हैं परन्तु सत्य तो यह है कि संसार में हमलोगों से बढ़कर अत्यन्त दुखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है। देवांश होकर भी हमें यहाँ महान् दुःख प्राप्त हुआ है। जिस परम पद में स्थित होने के बाद हमें पुनः इस संसार में लौटना न पड़े, उसमें हम कब स्थित होंगे, क्योंकि हमें तो इन शरीरों का धारण करना ही दुःख मालूम पड़ता है। तब इसके उत्तर में भीष्म ने कहा—युधिष्ठिर! संसार में दुःख अनन्त नहीं है; क्योंकि जगत् की वस्तुएँ संख्या की सीमा में निश्चित हैं। तुम सब धर्म के ज्ञाता हो। स्वयं चेष्टा करके शम-दम वैराग्य, विवेक, श्रद्धा, तितिक्षा आदि साधनों के द्वारा अल्प समय में परम पद की प्राप्ति कर लोगे जो नित्य प्राप्त है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान जनित मोह को जीव जब दूर कर देता है, तब उसे सनातन ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। युधिष्ठिर ब्रह्म की प्राप्ति किसी क्रियात्मक साधन-से साध्य नहीं इसके लिये तो सभी प्राणियों एवं तुम्हें भी उन सत्पुरुषों की उपासना करनी चाहिये, जिन्होंने उस तत्व की प्राप्ति कर ली है।

युधिष्ठिर! तुमने जो यह कहा था कि हमें महान् दुःख प्राप्त हुआ है, इसका कारण क्या है? इस विषय में तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ, ध्यान-से श्रवण करो। पूर्वकाल में वृत्रासुर पराजित एवं ऐश्वर्य से च्युत हो गया था। उसका कोई सहायक भी नहीं रह गया था। देवताओं ने उसका राज्य छीन लिया, शत्रुओं के वीच पड़कर भी आसक्ति शून्य बुद्धि का आश्रय ले वह शोक नहीं करता था। इस पर (वृत्रासुर की ऐसी स्थिति देखकर) दैत्य गुरु शुक्राचार्य ने वृत्रासुर-से पूछा—"हे वृत्र! तुम्हें देवताओं ने जीत लिया, इस दिन स्थिति में पड़कर भी तुम्हारे चित्त में किसी प्रकार की व्यथा नहीं है; ऐसा किस कारण-से? ऐसा पूछने पर वृत्रासुर ने कहा—हे गुरो! सत्य एवं तपस्या के प्रभाव-से प्राणियों के गति-अगति के रहस्य को निश्चित रूप-से मैंने जान लिया है; अतः इस विषय में मैं न हर्षित होता हूँ और न हि शोक करता हूँ। प्राणि अपने पाप कर्मों के फलस्वरूप न चाहते हुए भी नरक में पतित होते हैं और पुण्य के फलस्वरूप स्वर्ग में जाकर आनन्द लूटते हैं। अपने कर्म के फलस्वरूप ही जीव करोड़ों बार देव, मनुष्य, तिर्यक् योनि तथा नरकों में भटकता फिरता है।

अर्थ–शास्त्र का ऐसा सिद्धान्त है कि जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा फल मिलता है।

व्याख्या–इतिशस्त्रनिदर्शनम् = ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है। (लोक एवं शास्त्र में ऐसे-बहुत-से दृष्टान्त भरे पड़े हैं)।

कालचारितत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
विहरन् सर्वतो मुक्तो न क्वचित् परिषज्जते ।।
स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः ।
फलं प्रकल्प्य पूर्वंहि ततो यज्ञः प्रतायते ।।
(महा०भा०शा० २६८/१८)

सम्बन्ध–बलि के प्रति इन्द्र के वचन, बलि की प्रशंसा।

अर्थ–हे असुर ! तुम काल के स्वभाव को रहस्य को जाननेवाले हो। सम्पूर्ण शास्त्रों के विषय में भी तुम्हारा ज्ञान यथार्थ है। तुम सर्वत्र विचरन् करते हुए भी सबसे अनासक्त हो, कहीं पर तुम्हारी आसक्ति नहीं है।

व्याख्या–**कालचारित्रतत्त्वज्ञः** = तुम काल के रहस्य पूर्ण व्यापार एवं उसके यथार्थ को (तत्त्वको) जानने वाले हो, **सर्वशास्त्रविशारदः** = साथ ही तुम सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञान में भी निष्णात हो, **विहरन** = सर्वत्र् विचरते हुए भी, **सर्वतः** = उन सबसे, **मुक्तः** = मुक्त हो, **क्वचित्** = कहीं पर, **न परिषज्जते** = तुम्हारी आसक्ति नहीं है।

सम्बन्ध–यज्ञ आदि कार्यों में पशु का आलम्भन न करने पर दोष की प्राप्ति नहीं होती है और आलम्भन करने पर महान् दोष प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में वेद वचनों के बलाबल को जानना बहुत ही मुश्किल है। श्रुति तथा श्रुति अनुकूल आगमों के अतिरिक्त अन्यत्र हिंसा बोधक शास्त्र का फल क्या प्रत्यक्षरूप से कुछ है या युक्ति से (यह शास्त्र विरुद्ध है, या अनुकूल) महर्षि कपिल के पूछने पर गौ में आविष्ट स्थूमरश्मि ने कहा।

अर्थ–'सर्वदा यह श्रुति श्रवणगोचर होती है कि स्वर्ग की कामना रखने वाला यज्ञ करे। अतः मनुष्य स्वर्गरूपी फल की कल्पना करता है और पुनः यज्ञ करने में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या–**स्वर्गकामः** = स्वर्ग की कामना वाला जो पुरुष है, उसके विषय में, **यज** = तुम यज्ञ करो, **इति** = इस प्रकार की श्रुतिः–वेदवाणी, **सततम्** = सर्वदा ही, **श्रूयते** = हम लोगों के द्वारा सुनी जाती है। इसलिये, **हि** = निश्चय ही, **पूर्वम्** = पुरुष पहले, **फलम्** = स्वर्गरूपी फल, **प्रकल्प्य** = का संकल्प करता है, **ततः** = पश्चात्, **यज्ञः** = उसके द्वारा यज्ञ का, **प्रतायत** = सम्यक् रूप से अनुष्ठान करता है।

अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमितिश्रुतिः ।।१९।।
यज्ञेषूपाकृतं विश्वं प्राहुरुत्तमसंज्ञितम् ।।२२।।
को जातु न विचिन्वीत विद्वान् स्वांशक्तिमात्मनः ।।२३।।
पशवश्च मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह।
स्वर्ग मेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ।।२४।।
ओषध्यः पशवो वृक्षा वीरुदाज्यं पयो दधि।
हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ।।२५।।

अर्थ—बकरा, अश्व, मेष (भेड़ा) गौ, पक्षी, ग्राम्यअन्न, जंगली नीवार आदि ये सम्पूर्ण वस्तुएँ प्राण के लिये अब है ऐसा श्रुति बताति है।

व्याख्या—**ग्राम्यः** = गाँवों में होनेवाले धान्यादि, **आरण्याः** = नीवारादि ॥१९॥

सम्बन्ध—ओषधि (अन्नादि) पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्यान्य हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल ये यज्ञ के बारह अङ्ग कहलाते हैं। तीन वेद यजमान मिलकर सोलह तथा गार्हपत्य अग्नि को मिलाकर यज्ञ के सत्रह अङ्ग माने गये हैं। इनका यज्ञ में विधि पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। मनमाने ढंग-से नहीं; इन सबका वर्णन उपर्युक्त श्लोकों में है।

अर्थ—बकरा, घोड़ा, भेड़, गाय, पक्षी, ग्राम्य अन्न तथा जंगली अन्न आदि यज्ञीय पदार्थ उत्तरोत्तर एक-दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इन सबमें 'उत्तम' संज्ञक जो विश्व के प्राणी है यज्ञ में उन्हें भी नियुक्त बताया गया है। प्राचीन पुरुषों ने इन सभी द्रव्यों को यज्ञ का अङ्ग कहा है, अतः कौन ऐसा मनुष्य होगा जो स्वसामर्थ्य के अनुसार अपने मंगलार्थ यज्ञका चयन नहीं करेगा। पशु, मनुष्य, वृक्ष तथा ओषधियाँ—ये सभी स्वर्ग की आकांक्षा करते है, किन्तु मख (यज्ञ) को छोड़कर उनके लिये स्वर्ग प्राप्ति का दूसरा कोई साधन नहीं है। ओषधि, पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, दूसरे-दूसरे हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल ये मख के द्वादश अंग माने गये हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा यजमान—ये चार मिलकर यज्ञ के सोलह अङ्ग कहलाते हैं इसके अतिरिक्त इनमें गार्हपत्य अग्नि को मिला देने से सत्रह हो जाते हैं। ये सब यज्ञ के अङ्ग हैं ॥२२-२७॥

व्याख्या—**उत्तमसंज्ञितम** = सबसे श्रेष्ठ उत्तम संज्ञक जो, **विश्वम्** = प्राणि, **प्राहु** = कहे जाते हैं, **यज्ञेषु** = विशेष यज्ञों में उनका भी, **उपाकृतम्** = यज्ञाङ्ग के रूप में ग्रहण बताया गया है, **विद्वान्** = ऐसा कौन विद्वान, होगा जो, **स्वांशक्तिम्** = अपने सामर्थ्य के अनुसार, **जातु** = किसी भी काल में,

ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश।
अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः स सप्रदश उच्यते।।२६।।
अङ्गान्येतानि .... यज्ञस्य।।२७।।
यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः।
एवं पूर्वतरः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः।।३०।।
न हिनस्ति नारमते नाभिद्रुह्यति किंचन।
यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया।।३१।।

आत्मनः = अपने लिये, **न विचिन्वित** = यज्ञ का चयन नहीं करेगा। **पशवश्च** = पशुगण, **मनुष्याश्च** = सभी मनुष्य, **औषधिभिः सह** = सम्पूर्ण औषधियों सहित, **द्रुमाश्च** = सारे वृक्ष, **समुदाय** = ये सब-के-सब, **स्वर्गम् एव** = स्वर्ग की ही, **अभिकाङ्क्षन्ते** = अभिलाषा रखते हैं, **ततः** = किन्तु पूर्व वर्णित, **मखात्** = यज्ञ व्यतिरिक्त, **च** = अन्य साधनों से, **न स्वर्गः** = स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, **ओषध्यः** = ओषधियाँ, **पशवः** = गवादि, **वृक्षा** = यज्ञीय ओदुम्बरादि, **वीरुद** = सोमलतादि; **आज्यम** = शुद्ध धृतादि, **पयः** = दुग्ध, **दधि** = दही, **हविः** = अन्यान्य हविष्य, **भूमिः** = भूमि, **दिशः** = दिशाएँ, **श्रद्धा** = आस्तिकता, **च** = और, **कालः** = समय, **एतानि द्वादश** = ये बारह तथा, **ऋचः** = ऋग्वेद, **यजूंषि** = यजुर्वेद, **सामानि** = सामवेद, **च** = तथा, **यजमानः** = यजमान, **षोडश** = ये चार मिलाकर सोलह एवं, **गृहपतिः** = गार्हपत्य, **अग्निः** = अग्नि को मिलाकर, **सः** = वह यज्ञ, **सप्तदश** = सत्रह अङ्गों वाला, **ज्ञेयः** = जानना चाहिये, अर्थात् **उच्यते** = अर्थात् ऐसा कहा जाता है। **एतानि यज्ञस्य अङ्गानि** = ये सब यज्ञ के अंग है, इनके विना यज्ञ अपूर्ण है ॥२२-२७॥

अर्थ—"ये सम्पूर्ण वस्तुएँ यज्ञार्थ ही रची गयी हैं", श्रुति के इस यथार्थ वाणी का हम लोग श्रवण करते हैं। पूर्वजों के भी पूर्वज मनुपुत्रगण ऐसा जानकर ही यज्ञ में प्रवृत्त हुए थे, और अर्वाचीन मानव पूर्व की तरह यज्ञों में प्रवृत्त हो रहे हैं ॥३०॥

व्याख्या—**यज्ञार्थानि** = यज्ञ के लिये, **सृष्टानि** = सम्पूर्ण वस्तुएँ रची गई है, **यथार्थः** = इस यथार्थ, **श्रुतिः** = वेद वचन का, **हि** = निश्चय ही हम श्रवण करते हैं, **पुर्वतराः** = पहले के तथा अर्वाचीन, **सर्वे** = सभी, **मानवाः** = लोग, **एवम् एव** = इसी श्रुत्यनुसार, **प्रवृत्ताः** = यज्ञ में प्रवृत्त होते आ रहे हैं ॥३०॥

अर्थ—यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये—इस प्रकार की भावना से युक्त हो, फल की इच्छा का त्याग कर जो यज्ञानुष्ठान करता है, वह न किसी की हिंसा करता है, न कभी किसी से द्रोह करता है, और न अहंकार के वंशीभूत हो कर्मों का आरम्भ ही करता है ॥३१॥

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति ।।

(म०शा० २६९/१०)

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात् तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ।।

(म०शा० २६९/२३)

व्याख्या—**यज्ञः** = यज्ञका, **यष्टव्यः** = अनुष्ठान करना चाहिये (यज्ञ करने योग्य है), **इत्येव** = ऐसा समझकर, **यः** = जो पुरुषः, **अफलेप्सया** = फल की अभिलाषा न रखकर, **यजति** = यज्ञ करता है, **न हिनस्ति** = वह किसी की भी हिंसा नहीं करता, **न अभिद्रुह्यति** = न किसी से द्रोह करता है, **न आरभते** = और न ही अहंकार पूर्वक यज्ञ का आरम्भ ही करता है ॥३१॥

सम्बन्ध—गृहस्थाश्रम में स्थित रहते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति। द्वन्द्वादि से शून्य, ब्रह्म के ध्यान में तत्पर, उस परम गतिको प्राप्तकर भी उन महापुरुषों का गार्हस्थ्य-आश्रम में रहने और यहाँ के धर्मों के पालन करने की क्या आवश्यकता होती है। स्यरश्मि नाम के ऋषि से कपिल के पूछने पर स्यूरश्मि ऋषि ने कहा। कपिल!—पुरुषार्थ की अन्ति अविधि यह है, के पुरुष ज्ञान प्राप्तकर परब्रह्म में स्थित हो जाय, यदि गृहस्थ में रहकर ही कोई उस परम पद को प्राप्तकर लेता है, तब तो इससे उसका, उसके धर्म का तथा उसके गृहस्थ आश्रम की महिमा और भी बढ़ जाती है; सच पूछो तो अन्य सभी आश्रम इसी पर टिके है; इसका सहारा लिये बिना अन्य आश्रम नहीं चल सकते। यथा माता का आश्रय पाकर ही सारे जन्तु जीवन धारण करते हैं, उसी तरह इतर जितने भी आश्रम हैं, सभी गृहस्थ आश्रम पर ही टिके हैं। सच पूछो तो, गृहस्थ ही यज्ञ करता है, वही तपस्या करता है। मनुष्य जिस किसी मंगल प्रद धर्म का आचरण करता है, उस धर्म का मूल गार्हस्थ्य-आश्रम ही है। कपिल! तुम ही विचार करो यदि सम्पूर्ण जन्तु एवं वृक्षादि गृहस्थेतर आश्रम में स्थित हो जायँ तो गृहस्थे तरों का क्या होगा ? अत: कुश-काश आदि तृण नगर, ग्राम या पर्वतों पर होने वाली यवादि ओषधियाँ, इन सबका मूल गृहस्थ आश्रम ही है।

अर्थ—गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, ऐसी यह वाणी किसकी है, जो सत्य होगी, अर्थात् नहीं हो सकती।

व्याख्या—**गृहात्** = गृह में स्थित रहते हुए, तथा तत्सम्बन्धी धर्म का पालन करने से, **मोक्षः** = मुक्ति, **नास्ति** = नहीं मिलती है, **एषा वाक्** = ऐसी यह वाणी जो है, वह, **कस्या** = किसकी है, **सत्या** = जो सत्य, **भवेत्** = होगी, अर्थात् नहीं हो सकती है।

सम्बन्ध—संयम का प्रकार (संयम कैसे रखें ?)

अर्थ—मनुष्यों के वाणी, हाथ-पैर, उदर तथा उपस्थ-ये चार द्वार हैं। इन सबका द्वारपाल होने की आकांक्षा रखे—अर्थात् इन पर अङ्कुश रखे। शास्त्रियविधि से इन पर संयम रखते हुए, ऋक्,

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्यात्।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमांस्तथा तत्पाणिपादं सुगुप्तम्।।२४।।
नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्तस्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम्।।२५।।

यजुः, साम तथा अथर्वरूप—चार मुखों वाले परमात्मा को भक्ति, ज्ञान, कर्म एवं यम-नियमादि अर्थात् अष्टाङ्ग योग इन चार साधनों से संयमित पुरुष प्राप्त करते हैं अर्थात् प्राप्त करे।

व्याख्या–बाहुभ्याम् = अपने हाथ-पैर को अकार्यों से मन के द्वारा निवृत्त करे, वाच **उदराद्वुपस्थात्** = इसी प्रकार वाणी, उदर एवं उपस्थ को विषयों से हटाये, **द्वारम्** = ये इन्द्रियों के द्वारा हैं, मन इन से ही बाहर जाता है। **तेषाम्** = उनका, **द्वारपालः** = द्वारपाल, **बुभूषेत्** = होने की इच्छा करे, इन पर अपना शासन रखे, निर्वाह मात्र के लिये हि सात्विक विषयों को इनसे ग्रहण करे, **वाचा** = शास्त्र की आज्ञा के अनुसार, **चतुर्द्वारम्** = चारों द्वारों के निरोध से, **चतुर्मुखम्** = ऋक, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखों वाले, **एनम्** = इस हृदयस्थ, **पुरुषम्** = को, **चतुर्धा** = भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा अष्टाङ्गयोग इन चार प्रकार के साधनों से, **उपयाति** = संयम रखने वाला प्राप्त करता है।

१. पाणिपादोदरोपस्थाः – द्वारम्। २. ऋग्यजुः सामाथर्वाणाः – चतुर्मुखम्।
३. भक्तिज्ञानकर्माष्टाङ्गयोगाः – चतुर्धा।

सम्बन्ध–हाथ-पैररूपी द्वार का संयम्॥२४॥

अर्थ–समझार पुरुष जूआ ने खेले, न दिया हुआ ऐसा दूसरे का धन न ले, नीच पुरुषों के द्वारा पकाया हुआ अन्न ग्रहण न करे और क्रोध में भरकर किसी पर प्रहार न करे—इस प्रकार के सदाचरण से व्यक्ति के हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं॥२४॥

व्याख्या–धीमान् = बुद्धिमान् पुरुष, **अक्षैः** = पाशों-से, **न दीव्येत्** = जुआ न खेले, **नादतीत** = न दिया हुआ, **वित्तम्** = धन स्वयमही न ले, **वायोनीयस्य** = नीच चाण्डाल, गोधातकादि पुरुषों का, **शृतम** = पकाया हुआ अन्न, **न प्रगृह्यात** = ग्रहण न करे, **न च एव** = और नहीं, **क्रुद्धः सन्** = क्रोधित होकर, **प्रहरेत्** = किसी पर प्रहार ही करे, **तथा** = पूर्वोक्त प्रकार से आचरण करने पर, **अस्य** = इस पुरुष के (जो व्यक्ति ऐसा आचरण करता है के) **तत्** = द्वार भूत, **पाणिपादम्** = हाथ और पैर, **सुगुप्तम्** = सुरक्षित रहते हैं॥२४॥

सम्बन्ध–वाणी रूपी द्वार की रक्षा कैसे करें?॥२५॥

अर्थ–किसी को गाली न दे, व्यर्थ ही भाषाण न करे, सत्य बोले, जितना आवश्यक हो उतना ही बोले अर्थात् मितभाषी बने, सर्वदा सावधान रहे, इस प्रकार करने से पुरुष के वाक् इन्द्रिय द्वार की रक्षा होती है॥२५॥

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्यादलोलुपः साधुभिरागतः स्यात्।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः।।२६।।
न वीर पत्नीं विहरेत नारीं न चापि नारीमनृतावाह्वयीत।
भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत तथास्योपस्यद्वारगुप्ति भवेत।।२७।।

व्याख्या—आक्रोशम् = पुरुष को चाहिये की वह किसी को, "**गाली**" **न ऋच्छेत्** = न दे, **न च** = और नहीं, **वृथ** = व्यर्थ में, **वदेत्** = इधर-उधर की बातें करे, **पैशुनम्** = किसी की चुगली, **च** = या, **जनवादम्** = निन्दा, **न कुर्यात्** = बिल्कुल ही न करे, **सत्यव्रतः** = सर्वदा सत्य बोलने का व्रत (नियम) ले ले, **मितभाषः** = जितना प्रयोजन हो बस उतना ही बोले, **अप्रमतः** = इस मनुष्य शरीर से चरम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है, अतः सर्वदा सावधान रहे, **अथ** = यदि, **तथा** = उपर्युक्त नियम का पुरुष अनुसरण करता है तो, **अस्य** = इसके, **वाग्द्वारम्** = वाक् इन्द्रिय द्वारकी, **सुगुप्तम्** = अच्छी प्रकार से रक्षा हो जाती है।।२५।।

सम्बन्ध—उदर की रक्षा कैसे करें?

अर्थ—न बहुत कम खाये, और न बहुत अधिक ही भोजन करे, सर्वदा खाऊँ-खाऊँ भी न करे, लालायित न रहे, साधु पुरुषों का संग करे, जीवनधारण के लिये जितने की आवश्यकता हो उतने का ही भक्षण करे—इस प्रकार अपने उदार द्वार की रक्षा करे, अर्थात् उपर्युक्त नियम के पालन-से ही उदर द्वार की रक्षा होती है।।२६।।

व्याख्या—अनाशनः = पुरुष बिल्कुल ही भोजन का त्याग, **न स्यात्** = न करे, **महाशनः** = और नहीं बहुत अधिक भोजन, **स्यात्** = करनेवाला हो, **अलोलुपः** = लोभी पुरुष की तरह न करे, **साधुभिः** = सत्पुरुषों के साथ, **आगतः स्यात्** = मन-कर्म-वचन से संग करनेवाला हो, इनका संग करे, **यात्रार्थम्** = जीने के लिये जितना आवश्यक हो, उतने आहर का **इह** = इस विषय में इन्द्रिय रक्षणार्थ, **आददीत** = ग्रहण करे, **तथा** = इस तरह, इन नियमों का पालन करने से, **अस्य** = इस पुरुष के, **जाठरी** = उदर रूपी, **द्वारगुप्तिः** = द्वारकी रक्षा, **स्यात्** = हो जाती है।।२६।।

सम्बन्ध—उपस्थ द्वार की रक्षा के उपाय।

अर्थ—हे वीर! अपनी भार्या के साथ ही विहार करे न की परायी स्त्री के साथ, और अपनी स्त्री का भी तबतक समागम के लिये न बुलाये जबतक की वह ऋतुकाल से निवृत नहीं हो गई हो, मन में भार्याव्रत अर्थात् एक पत्नीव्रत धारण करे। इस प्रकार के आचरण-से उसके उपस्थ द्वार की रक्षा होती है।।२७।।

व्याख्या—वीरः = वीर युधिष्ठिर!, **पत्नीं विहरेत्** = अपनी धर्म पत्नी के साथ ही वहार करे, **न नारीम्** = न की परायी स्त्री के साथ वहार करे, **नारीञ्चापि** = अपनी स्त्री को भी, **अनृताम्** = जब तक ऋतु से निवृत्त नहीं हुई हो, **न आह्वयीत** = समागम के लिये न बुलाये, **ही** = निश्चित रूप-

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत ।।२९।।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरु सत्तम।
अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।३०।।

से, **आत्मनि** = अपने मन में, **भार्याव्रतं धारयीत** = एक पत्नीव्रत धारण करो, **तथा** = इस प्रकार करने-से, **अस्य** = इस पुरुष के, **उपस्थद्वारगुप्तिभवेत्** = उपस्य द्वार की रक्षा हो सकती है ।।२७।।

सम्बन्ध—जो इन द्वारों की रक्षा नहीं करता है, उसे किस फल की प्राप्ति होती है।

अर्थ—जिसने इन चार द्वारों की रक्षा नहीं की, उस पुरुष के सारे शुभ-कर्म निष्फल हो जाते है ।।२९।।

व्याख्या—**उत** = अथवा तुम यह ठीक-ठीक समझ लो की, **अगुप्तद्वारस्य** = जिसके ये द्वार अरक्षित है, उसके, **सवाणि** = सम्पूर्ण शुभ-कर्मों के फल, **मोघानि** = व्यर्थ, **भवन्ति** = हो जाते हैं ।।२९।।

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! इस बात को धारण कर लो कि, इस द्वारों का अरक्षण शरीर धारियों के लिये दुःख ही है।

व्याख्या—**सत्तम** = हे श्रेष्ठ युधिष्ठिर !, **धारणम कुरु** = इस बात को तुम धारण करो लो कि, **शरीराणाम्** = शरीर धारियों के लिये, **एतत् दुःखम** = यह दुःख ही है, कि जो वे इन द्वारों का रक्षण नहीं करते।

सम्बन्ध—देवता किसे ब्राह्मण कहते हैं।

अर्थ—बस कटी भाग आच्छादित हो जाय, उतना मात्र वस्त्र जो धारण करता है या कौपीन मात्र को धारण करने वाला, उत्तरीय की भी अपेक्षा न रखनेवाला, धरती पर ही शयन करनेवाला, जो शय्या की भी इच्छा नहीं करता, जिसने अपनी वाहो को ही तकिये का रूप दे दिया तथा सर्वदा शान्त भाव-से रहता है, उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं ।।३०।।

व्याख्या—**अनुत्तरीयवसनम्** = जो उत्तरीय रहित कौपीन मात्र वसन (वस्त्र) धारण करता है, अर्थात् स्वल्प, प्रयोजनमात्र ग्रहण करनेवाला, **अनुपस्तीर्णशायिनम्** = उपस्तीर्ण माने विछावन उससे रहित अनुपस्तीर्ण अर्थात् विछावन के विना ही शयन करनेवाला, जहाँ-कहीं भी सो जाता है। **बाहूपधानम्** = बाँहों को ही तकिये के सदृश व्यवहार में लाता है, **शाम्यन्तम्** = सर्वदा स्वरूप के स्मरण से, निवृत्त बाह्य चिन्तन के कारण धूम-से रहित अग्नि की तरह शान्त रहनेवाला है, **तम्** = उसको, **देवाः** = दिव्यभावापन्न देवगण, **ब्राह्मणम्** = ब्राह्मण यानी ब्रह्मज्ञानी, **विदुः** = कहते

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते मुनिः ।
परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।३१।।

"न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दुषणंव्याहरेत् क्वचित्" (शा० २७९/४)

हैं (जानते हैं), क्योंकि बिना ब्रह्मज्ञान के पूर्ण निरपेक्षता नहीं आती, और निरपेक्षता आये विना, उपर्युक्त गुण किसी में नहीं आ सकते हैं ।।३०।।

अर्थ–सम्पूर्ण द्वन्द्वरूपी उपवन में जो मननशील मुनि अकेला ही रमण करता, आनन्दपूर्वक रहता है, दूसरे के विषय में कुछ चिन्तन नहीं करता है, गुण-दोष की कोई आलोचना नहीं करता है, देवता लोग उसको ब्राह्मण कहते हैं, क्योंकि उस मुनि की स्थिति समब्रह्म में है ।।३१।।

व्याख्या–सर्वेषु द्वन्द्वारामेषु = सम्पूर्ण द्वन्द्व रूपी आराम में (उपवन में), **यो मुनिः** = जो मुनि (स्वरूप का मनन करने के कारण), **एकोरमते** = एकाकी ही रमण करता है, मौज-से इनको सहता है, न सुखी होता है, और दुखी ही होता है, **परेषाम** = दूसरों के विषय में उनके अच्छाई या बुराई का, **अननुध्यायन** = कुछ भी चिन्तन नहीं करता, **देवाः** = देववृन्द, **तम्** = तादृश दिव्यभावापत्र ब्रह्मज्ञानी को, **ब्राह्मणम्** = ब्राह्मण ऐसा, **विदुः** = जानते हैं, कहते हैं।

ब्रह्मज्ञानी निवृत्त-प्रवृत्त कुछ भी हो सकता है, लेकिन संसार में प्रवृत्त व्यक्ति साधु-सन्त पर तभी श्रद्धा-विश्वास करते हैं, जो वह प्रपञ्च से उपराम हो, नहीं तो लोग आपेक्ष करना प्रारम्भ कर देते हैं ।।३१।।

सम्बन्ध–संन्यासी के आचरण।

मोक्षपर्व में युधिष्ठिर ने जब पितामह भीष्म-से पूछा कि, हे पितामह! परब्रह्म परमात्मा का जो परमोत्कृष्ट प्रपञ्च से परे पुरातन अविनाशी परमधाम है, उसकी प्राप्ति किस स्वभाव, आचरण, विद्या या कर्म से होगी। इसके उत्तर में भीष्म ने कहा; राजन! जो मोक्ष धर्म में लगा हुआ है, आवश्यकता के अनुरूप ही भोजन करता है, जिससे तत्वचिन्तन में किसी प्रकार की बाधा न लगे, उसकी इन्द्रियाँ, उसके वश में होने-से वह प्रकृति-से पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। राजन् मुमुक्ष पुरुष लाभ-हानि में सम भाव रखे, मुनिवृत्ति-से रहे, वह अपने नेत्र, मन या वाणी-से न किसी के दोष देखे, न सोचे न कहे। किसी के समक्ष या परोक्ष में अन्य के विद्यमान या अविद्यमान दोषों की चर्चा न करे।

अर्थ–किसी में दोष चाहे हो या न हो मुमुक्ष पुरुष इससे कोई मतलब न रखे, मतलब रखने से ही उसकी इनमें राग-द्वेष हो सकते हैं। प्रत्यक्ष-परोक्ष में किसी के दोष का कथन न करे। (शा० २७९/४)

व्याख्या–प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष में या **परोक्षम्** = परोक्ष में, **क्वचित्** = कभी भी किसी के, **दुषणम्** = दोष की, **व्याहरेत्** = घटा-बढ़ा कर बात न करे ।। (शा० २७९/४)

विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः ।।१५।।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तमान् ।
विमुक्ताः सप्तदशभिर्हेतुभूतैश्च पञ्चभिः ।
इन्द्रियार्थैर्गुणैश्चैव अष्टाभिश्च पितामह ।।
कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप ।(शा० २७९/४-५)

अर्थ—वह सर्वदा निर्भय रहे तथा वैराग्य का अवलम्बन कर सांसारिक चिन्तन से उपरत ही रहे। वह किसी-से-किसी प्रकार की अपेक्षा न रखे, सब में परमात्मा का दर्शन करे, भिक्षा में कच्चा-पक्का जो भी मिल उसी से निर्वाह कर ले।

व्याख्या—विभीः = यति किसी से डरे नहीं, **जप्यपरः** = सर्वदा जप परायण रहे, **वैराग्यम्** = वैराग्य का, **समुपाश्रितः** = अच्छी तरह-से आश्रय ले, **मौनी** = वह विना पूछे किसी-से कुछ भी न बोले, या आवश्यकतानुसार ही बोले अथवा उसके मन में तत्त्व के अतिरिक्त कोई अन्य बात स्फुटित हीन हो। **निःस्पृहः** = किसी-से किसी प्रकार की अपेक्षा न रखे, **समदर्शी** = वह सब में ब्रह्म का ही दर्शन करे, **च** = और, **पक्वापक्वेन** = भिक्षा में जो कुछ भी कच्चा या पक्का मिल जाय, **वर्तयन्** = उसी-से निर्वाह करे, स्वादिष्ट पदार्थों की कामना भूल कर भी न करे।

सम्बन्ध—कब हमें ब्रह्म की प्राप्ति होगी ?

अर्थ—हे पितामह ! पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व; काम, क्रोध, लोभ, भय तथा स्वप्न—ये संसार के हेतुभूत पाँच तत्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय; सत्त्वादि गुणत्रय तथा पञ्च भूतों सहित अविद्या, अहंकार और कर्म—ये अष्ट तत्त्वों समूह सब मिलाकर अड़तीस तत्व होते हैं। मुनि लोग इनसे से मुक्त हो सनातन पद को प्राप्त करते हैं। हे परंतप—हमलोग अपना राज्य त्यागकर कब उस परमपद को प्राप्त करेंगे।

व्याख्या—सप्तदशभिः = पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि ये सत्रह तत्व; **पञ्चभिः हेतुभूतैः च** = तथा काम, क्रोध, लोभ भय और स्वप्न ये संसार के पाँच हेतुभूत तत्व, इन्द्रियार्थैः—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय, **च** = तथा, **गुणैः** = सत्य रज, **तम** = ये तीन गुण, **च** = और, **अष्टाभिः** = पञ्चभूतोंसहित, अविद्या, अहंकार और कर्म—ये आठ तत्त्वों के समुदाय कुल मिलाकर अड़तीस तत्त्व होते हैं, इनसे छुटे हुए मुनि परमपद को प्राप्त करते हैं। **परंतप !** = हे शत्रुतापन् पितामह ! या परम ज्ञान ही जिसका तप ऐसे पितामह ! **वयम्** = हमलोग, **राज्यम्** = अपना कहलानेवाले, इस हस्तिनापुर को, **हित्वा** = तृणवत् त्यागकर, **कदा** = कब, **गमिष्यामः** = परमपद को प्राप्त करेंगे ॥२७९/४-५॥

सोऽऽश्रमाणां फलं तात कर्मणस्तत् फलं विदुः ।।
अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः ।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरंच सरस्वती ।।२५।।
विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ।। (भागवत ७/१५/१२)

सम्बन्ध–शुक्राचार्य द्वारा अभिवन्दित ब्रह्म पुत्र सनत् कुमार का दानवराज वृत्रासुर को विष्णु की महिमा बताना। हे दनुपुत्र ! जैसे—स्वर्णकार बारम्बार अग्नि में स्वर्णादि धातु को डालकर उसे शुद्ध करता है, उसी प्रकार जीव भी अनेक जन्मों में अपने मन को शुद्ध कर पाता है; **किन्तु बहुत अधिक प्रयत्न करे तो एक ही जन्म में वह अपने मन को शुद्ध कर सकता है।** स्वल्प पुष्प द्वारा वासित तिल और सर्षपादि का तेल अपनी गन्ध का परित्याग नहीं करता, उसी प्रकार थोड़े-से प्रत्यन-से दोष दूर नहीं होते हैं और न सूक्ष्म ब्रह्मका साक्षात्कार ही होता है। अब में तुम्हें उनकी महिमा सुनाऊँगा एकाग्रचित से श्रवण करो। 'श्रीमान् भगवान् नारायण हरि आदि और अन्त-से रहित हैं। वे अपनी रश्मियों द्वारा अर्थात् चैतन्यमयी सत्ता के द्वारा सृष्टि में व्याप्त हो रहे हैं। पृथ्वी उनके दोनों चरण हैं, स्वर्ग उनका मस्तक है, चारों दिशाएँ उनकी चार भुजाएँ हैं, आकाश श्रोत्र है, सूर्य नेत्र है, चन्द्रमा मन है, वे सम्पूर्ण भूत स्वरूप हैं। (नारायण को ही)

अर्थ–हे तात ! चारों (सम्पूर्ण) आश्रमों का फल उन्हें ही कहा गया है, क्योंकि विद्वान् कर्मों के द्वारा प्राप्त करने वाला श्रीमान् नारायण को ही माना है।

व्याख्या–**तात्** = हे वृत्र ! **आश्रमाणाम्** = सम्पूर्ण (सभी) आश्रमों का, **फलम** = फल, **सः** = उन नारायण को ही कहा है, क्योंकि, **कर्मणः** = समस्त कर्मों-से, **फलम्** = प्राप्तव्य फल, **तत** = उन्हें ही, **विदुः** = कहा है। (वे ऐसा जानते हैं)।

अर्थ–शास्त्रीय विधि-से जो कर्मों का त्याग रूप संन्यास, उसका भी फल अविनाशी नारायण ही हैं, छन्द उस अव्ययपरमात्मा के रोम हैं, तथा अक्षर (ॐकार) उस अव्यक्त की वाणी है।

व्याख्या–**अकर्मणः** = स्वरूपतः कर्मों का त्याग, वलिवैश्यादिकर्मों का, दण्डतर्पणादि संन्यासाश्रम के अनुकूल कर्मों का ग्रहण, अन्त में उनके भी त्याग का **फलम्** = फल, **स एव परमव्ययः** = भी वही परम अविनाशी परमात्मा है, ऐसा कहा है, **छन्दांसि** = ऋगादि वेद उसके रोम, **च** = तथा, **ह्यक्षरं सरस्वती** = निश्चय ही प्रणव रूपी अक्षर को उसकी वाणी कहा है ॥२५॥

सम्बन्ध–पञ्चशाखा अधर्मस्य। अधर्म की पाँच शाखाएँ।

अर्थ–विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा तथा छल ये अधर्म रूपी वृक्ष की पाँच मोटी-मोटी शाखाएँ है, धर्मज्ञ पुरुष को चाहिये की अधर्म के समान इनका यत्नपूर्वक त्याग कर दे।

१. विधर्मः—धर्मबुद्ध्यापि कृते, यस्मिन् क्रियमाणे स्वधर्मस्य बाधः स्यात् ।

२. परधर्मः—अन्येनान्यस्मै उपदिष्टः ।

३. आभासः—स्वाश्रम विपरीत सवेच्छया कल्पितः ।

४. उपमाः—पाखण्डो दम्भो वा ।

५. छलः—शास्त्रवचनानामन्यथाऽर्थ करणम् ।

सम्बन्ध—अधर्मरूपी वृक्ष के पाँच शाखाओं के स्वरूप का वर्णन ।

व्याख्या—१. "धर्मबाधो विधर्मः स्यात्" धर्मबुद्धि से भी जिस कर्म के करने पर किसी के स्वधर्म में बाधा पड़े तो उसे विधर्म कहते हैं। जैसे—कोई मन्दिर में बैठ कर जप कर रहा हो, आप आए और वहीं मन्दिर धूलने लग गये, वह व्यक्ति भींग गया उसके आसन गीले हो गये, अब वह जप कैसे करे, उसके धर्म में बाधा लगी अतः आपका कार्य विधर्म हो गया; आप बाद में धुल सकते थे, उसे सूचित कर सकते थे, पश्चात् अपना कार्य करते ।

इसी (विधर्म) को अन्य प्रकार-से समझें। कोई 'सन्त' आये हैं भीड़ लगी है, आप हाथों में फूलों की माला लिये लोगों के पैरों को पैरों-से दबाते माला पहनाने पहुँच गये, आपने सन्त के दर्शन में उनको बाधा पहुँचाई, अतः आपका यह कार्य विधर्म हो गया।

२. अन्यस्य क्षत्रियादेश्चोदितो विहितो यो धर्मः युद्धादिः सोऽन्यस्य ब्राह्मणादेः परधर्मः । "परधर्मोऽन्यचोदितः" ब्राह्मण वैश्य, शूद्र से अन्य क्षत्रिय के लिये शास्त्र ने जो आज्ञा प्रदान की है, युद्धादि की वह क्षत्रिय से अन्य ब्राह्मण वैश्य, शूद्र के परधर्म है। "सन्ध्या वन्दन" द्विजाति के लिये धर्म है, वही शूद्रादि के लिये परधर्म है।

३. **आभास**—धर्म इव आभास ते इति धर्माभासः न तु धर्मः । जो धर्म के सदृश प्रतीत होता है उसे धर्माभास कहते है। यस्तु पुंभिः स्वेच्छया चतुर्भ्य आश्रममेभ्यः पृथग् अवधूताद्याश्रमः कल्पित स आभासः । जो मनुष्यों के द्वारा स्वेच्छया चारों आश्रमों से पृथक अवधूतादि आश्रमों की कल्पनाकर ली गई है, वह आभास कहलाता है।

४. **उपमा**—"उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा" पाखण्ड या दम्भ (दिखावे) का नाम 'उपधर्म' अथवा 'उपमा' है। पाखण्डः वेदविरुद्धागमोक्तोधर्मः दम्भो वा परवञ्चनार्थोवा धर्मः उपधर्मः । वेदविरुद्ध आगमोक्त धर्म पाखण्ड है तथा परवञ्चनादि दम्भ है। पहले स्त्रियाँ भी वेद पढ़ती थीं तो आज क्यों नहीं पढ़ सकती। पहले ऐसा हुआ तो आज क्यों नहीं, इस प्रकार के दृष्टान्त से धर्म का निर्णय नहीं होता।

५. **छलः**—शास्त्रवचनानामयथाऽर्थकरणम् । शास्त्र के वचनों का अर्थ जैसा होना चाहिये वैसा न कर दूसरे प्रकार का अर्थ कर देना छल है "शब्दभिच्छलः" शब्दस्य भित् भेदनं मुख्यार्थबाधनं

षडजीववर्णाः परमं प्रमाणम् ।।३३।।

१. कृष्णः–स्थावर सृष्टिः, सत्वन्यूनं तमोऽधिकं, रजः समः ।

२. धूम्रः–पशुपक्षिणः, तमोधिकं रजोन्यूनं, सत्त्वं समम् ।

३. नीलः–मानवसर्गः, रजोऽधिकं, सत्वं न्यूनम्, तमः समम् ।

४. मध्यमरक्तवर्णः–अनुग्रहसर्गः सत्वं समं, तमोन्यूम् ।

५. पीतवर्णः–देवसर्गः, सत्वमधिकं, रजोन्यूनं, तमःसमम् ।

६. शुक्लवर्णः–कौमारसर्गः, रजः समम् तमोन्यूनम् ।

छलः। यथा—"न मांस भोजने दोषो न मद्ये न च मैथुने" इत्यादि शास्त्र वाक्यों को शास्त्रा की आज्ञा है, ऐसा अर्थ करना।

"अधर्मशाखा पञ्चेमा धमज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्" अधर्म की इन पाँच शाखाओं को धर्मज्ञ पुरुष अधर्म के समान ही त्याग दे।

सम्बन्ध–प्राणियों के वर्ण का वर्णन। (सृष्टिभेद का कारण)

अर्थ–प्राणियों के वर्ण छः प्रकार के होते हैं।

व्याख्या–जीवानाम = सम्पूर्ण जीवों के, **वर्णाः** = कृष्णादि वर्ण, **षट्** = छः प्रकार के हैं, **प्रमाणम्** = इनकी इयत्ता, **परमम्** = शास्त्रों में इसी रूप में स्वीकृत है।

अर्थ–१. स्थावर वृक्षादि की सृष्टि का रंग कृष्णवर्ण माना गया है, क्योंकि इसमें सत्वगुण की न्यूनता, तमोगुण की अधिकता तथा रजोगुण की न न्यूनता, न अधिकता बल्कि सम अवस्था होती है।

२. तमोगुण की अधिकता, रजोगुण की न्यूनता तथा सत्वगुण की सम अवस्था होने पर धूम्रवर्ण होता है। यह पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेनेवाले प्राणियों का वर्ण माना गया है।

३. रजोगुण की अधिकता, सत्वगुण की न्यूनता और तमोगुण की सम अवस्था होने पर नीलवर्ण होता है। यह मानव सर्ग का वर्ण कहा गया है।

४. जब सत्त्वगुण की सम अवस्था और तमोगुण की न्यूनावस्था हो तो मध्यम रक्तवर्ण होता है, इसको अनुग्रह सर्ग कहा गया है।

५. सत्त्वगुण की अधिकता, रजोगुण की न्यूनता और तमोगुण की सम अवस्था हो तो हरिद्रा के तुल्य पीतरंग का होता है, यह देवगणों का वर्ण है, इसे देवसर्ग कहते हैं।

६. यदा रजोगुण की सम अवस्था और तमोगुण की न्यूनता हो तब शुक्लवर्ण होता है, इसे कौमार सर्ग कहते हैं।

परं तु शुक्लं विमलं विशोकं, गतक्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र। (वृत्र १)
कृष्णस्य वर्णस्य गतिर्निकृष्टा, स सज्जते नरके पच्यमानः।
शतं सहस्राणि ततश्चरित्वा प्राप्नोति वर्णं हरितं तु पश्चात्।
स चैव तस्मिन् निवसत्यनीशो युगक्षये तपसा संवृतात्मा।।
स वै यदा सत्त्वगुणेन युक्तस्तमो व्यपोहन् घटतेस्वबुद्ध्या।
स लोहितं वर्णमुपैति नीलान् मनुष्यलोके परिवर्तते च।।
स तत्र संहार विसर्ग मेकं स्वधर्मजैर्बन्धनैः क्लिश्यमानः।
ततः स हारिद्रमुपैति वर्णं संहारविक्षेपशते व्यतीते।।
(म०भा०शा० २८)

स देवलोके विहरत्यभीक्ष्णं ततश्च्युतो मानुषतामुपैति।।४३।।

अर्थ–हे दानवेन्द्र! शुक्लवर्ण श्रेष्ठ, मलरहित, शोकहीन, परिश्रमशून्य होने के कारण सिद्धि कारक होता है।

अर्थ–कृष्ण वर्ण की गति निकृष्ट (नीच) बतायी गयी है। पूर्वोक्त गुण में स्थित निषद्ध कर्मों में आसक्त पुरुष नरक की अग्नि में पकाया जाता है।

अर्थ–जीव लाखों वर्षों तक नरक में विचरण करके पुनः हरित (धूम) वर्ण प्राप्त करता है (पश्वादि योनियों में जन्म ग्रहण करता है) वहाँ भी वह निरन्तर विवश हो बड़े कष्ट से वास करता है। पुनः जब युगक्षय होता है, तो वह तप के द्वारा संकट-से पार हो जाता है।

अर्थ–वही जीव यदा सत्वगुण से युक्त होता है, तब स्व प्रज्ञा के द्वारा तमोगुण की प्रवृत्ति को दूर करता हुआ, स्व मङ्गल के लिये चेष्टा करता है। तब सत्वगुण की अभिवृद्धि के कारण वह लोहित (रक्त) वर्ण को प्राप्त होता है (यही अनुग्रह सर्ग कहा जाता है।) किन्तु सत्वगुण में न्यूनता के कारण वही जीव नीलवर्ण को प्राप्त कर मनुष्यलोक में आवागमन करने लगता है।

अर्थ–पुनः वह व्यक्ति इस मनुष्यलोक में एक कल्प तक अपने ही धर्मों से उपार्जित बन्धनों के द्वारा बँधकर दुःख भोगता हुआ पश्चात् पाप का क्षय हो पुण्य की अभिवृद्धि होने के कारण हरिद्रा की तरह वर्ण को प्राप्त होता है। वहाँ भी सैकड़ों कल्प व्यतीत होने पर पुण्य के क्षय होने के बाद मनुष्य होता है, इस तरह कभी देवता-से मनुष्य तो कभी मनुष्य से देव योनि में भटकता रहता है।

अर्थ–वह जीव निरन्तर (सर्वदा ही) देवलोक में विहार करता रहता है और वहाँ से च्युत होने पर मनुष्य योनि को प्राप्त होता है।

सोऽस्मादथ भ्रश्यति कालयोगात् कृष्णो तले तिष्ठति सर्वकृष्टे ।।४४।।
दैवानि स व्यूहशतानिः सप्त रक्तौ हरिद्रोऽथ तथैव शुक्लः ।
संश्रित्य संधावति शुक्लमेतमष्टावरानर्च्यतमान् स लोकान् ।।४५।।
छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश ।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापाय निश्चयैः ।।३।।
चक्षुराहार संहारै मनसा दर्शनेन च । (मो० २३६/३)

अर्थ—वही देहधारी जीव काल पाकर (समय के फेर में पड़कर) वासना के वेग से आहत हो अशुभ कर्म करने के कारण मृत्यु लोक-से भी निकृष्ट योनियों में चला जाता है, और नीच से नीचतर कृष्णतल में अर्थात् वृक्षादि जड़ योनियों में जाकर रहता है।

अर्थ—क्रमेण रक्तवर्ण (अनुग्राहक देवता) हरिद्रावर्ण (देवता) तथा शुक्लवर्ण नारद, सनकादि के समान होकर वह जीव क्रमशः सात सौ दिव्य (अलौकिक) देह धारण कर भू, भुव आदि सात उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकों में भ्रमण करता हुआ पुण्य के बल से ब्रह्म लोक में चला जाता है।

सम्बन्ध—ध्यान के सहायक योग का वर्णन।

अर्थ—युक्त अर्थात् समाहितचित मननशील मुनि को, छिन्नदोष अर्थात् रागादि दोष जो योग के प्रतिबन्धकस्वरूप हैं उनका त्याग कर योग के सहायक देश (तीर्थ, पर्वत, पुण्यप्रदेश), कर्म (शरीर, वाणी, मन से होनेवाले शास्त्रविहीत वर्णाश्रमानुसार सन्ध्यावन्दनादि नित्य-नैमित्तक कर्म) अनुराग (योग्यतानुसार) भगवान् के सगुण, निर्गुण स्वरूप में प्रेम अर्थ (विहित कर्मों के द्वारा छल-कपट से शुद्ध धन का उपार्जन क्योंकि बेईमानी से कमाया धन व्यक्ति के मन को बाहर की ओर खींचता है और संसार में हि आसक्ति पैदा करता है। उपाय (साधन या विधि) उपाय (अलाभ या विघ्न का भी साथ-ही-साथ विचार कर लेना चाहिये। निश्चय (दृढ़ निश्चय साधक का विशेष गुण माना जाता है, "देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि")। चक्षुष्–स्वसाधनोपयोगी शास्त्र का अनुशीलन। आहार–मन-बुद्धि सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा सात्त्विक सत्वगुण के वर्धक वस्तुओं का ग्रहण और उसके विपरीत का त्याग। संहार–कुछ भी चिन्तन न करना या अपने कामादि रिपुओं का नाश। मन–धी, ह्री इत्यादि का अवलम्बन और दर्शन–तत्वोन्मुखी दृष्टि–योग के सिद्धि कारक इन वारहों का अलम्बन कर ध्यान योग का अभ्यास करे।

पूर्वोक्त अभ्यास योग के आश्रय का फल–'तरत्येवं महादुर्गं जरामरणसागरम्' चाहे कोई सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता हो अथवा वेदज्ञान से शून्य हो; पापाचारी हो या सदाचारी शूरवीर हो या कायर, जो इन बारह योगों का आश्रय लेता है, वह जरान्मरण महान दुर्गम दुःख ने जो पार करने योग्य है ऐसे सागर को पार कर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।।२३६/३।।

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वायव्यं प्रतिपछते।
क्रमशः पार्थिवं यच्च वापण्यं खंतथा पयः।
ज्योतिषो यत् तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः।।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते।।
(शा० २३६/१५)

शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्मः संश्रयते नमः।।१७।।
अथ धूमस्य विरमे द्वितीयं रूपदर्शनम्।
जलरूपमिवाकाशे तथैवात्मनि पश्यन्ति।
अपां व्यतिक्रमे चास्य वह्निरूपं प्रकाशते।।

सम्बन्ध—अब झटिति परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छावाले साधक को किस उपाय से शीघ्र ही सफलता मिलती है, उसके विषय में बताया जाता है।

अर्थ—साधक पुरुष अपनी वाणी का संयम (सम्यक् यम अर्थात् सत्य पालन रूप) करके पञ्चभूत सहित बुद्धि और अहंकार सम्बन्धी सप्त धारणाओं को सिद्ध करता है। योगदर्शन के अनुसार "देश बन्धचित्तस्य धारणा" चित्त का देश (वस्तु विशेष में स्थिर करना ही धारणा है।

अव इस धारणा के फल का निरूपण करते हैं।

अर्थ—जो बुद्धिमान् साधक क्रमशः अर्थात् पहले पृथ्वी, पुनः जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और बुद्धि सम्बन्धि धारणा करता है, वह इन सब के ऐश्वर्य पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। जैसे—पृथ्वी की गुरुता, असीम धैर्य, क्षमा इत्यादि। पश्चात् वह क्रमशः अव्यक्त ब्रह्म के ऐश्वर्य का भी अधिकारी बन जाता है अर्थात् व्यापकता असंगता इत्यादि।।२३६/१५।।

सम्बन्ध—अब योग युक्त साधक का धारणा पूर्वक ध्यान के समय कैसी अनुभूती होती है, उसका वर्णन करते हैं।

अर्थ—अहंकार-से रहित साधक जब पृथिवी की धारणा करता है, तव उसे ऐसा अनुभव होता है, मानो शिशिर ऋतु के कुहरे के सदृश कोई अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण नभ (आकाश) को आच्छादित कर रही है।।१७।।

अर्थ—अनन्तर जब धूम की कुहासे की निवृत्ति हो जाति है, तब द्वितीय रूप का दर्शन होता है।

अर्थ—पृथिवी की धारण के पश्चात् जब साधक जल तत्त्व की धारणा करता है, तब उसे ऐसा अनुभव होता है, मानो यह सारा आकाश जलमय हो गया अर्थात् नभ में केवल जल-ही-जल है, ऐसा अनुभव होता है। पुनः इस प्रकार कर अनुभव भी समाप्त हो जाता है; क्योंकि साधक जब

तस्मिन्नुपरतेऽजोऽस्य पीतशस्त्रः प्रकाशते।
ऊर्णारूप सवर्णस्य तस्य रूपं प्रकाशते।।२०।।
अथ श्वेतां गतिं गत्वा वायव्यं सूक्ष्ममप्युत।
अशुक्लं चेतसः सौक्ष्म्यमप्युक्तं ब्राह्मणस्यवै।।२१।।
जातस्य पार्थिवैश्वर्यैः सृष्टिरत्र विधीयेते।
पृथिवीं कम्पयत्येको गुणो वायोरितिश्रुतिः।
आकाशभूतश्चाकाशे सर्वणत्वात् प्रकाशते।।२४।।
वर्णतो गुह्यते चापि कामात् पिबति चाशयान्।

पुनः अग्नि तत्त्व की धारणा करता है, तब उसे यह अनुभव होता कि बस केवल एक अग्नि तत्त्व ही सर्वत्र फैला हुआ है, और कुछ नहीं, उस अग्नि का ही प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। अनन्तर वायु की धारणा बताते हैं।

अर्थ–तस्मिन् उपरते = उस अग्नि तत्व के भी लय होने पर युक्त अर्थात् योगी को ऐसा अनुभव होता मानो सर्वत्र वायु-ही-वायु फैला है। वायु के वृक्ष और पर्वतादि ही शस्त्र है, अपने सामर्थ्य से सबको अपने में समेट लेने के कारण 'वायु' का नाम 'पीतशस्त्र' हो जाता है। वह **ऊर्णारूपस्य** = उस वायु के पृथ्व्यादि तत्वों के आच्छादक रूप का ही प्रकाशन होता है॥२०॥

अर्थ–भास्वर तेज का लय और वायु-तत्त्व का धारणा के द्वारा विजय प्राप्त कर लेने पर सूक्ष्म वायु भी आकाश में लीन हो जाता है और अशुक्ल प्रतीतिमात्र नीलाकाश अवशिष्ट रह जाता हैं, उस समय ब्रह्म का साक्षार करनेवाले साधक का मन अत्यन्त सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हो जाता है॥२१॥

अर्थ–इन तत्वों पर विजय प्राप्त करने के कारण, पार्थिव ऐश्वर्य के उत्पन्न हो जाने से, योगी में सृष्टि करने के सामर्थ्य आ जाता है।

वह योगी एतादृश सामर्थ्य का अधिकारी हो जाने के कारण प्रजापति के ही समान अपने शरीर से प्रणाओं की सृष्टि कर सकता है। वायु तत्व के सिद्ध हो जाये के कारण वह योगी अङ्गुठे मात्र से दबाकर सम्पूर्ण पृथिवी को हिला सकता है।

धारणा के द्वारा आकाश तत्त्व पर अधिकार प्राप्त करने लेने के कारण योगी पुरुष आकाश में ही सवर्णत्वात्-आकाश के सदृश धर्मवाला होने के कारण अर्थात् व्यापकरूपेण प्रकाशित होता है अर्थात् व्यापक हो जाता है॥२४॥

वह योगी आकाश के सदृश व्यापक होने से, **गुह्यते** = अपने आप को इच्छानुसार छुपा लेता है, क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति आचुकी होती है और भी वह बड़े-बड़े जलाशयों को अपनी इच्छानुसार जब चाहे पी सकता है।

न चास्य तेजसा रूपं दृश्यते साम्यते तथा।
अहङ्कारेऽस्य विजिते पञ्चैते स्युर्वशानुगाः ।।२५।।
षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यथ।
निर्दोष प्रतिभा ह्येनं कृत्स्ना समभिवर्तते ।।२६।।
प्रोक्तं तद्व्यक्तमित्येव, जायते वर्धते च यत्।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम् ।।३०।।
वेदनार्ताः प्रजा दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
एतस्मिन् विरतो मार्गे विरमेन्न च मोहित ।।(शा० २४०/३२)

अर्थ—अग्नि तत्व पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वह योगी अपने वपु को इतना तेजस्वी बना सकता है कि कोई सामान्य पुरुष उसकी ओर देख भी नहीं सकता और न ही कोई उसको अपने सामर्थ्य से अभिभूत ही कर सकता है। जब वह अहंकार तत्व पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब तो पाँचों तत्व (भूत) उसके अधीन हो उसका अनुगमन करने लगते हैं ॥२५॥

अर्थ—पञ्चभूतों एवं अहङ्कार इन छः तत्वों की 'आत्मा' बुद्धि को जीत लेने पर योगी प्रभूत ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेता है, एवं इस योगी को सम्पूर्ण तथा निर्दोष प्रतिभा (ऋतम्भरा प्रज्ञा जो कि तत्व को प्रकाशित करनेवाली होती है) की प्राप्ति हो जाती है ॥२६॥

अर्थ—जन्म (शरीर धारण), वृद्धि, (शरीरावयव विकास), जरा (वृद्धावस्था) तथा मरण (जीवात्मा का शरीर से वियोग) इन चार लक्षणों से युक्त तत्त्व को व्यक्त कहते हैं, और इससे जो अलग है, जो उपर्युक्त लक्षणों से रहित है, उसको अव्यक्त कहते हैं। वेदादि शास्त्रों में अव्यक्त तत्त्व के दो भेद कह गये हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा ॥३०॥

सम्बन्ध--योग मार्ग में स्थित साधक परमात्मा की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाये, पश्चात् मन एवं बुद्धि की वृत्तियों द्वारा प्रपञ्च का मनन-विचार छोड़, सर्वव्यापक परमात्मा में लगाये, कामादि दोषों को सम्यक् रूपेण त्याग कर सत्वगुण का सेवन करे, ताकि वह अपनी निद्रा पर विजय प्राप्त कर सके, क्योंकि अनावश्यक निद्रा का सेवन का त्याग विना सात्विक गुण की अधिकता के साधक नहीं कर सकता। धैर्य का अवलम्बन ले शिश्न (ब्रह्मचर्य) और उदर की रक्षा करे अर्थात् भोजन की चिन्ता कभी न करे। इस क्रम में भगवान् व्यास जी कहते है हे शुक्र !

अर्थ—धन की प्राप्ति की लालसा के कारण वेदना से आर्त, अत्यन्त पीड़ित प्रजा की स्थिति को देख-सुनकर साधक उससे विरक्त ही हो जाय—उसकी बुद्धि मिट्टी के ढेले, पत्थर एवं स्वर्ण में सम रहे, उनमें से किसी में महत्त्व को स्थापित न करे। साधक इस योग मार्ग से बारम्बार विघ्नों के आने पर भी न इस मार्ग से विचलित हो और न ही मोहित ही हो, वह कभी ऐसा न समझे की अभी तक नहीं हुआ छोड़ों इस मार्ग को, संसार में अच्छा था।

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयोविदुः ।।४।।
कामं क्रोध च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
सत्वसंसेवनाद् धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ।।५।।
अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी ।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ।।३४।।
ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ।।१०।।
शौचमाचार संशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः ।
एतैर्विवर्धते तेजैः पाप्मानं चापकर्षति ।।११।।

वस्तुतः साधक को पूर्वाभ्यास जन्म-जन्मान्तर की वासनाएँ बहुधा विषयों की ओर खींच लेती है, साधक में एक द्वन्द्वात्मक स्थिति बनी रहती है। जिससे साधक घबड़ाकर कभी-कभी भगवान् पर भी आपेक्ष कर बैठता है। अतः भगवान् की वाणी जो शास्त्र उसके माध्यम-से मानो भगवान् साधक को सान्त्वना प्रदान कर रहे है। साधका घबरा मत में तेरे साथ हूँ। तेरा अभीष्ट अत्यन्त निकट है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय का पुनः निरूपण कर रहे हैं।

अर्थ—कविगण अर्थात् विद्वान् न केवल शास्त्रज्ञ अपितु तत्वदर्शि ऐसे क्रान्तदर्शी ऋषियों ने योग के पाँच दोष बताये हैं—काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न इनका समुलोच्छेद कर डाले। इनका उच्छेद कैसे करना चाहिये ? इसका उपाय बता रहे हैं ।।४।।

साधक पुरुष क्रोध को शम (शान्ति से अर्थात् मनोनिग्रहपूर्वक) से जीते, काम को संकल्प के त्याग द्वारा, लोभ को सन्तोष-से, भय को तत्त्व के विचार-से एवं निद्रा को सत्वगुण के सेवन-से जीते। इस प्रकार धीर पुरुष योग के पूर्वोक्त दोषों का उच्छेद कर सकता है ।।५।।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त योग का अधिकारी वर्ण, लिङ्ग विशेष न होकर सार्वभौम, इसका प्रतिपादन।

अर्थ—चाहे कोई निकृष्ट वर्ण का पुरुष अथवा नारी ही क्यों न हो, यदि वह धर्म पालन की आकांक्षा रखता हो तो, पूर्वोक्त योगमार्ग के द्वारा परम गति की प्राप्ति कर सकते हैं।

सम्बन्ध—तेज की वृद्धि एवं पापों के नाश का उपाय।

अर्थ—ध्यान (इष्ट का चिन्तन) अध्ययन यथायोग्य वेदादि का अध्ययन, देश-कालपात्र के विचार पूर्वक दातव्य बुद्धि से दान, सत्यवाचन, अकार्य से लज्जा सरलता, क्षमा, शौच आचार शुद्धि, इन्द्रियों का निग्रह—इन सबके द्वारा साधक के तेज का विशेषतया विकास होता है, साथ ही पापों का भी विनाश होता है।

समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन् ।।१२।।
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ।।१३।।

न तं विदाषु य इमा जजानान्यद्युष्माक मन्तरं बभुव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्यो चासुतृपे उक्थशासैचरन्ति ।।३१।।

अर्थ—साथ ही साधक को चाहिए कि वह सभी प्राणियों में समभाव रखे, कहीं भी विशेषता का आरोप न करे; नहीं तो राग-द्वेष के कारण वह अपने परमार्थ-से च्युत हो जायगा। लाभ-हानि में समान भाव रखे, तृष्णा का परित्याग करे। तपस्या के द्वारा वह अपने पापों को धो-बहा डाले, साथ ही वह इतना तेजस्वी हो की अन्यायपूर्वक किसी से अभिभूत न हो, जितने-से निर्वाह हो जाता ही, तपस्या में शारीरिक दुर्बलता कारण के बाधा न आती हो उतना मात्र शुद्ध, सात्विक भोजन ग्रहण करे, विषयों को देख-सुन-छू कर भी उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का विकार न हो, ऐसा साधक नरक के द्वार स्वरूप काम और क्रोध को अपने वश में करके ब्रह्म के उस परम पाद को पाने की इच्छा करे जिसे प्राप्त कर पुनः इस जन्म-मृत्यु रूप संसार में आना न पड़े।

सम्बन्ध—"न तं विदाषु" यह मन्त्र यजुर्वेद के सत्रहवें अध्याय का इक्तिसवाँ मन्त्र है। इस अध्याय में चित्यपरिषेकादिमन्त्रों का संकलन है। 'चित्य' का अर्थ वेदी की रचना तथा परिषेक का अर्थ है सींचन। वेदी का निर्माण नियतमाप युक्त इष्टका द्वारा विहित है। इसी अध्याय के द्वितीय मन्त्र "**इमा मे अग्न इ'ष्टका धेनवः**" में चितियों के लिए जो इष्टका का चयन किया गया है, वह अग्निदेव की कृपा से इहलोक एवं परलोक में कामधेनु के सदृश इच्छाओं को पुरी करनेवाली हो तथा प्रथम मन्त्र "**अश्मन्नूर्जं पर्वते**" से वेदी के चारों ओर सींचन करने का उल्लेख है। सोलहवें मन्त्र तक अग्नि देवता की विभिन्न प्रयोजनार्थ स्तुनि करते हुए प्रशंसा की गई है। सत्रहवें मन्त्र से लेकर बत्तीसवें तक परमात्मा की विश्वकर्मा नाम से स्तुति, नके द्वारा सृष्टि रचना इत्यादि का वर्णन किया गया है। वर्णन क्रम में "न तं विंदाथ" इस मन्त्र में परमात्मा (विश्वकर्मा) मनुष्यों को उपदेश प्रदान करते हैं।

व्याख्या—हे जीवाः, यो विश्वकर्मा इमा-इमानि भूतजातानि, जजान—उत्पादितवान् जनयति पालयति उपसंहरति वा, तम्परमात्मानम् विश्वकर्मणं, यूयम् न विदाथ जानीथ। अतः कार्यात् युष्माकं च तस्य पुरुषस्य। अन्यत् महत् अन्तरं बभूव। पुरुषो जनको यूयं जन्याः। एवं प्रत्यक्ष अनुत्त्वा अथेदानी परोक्षानभिनयेन दर्शयन्नाहा ये चैते जीवाः। नीहारेण अविद्यया प्रावृता अवगुण्ठिताः। ये जल्प्या प्रावृताः। जल्पनं जल्पीः तया जल्प्या यथा—देवदत्तोऽहं, मदीयस्य पुत्रः भार्याचैषेति तथा प्रावृताः व्याप्ताश्च। कुतार्किकाभिप्रायमेतत्। किं च असुतृपः असून् प्राणान्तर्पयन्ति इति असुतृपः प्राणपोषणपरायणः एतादृशाः जीवाः। उक्थासः परलोकभोगान् संपादयितुं यज्ञेषु उक्थानि शंसन्तिप्रशंसन्ति उक्थशासः शस्त्रस्तोतारः यज्ञशीलास्ते पुरुषं प्रति विचरन्ति।

मधुव्वाता ऋतायुते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥२७॥

अर्थ—हे जीवगण! जिस विश्वकर्मा ने अपनी मायाशक्ति के द्वारा, पञ्चभूतात्मक इस जगत् को उत्पन्न किया, इसका निर्माण किया, जिससे श्रेष्ठ और कोई नहीं एवं जो प्रत्यक् चैतन्य आत्मा-से अभिन्न है, ऐसे विश्वकर्मा को, क्योंकि विश्व इसका कर्म है, तुम सब उसको नहीं जानते, अत: तुम सब उस पुरुष के कर्म हो इसलिए, अज्ञानवस्था में उसमें और तुममें महान् अन्तर है। पुरुष जनक है; और तुम सब जन्य हो। वह भ्रामक है, और तुम सब भ्राम्य हो। यदि उस परमात्मा को अपनी आत्मा-से अभिन्न रूप में उपासना करो तो यह संसार नहीं है इस अभिप्राय को प्रत्यक्ष न कहकर अब परोक्ष बात को खुलकर शास्त्र अर्थात् आज्ञा द्वारा दिखा रहे हैं। अविद्या से अवगुण्ठित आच्छादित जो ये जीव हैं, ये मैं देवदत्त हूँ, यह मेरा पुत्र है; यह मेरी भार्या है इस प्रकार की मिथ्या जल्पना-कल्पना करते रहते हैं यतोहि ये अविद्या से मोहित हैं, अत: कुतार्कि हैं और श्रुति स्पष्ट कहती है—"नैष तर्केण मतिरपनेया"।

और भी जो जीव केवल अपने प्राणों के पोषण में लगे रहते हैं ऐसे जीव स्वगादि उत्कृष्ट की प्रशंसा करनेवाले वेद वाणियों में ही भटकते रहते हैं।

सम्बन्ध—"**मधु व्वाता॰**" मन्त्र यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय का सत्ताईसवाँ, अठाईसवाँ उन्तीसवाँ मन्त्र है। इस अध्याय के प्रथम मन्त्र के भाष्य में आचार्य श्रीमहीधर ने—"**त्रयोदशे**" पुष्कर पर्णाद्युपधानमन्त्रा उच्यन्ते ऐसा कहा है। पुष्कर नाम कमल का है, इसके पत्रादिकों को चिति (वेदी) में रखने के मन्त्र कहे गये हैं।

सत्ताईसवें मन्त्र में आचार्य श्री उवट ने "कूर्मं दधिमधुधृतैरभ्यनक्ति" ऐसा कहा अर्थात् दही, मधु तथा धृत के सम्मिश्रण से कच्छप को स्नान कराना है। इस मन्त्र से अभिषेकादि कार्यों में भी देवता को स्नान कराया, जाता है।

अर्थ—ऋत नाम यज्ञ का है। ऋतायते यज्ञम् इच्छते यजमानाय अर्थात् यज्ञ की इच्छा करने वाले यजमान के लिए, वाता वायवः सम्पूर्ण वायु, मधु अर्थात् मधुमन्तः रसवन्तः रसवान् होकर बहता है। अपने कर्तव्य का सम्यक् परिपालन करनेवाले के सभी अनुकूल हो जाते हैं।

व्याख्या—**सिन्धवः** = समुद्र जलमात्र (नदी, ताडागदिस्थ) का उपलक्षण है। ये सभी यज्ञ की कामना वाले के लिए, **मधु क्षरन्ति** = सुमधुर जल स्रावित करते हैं, बहाते हैं। **ओषधीः** = औषधियों, **नः अस्माकं** = हमलोगों के लिए, **माध्वी मधुररसोपेताः युक्ताः सन्तु भवन्तु** = मधुर रसोंवाली हो जावे।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२८॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँऽअस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। (अ० १८)

अर्थ–नक्तम्-रात्रि नः = हम लोगों के लिए, **मधु** = मधुर होव, **उषसः** = दिवस (सूर्योदय से डेढ़ घटि पूर्व उषाकाल होता है, उषस का मधु होना सम्पूर्ण दिन का मंगल होने के समान ही है, शय्या त्याग से पूर्व ही परमात्मा के स्मरण की बड़ी महिमा शास्त्रों में है, क्योंकि ईश्वर का स्मरण व्यक्ति को सम्पूर्ण विपत्तियों से मुक्त कर देता है) **नः** = हमारे लिए मधुमय हो या दिवाभिमानी देवता, हमारे दिन को मधुमय करें ऐसी प्रार्थना है। यह मातृस्थानीय पृथ्वी हमारे लिए मधुर शस्य देने वाली हो, पितास्थानीय द्युलोक हमारे लिए मधुररस युक्त हों।

अर्थ–वनस्पति हमारे लिए मधुमान् हो, मधुररस प्रदान करनेवाले हो। भगवान् सूर्य हमारे लिए मधुमान् हों अर्थात् अपने असह्य ताप-से सन्तप्त न करें। गायें हमलोगों को मधुर क्षीर प्रदान करनेवाली हों।

सम्बन्ध–भगवती माता 'गीता' कहती है—

शास्त्रविहित विध्यनुसार यज्ञ, दान, एवं तप अवश्य करना चाहिये, इनका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि यज्ञ, दान, एवं तप मनीषियों को भी पावन कर देता है।

'यज्ञ' शब्द यज्देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु इस धातु से बना है।

देवपूजार्थ में इज्यन्ते पूज्यन्ते अर्च्यन्ते वा इन्द्रादि देवता अनेनइतियज्ञः अथवा इज्यते देवा अस्मिन्निति यज्ञः।

'अनेकार्थाः हि धातवः' व्याकरण के इस न्याय के अनुसार उपर्युक्त अर्थ से अतिरिक्त सङ्गतिकरण एवं दान अर्थ में भी 'यज्' धातु का प्रयोग होता एवं धर्म रक्षा के लिए समाज के श्रेष्ठ पुरुषों की सहायता से लोगों को संगठित करना भी यज्ञ ही है; तथा ऐसे ही समाज के दीन-हीन व्यक्तियों को देश, काल, पात्र के अनुसार अपनी सामर्थ्य के अनुरूप निष्काम या सकाम भाव से वस्तुओं का दान करना भी 'यज्ञ' है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥१॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥२॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥३॥

यजुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है। इसके बत्तीसवें अध्याय में 'सर्वमेध' यज्ञ के मन्त्रों का संकलन है। यह यज्ञ सावभौम इष्टसिद्धि एवं समृद्धि के निमित्त किया जाता था। यह किसी के मत-से दश एवं किसी के मत से चौंतीस दिनों पूर्ण होता है। इस यज्ञ के करणे के पश्चात् याजक गृहस्थ जीवन त्यागकर एकान्तवास पूर्वक, तपोमय जीवन व्यतीत करता है। इसमें ज्ञान का निरूपण होने के कारण यह अध्याय उपनिषद् के सदृश है। इसके पहले मन्त्र में ब्रह्म का विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है। इसके द्रष्टा ब्रह्मा, आत्मा देवता एवं अनुष्टुप छन्द है।

अर्थ—तत् पद वाच्य जो परम पुरुष परमात्मा है, वही अग्नि है; वही आदित्य है; वहीं वायु है; वही चन्द्रमा है; वही वीर्य है; वही त्रयीविद्यारूप शब्द ब्रह्म है; वही जल है और वही प्रजापति भी है। ये सब परमात्मा के ही स्वरूप हैं ॥१॥

अर्थ—विद्युतः विशेषण द्योतते प्रकाशते इति विद्युत् तस्मात् विशेषज्योतियुक्तात् स्वतः प्रकाशयुक्तात् पुरुषात् पुरि शयनात् पुरुषः तस्मात् परमश्वरात् अधि, पुरुषसकाशाज्जजिरे जाताः। के? सर्वे निमेषादयः कालस्य व्यवहारार्थं अवयवाः।

उस प्रकाशमान या विद्योतमान पुरुष परमात्मा से हि सम्पूर्ण निमेष, त्रुटि, काष्ठादि काल के अवयव उत्पन्न हुऐ है, उसकी सत्ता से ही प्रकाशित हो रहे है। इस परम पुरुष परमात्मा को आज तक किसी ने भी न तो ऊपर से परिग्रहण किया है, न तो चारों दिशाओं से जाना है, और मध्य का ही पता लगा पाया है। अगर लग जाय तो उस परमात्मा की अनन्तता कहाँ सिद्ध हुई। श्रुति कहती है—'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते' इति ॥२॥

अर्थ—**नाम** = निश्चय ही, **यस्य** = पूर्वमन्त्रों में वर्णित जिस विद्योतमान पुरुष का, **महद्यशः** = यश महान् है, **तस्य** = उस परमात्मा कि प्रतिमा अर्थात् प्रतिमान, तुलना सादृश्य किसी के साथ नहीं हो सकती।

अथवा ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका उस परमात्मा को समझाने के लिए दृष्टान्त के रूप उपमा दी जाय, क्योंकि उसका प्रतिमा, उपमान नहीं है, अतः यह उपमेय भी नहीं हो सकता है। ऐसा क्यों ? क्योंकि 'तस्य नाम महद्यशः' उसका एक नाम 'महद्यश' है, इससे बढ़कर किसी का यश

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा। विधेम ॥४॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥५॥
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

नहीं, जब किसी का है ही नहीं, तो फिर किसकी उपमा दी जाय ? अपने पक्ष की पुष्टि के लिए अन्यान्य वेद मन्त्रों को प्रमाण के रूप में स्वयं उपस्थापित कर रहें हैं। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" २५.१०.१३; "मामा हिंसीज्जनिता" (१२.१०२) तथा "यस्मान्न जातः इन्द्रश्चसम्राट्" (यजु० ८.३६.३७) 'वह हिरण्यगर्भ है; वह हमारी हिंसा न करे तथा जिससे बढ़कर कोई नहीं आदि मन्त्र भी उसकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं ।।३।।

प्रतीक के रूपमें गृहीत "हिरण्यगर्भः" इस मन्त्र का नीचे विवरण किया जा रहा है।

अर्थ—जातः भूतस्य = उत्पत्स्यमान उत्पन्न होने वाले भूतों-प्राणियों के अग्रे—आंग पहले, **हिरण्यगर्भः** = हिरण्यगर्भ परमात्मा ही, **समवर्त्तत** = विद्यमान थे, विराजमान थे, दूसरा कोई उस समय नहीं था। जब सभी उत्पन्न हुए, तब वही सबका एकमात्र पति पालन कर्ता स्वामी था। वही परमात्मा इस पृथिवी सहित, पृथिवी के प्राणियों को धारण करता है, इन सबका पोषण करता है; वही परमात्मा इस द्युलोक को धारण करता है, इन सबका पोषण करता है; **कस्मै** = उस हिरण्यगर्भ, **देवाय** = देव के लिए हम सब, **हविषा** = हवि, **विधेम** = प्रदान करें ।।४।।

अर्थ—कस्यै देवाय = उन प्रजापति देवता के निमित्त हम हवि प्रदान करते है। जो परमात्मा, **प्राणतः** = प्राणापानादि के धर्म तथा, **निमिषतः** = निमेष उन्मेष अर्थात् नेत्रादि व्यापार से युक्त जड-चेतनात्मक सृष्टि के, **महित्वा** = अपनी महिमा से एकमात्र, **इन्द्राजा** = स्वामी या अधिपति हुए हैं, तथा **य** = जो (वह) परमात्मा, **अस्य** = इस संसार के, **द्विपदश्चतुष्पदः** = मनुष्यादि दो पाये एवं गायादि चौपाये पशुओं के, **ईशे** = स्वामी है ।।५।।

अर्थ—यस्य = जिस परमात्मा के, **महित्त्वा** = महिमा की निशानी के रूप में, **इमे हिमवन्तः** = हिमालय सहित, **तत्पार्श्वस्थित** = सम्पूर्ण पर्वत स्थित हैं। **यस्य** = जिसकी महिमा, **रसया सह** = नदियों के साथ, **समुद्रम्** = समुद्र भी जिसकी महिमा का प्रतीक है, **इमाः प्रदिशः** = ये सम्पूर्ण दिशाएँ, **यस्य बाहु** = जिसकी भुजाएँ कही जाती हैं। **कस्मै देवाय हविषा विधेम** = उस परमात्मदेव प्रजापति के लिए हम हवि का दान करते हैं ।।६।।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥
मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानद् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥
यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य, आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराण स्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥९॥

सम्बन्ध—पूर्वोक्त मन्त्रों के द्वारा परामात्मा के विभूतियों का वर्णन किया गया है। यह सम्पूर्ण संसार, सत् परमात्मा की विभूति है, उनका ऐश्वर्य है, साधक इन मन्त्रों के अनुचिन्तन से इन्द्रियों चपलता को नियन्त्रित कर सकता है। गीतोक्त विभुतियोग का आधार भी वेदोक्त यही मन्त्र प्रतीत होते हैं।

अर्थ—आत्मानं स्वस्वरूपं ददाति इति आत्मदाः। बलं ददाति इति बलदाः। जो स्वरूप का बोध कराने वाले एवं सामर्थ्य को प्रदान करने वाले हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उसके अनुशासन को स्वीकार करता है। देवता भी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। उसकी छाया, आश्रय अर्थात् अनुभव भी ज्ञान मुक्ति में हेतु है एवं इसके विपरित उसका अज्ञान, उसको न जानना ही मृत्यु है, जन्म-मरण का कारण है। उस प्रभु की हवि प्रदान के द्वारा हम पूजा करें॥७॥

अर्थ—जनिता यः पृथिव्याः = जिसने इस पृथिवी को उत्पन्न किया, **यो वा सत्यधर्मा दिवं व्यानट** = अथवा जिस सत्यधर्मा देव ने द्युलोक को, व्यानट् **(असृजत्)** = प्रकट किया या व्याप्त किया। **प्रथमो जान यश्चापश्चन्द्राः** = जो प्रथम शरीधारी होकर, **चन्द्राः** = आह्लादिका अर्थात् जगत्कारणभूत आपाः (जलानि) जगत्कारभूत आल्हादक जल को प्रकट किया। उस प्रजापति देव का हम हवि के द्वारा यजन करें॥८॥

अर्थ—आठवें अध्याय में सवन अर्थात् याग के उपयोगी मन्त्रों का उल्लेख है, कर्मकाण्ड का उपयोगी होता हुआ भी यह मन्त्र वस्तुतः सर्वव्यापक परमात्मा के सर्वत्र व्यापकता का वर्णन करता है।

व्याख्या—यस्मात्-परमात्मनः = अर्थात् जिस परमात्मा-से, **परः** = श्रेष्ठ, इस संसार में, **जातः** = उत्पन्न हुआ, **अन्यः** = दूसरा कोई भी, **न** = नहीं, **अस्ति** = है। **यः** = जो परमात्मा, **भुवनानि** = भूत, **जातानि** = भौतिकशरीर परिग्रह करनेवाले अथवा, **विश्वा** = सम्पूर्ण लोकों में स्व महिमा के वल से, **आविवेश** = प्रवेश किये हुए हैं। **प्रजापतिः** = वह परमात्मा सम्पूर्ण उत्पन्न प्राणियों का पालन करनेवाला या पतन से रक्षा करनेवाला होने के कारण पति है, स्वामी है। **प्रजया** = वह जात प्राणियों के साथ, **संरराण** = क्रीड़ा करता हुआ। **त्रीणिज्योतींषि** = स्वप्रकाश-

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतु रग्र एतम्। तयोरहमनु भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा।॥१०॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः सः जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥११॥

स्वरूप प्रजापति सूर्य, चन्द्र, एवं अग्नि के रूपमें **सचते** (सेवते)–सम्पूर्ण प्राणियों को प्रकाशित करता है, **सः** = वही ईश्वर षोडशी कला-ग्रहण करता है ।।९।।

अर्थ–इस मन्त्र का उच्चारण कर विशेष में (षोडशीग्रह) में सोमरस का पान किया जाता है। इन्द्रश्च सम्राट् यो वाजपेययाजी चकार बालात् वरुणस्याऽपि ग्रहणेम्। राजा यो राजसूयभाजी, भवति सम्राट् वाजपेयेन" (उव्वट)

इस मन्त्र में इन्द्र का सम्राट एवं वरुण को राजा कहा गया है। किं भूत इन्द्रः सम्राट-परमेश्वर्ययुक्तः = वह इन्द्र सम्राट् क्यों है ? क्योंकि वह परमैश्वर्यशाली है। यहाँ कश्यप-अदिति के संतान-इन्द्र का वर्णन नहीं, वेद में इन्द्रादि नाम से एक उसी सर्वसमर्थ परमात्मा का वर्णन हुआ है। इन्द्रादि के ऐश्वर्य का तो मन्वन्तरान्त में विनाश भी होता है। अत: यहाँ प्रजापति परमात्मा का ही वर्णन है। या परमात्मा ही इन्द्रादी के रूप में प्रकट हो ने वाजपेय उसने किया था, क्योंकि वाजपेय यज्ञ के करणे में बहुत धन की आवश्यकता होती जो की सामान्य ऐश्वर्य से सम्भव नहीं, अथवा इन्द्र ने यज्ञ करन के कारण परमैश्वर्य की प्राप्ती की थी।

वेद के प्रत्येक मन्त्र के दश अर्थ होते हैं, अत: अर्थभेद (व्याख्या भेद) सम्मन है। **वरुणश्च राजा**–वरुण राजा है क्योंकि वे राजसूययाजी हैं।

उन इन्द्र एवं वरुण ने षोडशीग्रह भाग में हे सोम ! सर्वप्रथम तुम्हारा पान किया था। पश्चात् में तुम्हारा पान करता हूँ। 'जुषाणा सेवमाना मदीयेन पानेन वाग्दवी विद्याया: देवी सरस्वती प्राणदेव तया साकम् सोमेन तृप्ता' मेरे द्वारा पान किये गये सोमपान-से देवी सरस्वती प्राणों के साथ तप्त हो जायें, एवम् आहुति प्रदान है ।।१०।।

अर्थ–वही सर्वव्यापक परमात्मा प्राच्यादि दशों दिशाओं को व्याप्तकर विराजमान है।

निश्चय ही यही सबसे पहले प्रकट हुआ है, गर्भ में भी वही विराजमान हैं। प्रत्यक्ष दृश्यमान जो प्रपञ्च, इस प्रपञ्च के रूप में भी वही विराजमान है। आगे होने वाला प्रपञ्च भी वही है। प्रतिपदार्थम् अञ्चति इति प्रत्यङ्—वह सम्पूर्ण प्रदाथ को व्याप्त कर स्थित है, क्योंकि यह सर्वतोमुखः—अनन्तमुखवाला है। वह अचिन्त्यशक्तिवाला है।

एक ही तत्व का वर्णन श्रुती बार-बार करती है, ताकी जीव को किसी भी प्रकार बोध हो जाय ।।११।।

यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥१२॥
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१३॥
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम।
आपो ह यद्बृहतीर्यश्चिदापः॥१४॥

अर्थ—उस प्रजापति देव से पूर्व कुछ भी प्रकट नहीं हुआ था, अतः वह अनादि है।

यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आबभुव समन्ताद्भावयामास।

जिस परमात्मा ने सम्पूर्ण लोकों का (चतुदर्श भुवनों का) तत् तत् लोकों में स्थित भौतिक देहधारी जीवों का समन्ताद् पोषण किया। वह एक होकर भी अपनी अचिन्त्य माया शक्ति के बल से एतादृश कार्य करने में समर्थ हुआ। वस्तुतः इसमें उसके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं। उत्पन्न प्राणियों के साथ रमण करता हुआ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि इन प्रकाशपूर्ण स्वरूपं को ग्रहण कर वह तीनों लोकों को प्रकाशित करता हुआ, सोलहों कलाओं से पूर्ण रहता है॥१२॥

अर्थ—जिस परमात्मा की शक्ति के द्वारा उग्रस्वभाववाली द्यौ अर्थात् आदित्यादि अपने स्थान पर स्थिर है तथा यह धरा जिसके सामर्थ्य से द्रवता को नहीं प्राप्त होती है, सुतरां दृढ़ है, स्थिर है, जिसके प्रभाव से स्वर्ग अपने स्थान से चलायमान नहीं होता, जिसने वैकुण्ठ को भी स्तम्भित कर रखा है अर्थात् जिसके सामर्थ्य से वैकुण्ठ भी स्थिर है। जो अन्तरिक्ष में 'रजसः' उदकस्य वृष्टिस्वरूप का 'विमान' अर्थात् निर्माता है, उस परमात्मा का हम हवि से यजन करते हैं॥१३॥

अर्थ—क्रन्दन करने के स्वभाववाली यह धावापृथिवी अवसा-अन्नेन वृष्टि एवं शस्यादि के द्वारा, तस्तभाने-प्राणिसमुदाय को स्तम्भित करती हुई, मनसा अभ्यै क्षेताम् = मन से काँपती हुई, इस भय-से कि कहीं कोई गलती तो नहीं हो गई है, अतः विनयावनत होते हुए दीप्ति से युक्त, परमात्मा पर दृष्टिक्षेप कर स्थित रहती है।

जिस आधार में भुवन भास्कर सूर अर्थात् सूर्य उदय हो प्रकाश करता है, उस परमात्म देव का हम हवि द्वारा यजन करते हैं। मन्त्र में दो मन्त्र के प्रतीक दिए गये हैं। (आपो ह यद्बृहतीः (२७/२५) एवं यश्चिदापः (२७/२६) इन दोनों मन्त्रों का भी पाठ करना चाहिये॥१४॥

आपो यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानाᳪ समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१५॥
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम्॥१६॥
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदᳪ स च विचैति सर्वᳪस ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥१७॥
प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥१८॥

अर्थ–यद् यदा अर्थात् यस्मिन, काले, जिस समय, ह—निश्चयेन निश्चय ही आपः जलम् बृहती-महती "अणोरणीयाम् महतो महीयान्" इस श्रुति वाक्य के अनुसार वह परमात्मा महान् है, उस परमात्मा की विभूति आपः भी महती है अतः महती जल ने जब इस विश्वरूप प्रत्यक्ष दृश्यमान् जगत् जो वर्तमान् में है को बीज रूप से गर्भ में धारण, ग्रहण किया। अनन्तर अग्निम् व्याख्यानात् उष्मा को उत्पन्न किया। तब वह परमात्मा देवों का एकमात्र "असुः"–प्राणात्मा, **समवर्तत** = हुआ। उस प्रजापति देव का हवि प्रदान के द्वारा हम यजन करते हैं॥१५॥

अर्थ–जिस अन्तर्यामी देवता ने **स्व महिना** = महिमा से, **पर्यपश्यत्** = परितो आपोदृष्टवान् **सर्वतो ददर्श वा** = सब ओर फैले हुए जल को देखा, उसी ने अपने सामर्थ्य से प्रजापति दक्ष को प्रकट किया, एवं यज्ञ को प्रकट किया, जो सभी देवताओं में बढ-चढ़कर हैं। एक देवता या, उस प्रजापति देव के लिए हम हवि समन्वित यज्ञ करते है, अर्थात् यज्ञमय परमात्मा का यज्ञ के द्वारा भजन करते हैं॥१६॥

अर्थ–वेनो नाम विचक्षणः, विद्वान् पुरुष परमात्मा को गुहा गुहायां हृदि हृदयकोश में **निहितं** = विराजमान् देखता है, **सत्** = जो त्रिकालाबाधित हो अर्थात् उस नित्य परमात्मा में यह संसार सत्य सा प्रतित होता हुआ भी संकुचित होकर रहता है। अर्थात् ज्ञानोत्तर काल में बाधित होता है। उसी परमात्मा में यह संसार गतिमान् है वह सबमें अनुस्यूत है, या उसीमें ओत-प्रोत है। वह विभू है, अर्थात् व्यापक है॥१७॥

अर्थ–अहो आश्चर्य है; कोई एक विद्वान् जो कि वेदवेत्ता है न केवल तत्त्वतः अपितु अर्थतः भी उस परमात्मा को जानता है; "ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" ऐसा विचक्षण, उस परमात्मा का प्रकृष्टता से वर्णन करता है।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥१९॥
परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश ॥२०॥
परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥२१॥

गन्धर्वः—गां वेदवाणी धारयति विचारयति इति गन्धर्वः। जो वेदवाणी को स्वाध्याय के द्वारा धारण करता है, तथा उस पर विचार भी करता है। श्रवण पश्चात् मनन के विना विद्या पकती नहीं अतः श्रवण के पश्चात् मनन एवं उसके पश्चात् निधिध्यासन की विशेष आवश्यकता है। धाम—वह अपने जस्स्वरूप को विभृतं अर्थात् नानाभूतसर्गस्थितिप्रलयरूपैर्विभक्तम् अर्थात् सृष्टि-स्थिति एवं प्रलय के कार्य भेद से ब्रह्मा विष्णु रूप रूप में विभक्त न होता हुआ भी विभक्त सा प्रतीत होता है; यह सब वह परमात्मा, गुह्यायां सत् हृदयरूपी गुहा में स्वरूपतः विराजमान रहता हुआ ही करता है। उस परमात्मा के एक पाद में ही यह सृष्टयादि क्रियाएँ होती रहती है, उसके अवशिष्ट तीन पाद तो गुहा में ही स्थित है, अर्थात् उसके शेष तीन पादों का रहस्य किसी को ज्ञात नहीं है।

उसके अवशिष्ट तीन पाद को भी जो जान लेता है, वह पिता का भी पिता है, क्योंकि उसका पिता उस जानने योग्य को नहीं जाना ॥१८॥

अर्थ—वास्तव में वही हमलोगों का बन्धु है, वह हम सबको उत्पन्न करने वाला है और वही 'विधाता' धारण करने वाला भी है। वह देव सूर्यादि समस्त तेजों को एवं लोकों को जानने वाला है। जिस परब्रह्म परमात्मा में दिव्यगुणान्वित देव समूह **अमृतम्** = परब्रह्मलक्षणस्वरूप को उपभोग करते अर्थात् अनुभव में रमण करते हैं। वही देवगण तृतीये **धामनि स्थाने** = जिसे स्वर्ग भी कहते हैं, उसमें अपनी इच्छा से प्रवर्तित होते है, नन्दनादि में विचरते रहते हैं ॥१९॥

अर्थ—सर्वव्यापक परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों को अतिक्रमण कर स्थित है, वह सम्पूर्ण लोकों के ऊपर स्थित है वह दसों दिशाओं को लाँघकर विराजित है। **उपस्थाय** = अधिष्ठित करके तात्पर्य है, कि वह परमात्मा ऋतस्य **(यज्ञस्य)** = यज्ञ की, आत्मना आत्मानाम् प्रथम जात प्रकृति को आश्रय करके वह स्वयं में ही स्वयं विराजित है ॥२०॥

अर्थ—**सद्यः** = अविलम्बेन वह प्रजापति देव द्युलोक एवं पृथिवी लोक को अतिक्रमण कर इनमें, एवं इनसे बाहर भी स्थित है; इतना ही नहीं वह इन दोनों के अतिरिक्त अवशिष्ट लोकों को भी तत्-तत् दिशाओं सहित लाँघकर विद्यमान है। ऋतस्य यज्ञस्य तन्तु विततं विस्तृत स्वरूपं

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषᳪं स्वाहा ॥२२॥
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥२३॥
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥२४॥
इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥२५॥
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातᳪं सचेमहि ॥ (शु० ३/५५)

विचृत्य विच्छिद्य परिसमाप्य यज्ञ के तन्तु को विस्तार को समाप्त कर कार्य परब्रह्म को देखा अर्थात् उसके स्वस्थ का ज्ञान से अवलोकन किया और स्वयं भी वही बन गया या ब्रह्म ने स्वयं को प्रपञ्च के रूप में प्रकट किया। क्योंकि ब्रह्म अभिन्न मत्तोदान कारण है ॥२१॥

अर्थ—सदो यज्ञगृहं तस्य पतिः सदसस्पतिः अर्थात् यज्ञगृह के स्वामी आश्चर्यजनक इन्द्र के प्रिय, **काम्यं-कामसंपत्करम्** = सभी के द्वारा काम्य कामना करने योग्य अग्नि को मैं, **सनि** = धन, **मेधाम्** = एवं मेघा के लिए प्रार्थना करता हूँ। उस देव के लिए यह आहुति है ॥२२॥

अर्थ—जिस मेघा की देवगण एवं पितरगण उपासना करते है, कामना करते हैं, हे अग्निदेव ! आप मुझे उस मेधा से मेधावी बनाओ, आपके लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ ॥२३॥

अर्थ—वरुण मुझको मेधा प्रदान करें। अग्निदेव एवं प्रजापति भी मुझे मेधा दें। इन्द्रदेव एवं वायुदेव मुझे मेधा प्रदान करने वाले होवें, धाता भी मुझे मेधा दें, आप सबके निमित्त यह आहुति है ॥२४॥

अर्थ—पूर्वोक्त मन्त्रों द्वारा याचित 'मेधा' जिसे इस मन्त्र में सर्वोत्कृष्टाश्री के रूप में वर्णन किया गया है; उस मेधा रूपी सम्पत्ति से ब्रह्म (ब्राह्मण), क्षत्र (क्षत्रिय) दोनों ही उपकृत हों। देवतागण इस मेधा को मुझमें धारण करें। हे श्री मेध ! तुम्हारे लिए यह आहुति है ॥२५॥

अर्थ—हे पितृगण ! दैव्यो जनः देव-सम्बन्धी जनः = देवता से सम्बन्ध रखने वाले दिव्यजन, पुनः हमारा मन हमें प्रदान करें। उस मन से हम अपने सम्बन्धियों का सेवन करें उसका पालन करें। (शु० ३/५५)

वयं सोमव्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ (शु० ३/५६)

समुद्रस्योत्तरे तीरे द्विविदो नाम वानरः ।
एकाह्निकं ज्वरं हन्ति लिखिते यस्तु पश्यति ।।

१. ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म
२. ऐं सच्चिदेकं ब्रह्म
३. ह्रीं सच्चिदेकं ब्रह्म
४. श्रीं सच्चिदेकं ब्रह्म

अर्थ—इस मन्त्र का सोमगायत्री जप में विनियोग होता है। तृतीय अध्याय के मन्त्रों का आधान एवं अग्निस्थापन के कर्मों भी प्रयोग होता है। सोम से कर्ता प्रार्थना करता है। हे सोम ! प्रयायुक्त हम सभी यजमान आपके कर्म में स्थित, शरीर में मन को धारण करते हुए।

अन्यत्र मन को न ले जाते हुए, अर्थात् चञ्चलता का त्यागकर आपके द्वारा प्राप्त सेवनीय पदार्थों का त्यागपूर्वक सेवन करें। (शु० ३/५)

सम्बन्ध—भगवद् उपासना की तीन विधियाँ है—वैदिक, पौराणिक एव तान्त्रिक। अल्प-आयू शौचादि का अभाव एवं समयाभाव के कारण भगवान् ने कलि कलुपित जीवों के सरलता से कल्याणाय तन्त्रमार्ग को प्रशस्त किया। कुल १९२ तंत्र है, जो सम्प्रदाय भेद से 'बँटे हुए हैं। उनमें में महानिर्वाणतंत्र भी एक है। जिसके वक्ताशिव एवं श्रवणकर्त्री देवी पार्वती है। भगवान् के अनुचिन्तन के मुख्य चार आधार माने जाते हैं। नाम रूप लीला और धाम। नाम उपासना की भी अनेकविधियाँ हैं, सम्प्रति 'महानिर्वाण तंत्र के अनुसार ही—

मन्त्र चतुष्टय की व्याख्या की जा रही हैं। इस मन्त्र की पुरश्चरण संख्या ३२०० हजार की है, इसके सदाशिव ऋषि हैं, अनुष्टुप छन्द है, परब्रह्म देवता है एवं चतुवर्ग की प्राप्ति में इसका विनियोग है।

सर्वप्रथम "प्रणव" मन्त्र का उच्चारण करें पश्चात् "सच्चित्" पद का उच्चारण करे, पुनः "एकम्" पद का उसके बाद "ब्रह्म" पद का उच्चारण करे। इस प्रकार क्रम से क्रम से एक-एक पद का उच्चारण करने पर "ओम् सच्चिदेकं ब्रह्म मन्त्र का उद्धार होगा। यह मन्त्र सिद्ध-असिद्ध-अरि-मित्र आदि दोषों से रहित है।

इसके अनुष्ठान के लिए तिथि-नक्षत्र, राशि, आदि का विचार; कुलाकुलादि के नियम या संस्कार की भी अपेक्षा नहीं होती।

अकारेण जगत्पाता संहर्ता स्यादुकारतः।
मकारेण जगत्स्रष्टा प्रणवार्थ उदाहृतः ।।३२।।
''सच्छब्देन सदास्थायि चिच्चैतन्यं प्रकीर्तितम्''
एकमद्वैतमीशानि बृहत्त्वाद् ब्रह्म गीयते।
मन्त्रार्थं कथितो देवि साधकाभीष्टसिद्धिदः ।।३४।।
मन्त्रचैतन्यमेतत्तु तदधिष्ठात् देवता ।।३५।।
अस्याधिष्ठात् देवेशि सर्वव्यापि सनातनम्।
अवितर्क्यं निराकारं वाचातीतनिरञ्जनम् ।।३६।।
वाङ्मायाकमलाद्येन तारहीनेन पार्वति।
दीयते विविधा विद्या मायाश्रीः सर्वतोमुखी ।।३७।।

''सर्वथा सिद्धमन्त्रोऽयं नात्र कार्याविचारणा'' यह मन्त्र सर्वथा सिद्ध है, इसमें किसी प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। किसी सदगुरु से इस मन्त्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

''मन्त्रग्रहणमात्रेण देही ब्रह्ममयोभवेत्'' ब्रह्ममन्त्र को ग्रहणमात्र-से देही ब्रह्ममय हो जाता है। साधक को मन्त्र का अर्थ एवं उसकी चैतन्य शक्ति को जानकर इस मन्त्र का जप करना चाहिये।

''अतोऽस्यार्थं च चैतन्यंकथयामि शृणुप्रिये''

अर्थ—''अ''—कार का अर्थ है जगत्पाता, ''उ''—कार का अर्थ है संहार कर्ता और ''म'' कार का अर्थ जगत् की सृष्टि करनेवाला, प्रणव का यही अर्थ कहा गया है ।।३२।।

अर्थ—''सत्'' शब्द का तात्पर्य है सदास्थायि एवं चित् शब्द का अर्थ 'चैतन्य' कहा गया है। हे ईशानि! ''एक'' शब्द का अर्थ हैं द्वैतभाववर्जित, बृहत् होने से ब्रह्म कहा जाता है। यह हे देवि! साधकों का अभीष्ट करने वाला मन्त्र का अर्थ मैंने तुमसे कहा है ।।३४।।

अर्थ—मन्त्र के अधिष्ठात् देवता का ज्ञान होने को ही मन्त्र चैतन्य कहते हैं ।।३५।।

अर्थ—हे देवेशि! जिस तत्व को अवितर्क्य, सर्वव्यापी, सनातन, निराकार, वाचातीत एवं निरंजन अर्थात् अमल कहते हैं, वह विभुपरमात्मा ही इस मंत्र के देवता हैं ।।३६।।

अर्थ—''ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म'' मन्त्र प्रणव छोड़कर ''ऐं'', ''ह्रीं'' तथा ''श्रीं'' को प्रणव के स्थान पर जोड़कर नाना विद्या, माया और सर्वतोमुखी लक्ष्मी प्रदान करने वाली हो जाती है ।।३७।।

मन्त्र जपार्थ न्यास प्रयोग—करन्यास
ओम् अङ्गुष्ठाभ्यान्नमः ।
सत् तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
चिन्मध्यमाभ्यां वषट् ।
एकमनामिकाभ्यां हुम् ।
ब्रह्म कनिष्ठाभ्यां वौषट् ।
ओम् सच्चिदेकं ब्रह्म करतलकरपृष्ठाभ्यांफट् ।
अङ्गन्यास—ओम् हृदयाय नमः ।
चिच्छिखायै वषट्
सच्छिरसे स्वाहा ।
एकं कूवचाय हुम् ।
ब्रह्म नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ओम सच्चिदेकं ब्रह्म करतलकर पृष्ठाभ्यां फट् ।

ब्रह्ममानसपूजा—

गन्धं दद्यान्महीतत्त्वं पुष्पमाकाशमेव च ।
धूपं दद्याद्वायु तत्त्वं दीपं तेजः समर्पयेत् ।
नैवेद्यं तोय तत्त्वेन प्रदद्यात्परमात्मने ।।५२।।

अर्थ—न्यास के पश्चात् "ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म" इस मूलमन्त्र के द्वारा अथवा प्रणव मन्त्र से आठ, बत्तीस एवं सोलह के क्रम से पूरक, कुम्भक एवं रेचक करे। प्राणायाम के बाद चैतन्य ब्रह्म का हृदय में ध्यान करे। मन्त्र—

ॐ हृदयकमलमध्ये निर्विशेषं निरीहं हरिहरविधिवेद्यं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
जननमरणभीतिभ्रंशि सच्चित्स्वरूपं सकलभुवनबीजं ब्रह्म चैतन्यमीडे ।।

जो निर्विशेष सम्पूर्ण विशेषणों से अथवा भेदों से शून्य चेष्टा या क्रिया रहित, हरिहर एवं ब्रह्मा के भी जानने योग्य योगियों के द्वारा ध्यान गम्य, जिनकों जानकर साधक जन्म-मृत्यु के भय-से रहित हो जाता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि के बीजस्वरूप हैं, उस ब्रह्म चैतन्य की मैं स्तुति करता हैं। इस प्रकार ध्यान कर के साधक श्रद्धा एवं भक्ति के साथ मानसोपचार के द्वारा ब्रह्म की अर्चना करें।

अर्थ—मानस पूजा में पृथ्वी-तत्व को गन्ध के रूप में कल्पना कर गन्ध अर्पण करें। जैसे—

१. ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं परिकल्पयामि। हे देव! मैं पृथ्वीस्वरूप चन्दन आपको समर्पित कर रहा हूँ। ऐसे ही

पञ्चरत्नस्तोत्रम्

ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय नमस्तेचिते विश्वरूपात्मकाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय।।
त्वमेकं शरण्यं त्वमेक वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्।।
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम्।।

---

२. ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं परिकल्पयामि। (समर्पयामि)
३. ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं परिकल्पयामि। (आघ्रापयामि)
४. ॐ रं वह्नयात्मकं दीपं परिकल्पयामि। (दर्शयामि)
५. ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं निवेदयामि।
६. सौं सर्वात्मकं सर्वोपचारं समर्पयामि।

इसके बाद मन-ही-मन "ओम् सच्चिदेकं ब्रह्म" उस महामन्त्र का जप कर ब्रह्म को समर्पण करे अनन्तर ब्राह्म पूजा आरम्भ करे। अन्त में पुनः "ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म" इस मूल मन्त्र का जप करे। जप समर्पण करके स्तोत्र एवं कवच का पाठ करे।

अर्थ–सम्पूर्ण विश्व के सृष्टि-स्थिति-लय के कर्ता होते हुए भी अकर्ता, सम्पूर्ण लोकों के आश्रय प्रदाता आधार, तीनों कालों में विद्यमान हे ब्रह्मन्! आपके लिए नमस्कार है।

चैतन्य स्वरूप विश्वात्मन् आपके लिए नमस्कार है। सम्पूर्ण द्वैतभाव विवर्जित मुक्ति (ज्ञान) प्रदान करनेवाले हे ययार्थ! आपके लिए नमन हैं। प्रपञ्च के गुण-धर्मी से रहित, विभु (घट-घटवासी) बृहत् (अनत) परमात्मन्! आपको बारम्बार नमन है।

अर्थ–हे विभो! एक आपही मुझे शरण प्रदान करने वाले हैं, एक आप ही वरण करने योग्य हैं। केवल आप ही जगत् के कारण हैं, एवं कार्यरूप में भी आप ही हैं, इस सृष्टि के रचयिता, पालनकर्ता एवं सहार कर्ता भी आप ही हो, इस विश्व में आप-से बढ़कर कोई नहीं आप क्षयशून्य हैं, आपको अपनी बुद्धि से कल्पना नहीं कर सकता की आप ऐसे ही हैं।

अर्थ–हे ब्रह्मन्! आपके भय-से भय भी भयभीत होता है, भयानक से भी भयानक आप हो, सम्पूर्ण प्राणियों के एकमात्र गति आप ही हैं, आपने इतने पवित्र हैं कि पवित्र को भी पवित्र कर देते हैं, उच्च पदासीन ब्रह्मादि के भी नियन्ता आप ही हैं तथा विष्णु आदि पालनकर्ता-रक्षण कर्ता के भी रक्षक आप ही हैं।

परेश प्रभो सर्वरूपाप्रकाशिन्ननिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य।
अचिन्त्याक्षर व्यापकाव्यक्त तत्त्व जगदभासकाधीश पायादपायात्॥

तदेकं स्मरामस्तदेकं जपामस्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

पञ्चरत्नमिदं स्तोत्रं ब्रह्मणः परमात्मानः।
यः पठेत्प्रयतो भूत्वा ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात्॥

॥ जगन्मंगलकवचम ॥

श्री जगन्मङ्गलस्यास्य कवचस्य सदाशिवः ऋषिः छन्दोऽनुष्टुबिति परमब्रह्मदेवता, चतुर्वर्गफलावाप्त्यै विनियोगः।

परमात्मा शिरःपातु हृदयं परमेश्वरः।
कण्ठं पातु जगत्पाता वदनं सर्वदृग्विभुः॥

करौ मे पातु विश्वात्मा पादौ रक्षतु चिन्मयः।
सर्वाङ्गं सर्वदा पातु परं ब्रह्म सनातनम्॥

अर्थ—हे परेश! हे प्रभो! आप सर्वरूप हैं परन्तु कोई भी आपको अपने इन चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकता, आप अनिर्देश्य (किसी दृष्टान्त से आपको समझाना कठिन हैं) सम्पूर्ण इन्द्रियों से अगम्य अचिन्त्य अक्षय, व्यापक अव्यक्त, एवं सत्यस्वरूप हैं, जगत् को प्रकाशित करनेवाले सूर्य को भी आप प्रकाशित करते हैं। संकटों से आप हमारी रक्षा करें।

अर्थ—उसी अद्वितीय (भेदरहित) ब्रह्म का मैं चिन्तन करता हूँ, स्मरण करता हूँ, उसी का जप करते हैं, संसार के साक्षीस्वरूप एकमात्र उसी को बारम्बार नमस्कार करते हैं। सत्यस्वरूप, सबके आधार या निधि निरालम्ब (जो किसी के आश्रय में न हो, जिसका आश्रय सभी लेते हैं) संसार सागर को पार करने के लिए एक मात्र जहाज (जलयान) हैं, हम उसी ब्रह्म के शरणागत होते हैं।

अर्थ—परब्रह्म परमात्मा का यह पञ्चरत्ननाम का स्तोत्र जो श्रद्धा एवं विश्वास के साथ पढ़ेगा वह ब्रह्म सायुज्य को प्राप्त करेगा।

अर्थ—परमात्मा मेरे शिर की रक्षा करें, परमेश्वर हृदय की, सर्वद्रष्टा विभु मुख की, विश्वात्मा हाथों की, जगत्पाता कण्ठ की, चिन्मय दोनों पैरों की सनातन परब्रह्म मेरे सर्वाङ्ग की रक्षा करें।

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वांश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥

१. उग्रः–उत्कृष्टः

२. भीमः–भयङ्करः बिभेत्यस्मादसौ भीमः।

३. ध्वान्तयति शत्रून् अन्धीकरोतीति ध्वान्तः।

४. घूनयति कम्पयति शत्रून् इतिध्वनिः।

५. सहतेऽभिभवते शत्रून् ऽति सासह्वान्।

६. अभियुनक्ति ऽति अभियुग्वा।

७. विक्षिपति प्रेरयति शत्रून् ऽति विक्षिपः। शत्रुक्षेप्ता।

एवं विचित्रं जगदन्तरात्मा प्रजापतिः स्वप्न न समं स सृष्ट्वा।
प्रसादतस्तस्य महेश्वरस्य पुनस्तमोरूपमवाप सद्यः॥

सम्बन्ध–"उग्रश्च भीमश्च" मन्त्र यजुर्वेद के सत्रहवें अध्याय के (८६वें) मन्त्र का अंश है इसमें सप्तमरुत का वर्णन है।

अर्थ–उग्र, भीम, ध्वान्त, धुनि, सासहवान् अभियुग्वा और विक्षिप मरुतों के निमित्त यह आहुति समर्पित है, जिस तरह देव सम्बन्धी प्रजाएँ मरुत और इन्द्र के अनुकूल होकर चलती है, उसी प्रकार यजमान के प्रति भी दैवी एवं मानवी प्रजाएँ अनुकूल चलें।

अर्थ–१. जो सबसे अच्छा या श्रेष्ठ हो।

२. जिससे सभी भयभीत होते हों।

३. जो शत्रुओं को अन्धा बना दे।

४. जो शत्रुओं को कपाएँ, ध्वनिकर्ता।

५. जो शत्रुओं को दबाता हो। परजित करता हो।

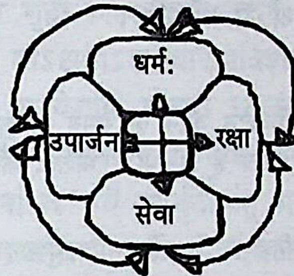
६. सर्व सुख योक्ता, अच्छे कार्यों में लगाने वाला।

७. दुष्टों को दुःख प्राप्ति की ओर प्रेरित करने वाला। (महीधर भाष्य)

सम्बन्ध–सूत संहिता के शिवमाहात्म्य खण्ड के अन्तर्गत ब्रह्मसृष्टिकथन नामक दशवाँ अध्याय है, जिसमें शिव की कृपा शक्ति से प्रजापति ब्रह्मा ने स्थूल–सूक्ष्म रूप में दस सर्गात्मक सृष्टि अपने शरीर से की इसका वर्णन है, अध्याय के उपसंहार में।

अर्थ–अतिशयोत्कृष्ट बोध वैराग्यविवेकादिसंपृक्त जगदन्तरात्मा प्रजापति ने, महेश्वर के कृपाप्रसाद से स्थावर-जंगमात्क, स्थूल-सूक्ष्म रूप से दस सर्गात्मक विचित्र सृष्टि की रचना की, जो वास्तविक प्रतीत होता हुआ भी स्वप्न सदृश ही था, रच कर के पुनः स्वयं प्रतिष्ठा को प्राप्त हो

प्राणिनां कर्मपाकेन भया च मुनि सत्तमाः ।
जगतः संभवो नाशः स्थितिश्च भवति द्विजाः ।।



चतुर्वर्णानां परस्परं सम्बन्धः

मातरं पितरं वृद्धं तथा ज्येष्ठं स्वकं गुरुम् ।
अध्यात्मज्ञानिनं नित्यं श्रद्धयैवाभिवादयेत् ।।
असावहं भो नामास्मि सम्यक प्रणतिपूर्वकम ।
आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यौ विप्रोऽभिवादने ।।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ।
लौकिकं वैदिकं चापि तथाऽऽध्यात्मिकमेवच ।।
आददीत यतो ज्ञानं तम्पूर्वमभिवादयेत् ।

गये। लौकिक दृष्टियों का विषय न होने के कारण ही सामान्य रूपसे इसे तमोरूपता की प्राप्ति कह दिया जाता है।

सम्बन्ध–"स्वभावादेव सम्भूत समस्तमिति केचन" कुछ लोगों का कहना है की यह समस्त प्रपञ्च स्वभाव से उत्पन्न हुआ है। "कमर्णेव समुत्पन्नं समस्तमितिकेचन" कुछ अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि यह सारा-का-सारा प्रपञ्च कर्म से ही उत्पन्न हुआ है, इस विषय पर प्राचीन समय में व्यास, जैमिन कपिल, पतञ्जलि, अक्षपाद, कणादादि पवित्र मुनिगण हिमालय के निकट स्थित हो इस पर बहुत विचार किया किन्तु वे लोग किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये; तब देवाधिदेव सर्वज्ञ महादेव ने उनके संशय को दूर करने के लिए इस प्रकार कहा।

अर्थ–हे मुनिगण! न तो स्वभाव-से जगत् के जन्मादि होते हैं, नहीं कर्ममात्र से ही यह उत्पन्न हो जाता है, और न ही अकेले में ही इसे प्रकट करता हूँ। प्राणियों के कर्मविपाक (उनके कर्म के फलस्वरूप) और मेरी प्रेरणा से (अर्थात् हम दोनों के संयोग से) ही इस संसार की सृष्टि-स्थित एवं लय होता है।

सम्बन्ध–ब्रह्मचारी के लिए अभिवादन का स्वरूप।

अर्थ–माता, पिता, वृद्ध, ज्येष्ठ, अपने गुरु देव तथा अध्यात्मज्ञानसम्पन्न महात्मा का

ॐ सद्योजाताय विद्महे, वामदेवाय धीमहि तन्नो घोरः प्रचोदयात् ।।
देवाग्न्यतिथि भैक्ष्यार्थं पचेनैवाऽऽत्मकारणात् ।।
आत्मार्थं यः पचेन्मोहान्नरकार्थं स जीवति ।
संतानार्थं च मैथुनम् ।।६।।

नित्यप्रति श्रद्धा के साथ अभिवादन करे। अभिवादन करने के समय शाखासूत्रगोत्रप्रवर के साथ अपना नाम लेकर "वह मैं आपको नमस्कार करता हूँ हे (भो) "भोशब्दं कीर्तयेदन्ते" मनु। इस प्रकार सम्यकरूपेण प्रणाम करे।

अभिवादन में आचार्य को (विप्रको) चाहिए कि हे सौम्य ! आयुष्मान् होवो, ऐसा कहकर आशीर्वाद प्रदान करें।

"अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः" । (मनु २/१२५)

अभिवादन करने वाले के नाम के अन्तिम अक्षर के पूर्ववाले अक्षर का प्लुतोच्चारण करे (यथा—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३......')

आचार्यादि गुरुजन के चरण का स्पर्श हाथों को व्यत्यास (ऊपर-नीचे कर), बाँए को नीचे एवं दाँये को ऊपर) वामहस्त से वामपाद एवं दक्षिण हस्त से दक्षिणपाद का स्पर्श करे।

जिनमें लौकिक वैदिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान ग्रहण करता हो उन्हें पहले प्रणाम करे। अध्यात्मविद्या के प्रदाता गुरु का सर्वप्रथम तदनन्तर वेद शिक्षा प्रदाता गुरुका उसके बाद लौकिक शिक्षा देने वाले गुरु का।

अध्यात्मविद्या प्रदान करने वाले गुरु का स्थान सबसे ऊँचा है।

सम्बन्ध—भस्मगायत्री

अर्थ—भगवान् शिव के पाँच मुखों में से पश्चिममुख का नाम सद्योजात है, मैं उस सद्योजात परमात्मा को गुरु तथा शास्त्रमुख से जानता हूँ। भगवान् शिव के उत्तर मुख को वामदेव कहते हैं। शास्त्रवक्त्र से जानकर तदनुसार हम उनका ध्यान करते हैं; वह घोर (रजोगुयुक्त) परमात्मा हमें ब्रह्मविद्या की ओर प्रेरित करें।

सम्बन्ध—गृहस्थ के पाक का उद्देश्य एवं मैथुन का प्रयोजन।

अर्थ—गृहस्थ को सर्वदा देवता, अग्नि, अतिथि तथा भिक्षु के उद्देश्य से भोजन पकाना चाहिये, उन्हें भिक्षा प्रदान कर अवशिष्ट अन्न-से अपना पालन करना चाहिये, केवल अपने लिए कभी अन्न न पकाये; क्योंकि जो गृहस्थ केवल अपने लिए अन्न पकाता है, वह नरक के लिए जीवन धारण कर रहा है, मरने पर अवश्य ही उसे नरक की प्राप्ति होगी।

गृहस्थों का स्त्री प्रसंग भी सुख भोगने के लिए नहीं अपितु संतान उत्पन्न करने के लिए है, ताकि उसके पिण्ड परम्परा का लोप नहीं जाय।

यात्रार्थमर्जयेदर्थं यागार्थं वा द्विजोतमः ।।८।।
"अयमात्मा सर्वेषां भूतानां लोकः" ।।
एकवारं गृही नित्यमश्नीयादुत्तमं हि तत ।।१७।।
द्विवारं वाऽक्षमोऽश्नीयादद्वात्रिंशदग्रासमन्वहम् । (२/४/१८)
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । (२/४/२०)
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां ब्रह्मा देवः प्रकीर्तितः ।
गृहस्थानां च सर्वे स्युर्युतीनांतु महेश्वरः ।।
वानप्रस्थाश्रमस्थानामदित्यो देवता मता ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु पूज्यः संन्यासिनांहर ।। (२/६/३७/३८)
ॐ अग्निरिति भस्म । ॐ वायुरिति भस्म ।
ॐ जलमिति भस्म । ॐ स्थलामिति भस्म ।
ॐ व्योमेति भस्म । ॐ सर्वं हवा इदं भस्म ।
ॐ मन एतानि चक्षूषि भस्मानीति ।

अर्थ–गृहस्थ द्विज को उचित है, कि जीवन जीने के लिए अथवा यागादि के लिए ही अर्थ का उपार्जन पौरोहित्य कर्म द्वारा, अध्यापन द्वारा, अथवा विशुद्ध दान का परिग्रह करे, अन्य किसी उद्देश्य से नहीं।

अर्थ–श्रुतिप्रतिपादित यह आत्मा हि सम्पूर्ण प्राणियों का लोक है।

अर्थ–गृहस्थों के लिए तो उचित है कि वह नित्य प्रति दिन में एक बार हि भोजन करे। यदि एक बार भोजन कर जीवन यापन करने में समर्थ न हो तो दो बार भोजन करे, किन्तु उसके कौर का प्रमाण मुर्गी के अण्डे के समान, वह भी केवल बत्तीस कौर ही खाये। (२/४/१८)

अर्थ–गृही साथ में बाँस का एक डण्डा तथा जलभरा कमण्डलु भी रखे ताकि वह अपनी पवित्रा की रक्षा कर सके।

सम्बन्ध–चारों आश्रमों के देवताओं का वर्णन।

अर्थ–ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित ब्रह्मचारियों के देवता भगवान् ब्रह्मा जी हैं। गृहस्थाश्रमों के देवता सभी है। संन्यासियों के देवता भगवान् महेश्वर है। वान प्रस्थियों के देवता जगदात्मा आदित्य हैं, अत: संन्यासियों को सर्वदा ही भगवान् शिव की आराधना करनी चाहिये। (२/६/३६/३८)

भस्मानुलेपन से पूर्व शक्ति के अधान के लिए भस्म को अभिमन्त्रित करने की शास्त्रीयविधि है। भस्म को वाम हस्त में रखकर जल डालकर मिलाते हुए "अथर्वशिर उप०" के "अग्निरितिव"

ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ललाटे।
ॐ कश्यपस्य त्र्यायुषमिति ग्रीवायाम्।
ॐ यद्देवेषु त्र्यायुषमिति भुजयोः।
ॐ तन्नो अस्तु त्र्यायुषमिति हृदये।
चण्ड द्रव्यं गुरुद्रव्यं देव द्रव्यं तथैव च।
रौखे ते तु पच्यन्ते मनसा येतु भुञ्जते।।
सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती।
पूषा च वारुणी चैव हस्ति जिह्वा यशस्विनी।

मन्त्रों का पाठ करना चाहिये तत्पश्चात् ॐ त्र्यायुष जमदग्नेरिति ललाटे" उच्चारण कर ललाट में तर्जनी मध्यमा एवं अनामिका अंगुली से त्रिपुण्ड (तीन रेखा बाएँ से दायें तरफ खींचना चाहिये।

यह अग्नि भस्म है। यह वायु भस्म है।

यह जल भस्म है। स्थल भी भस्म है।

यह आकाश भस्म है। निश्चय ही यह सारा संसार भस्म है।

मन सहित चक्षुत्रय भी भस्म संज्ञक ही है।

ग्रीवा में।

दोनों भुजाओं में तथा मणिबन्ध से किञ्चित ऊपर लगायें।

हृदय में लगाना चाहिये।

अर्थ–जिस द्रव्य पर चण्डेश्वर का अधिकार है, गुरु का द्रव्य तथा देवता का द्रव्य इनके द्रव्यों का जो मनुष्य इनके विना प्रदान किये लोभ-वश मनसे भी भोग करता है, वे मनुष्य अवश्य ही रौरव नरक में पकाये जाते हैं।

सम्बन्ध–सूत संहिता के ज्ञानखण्ड के ग्यारहवें अध्याय में देहस्थ नाड़ी चक्र का विवरण है।

संसार में सवतोऽधिक आश्चर्य से भरा कुछ है, तो वह है; मनुष्य का शरीर ।

भगवान् व्यास ने महाभारत में कहा है—

"सर्वं गुह्यतमं ब्रवीमि वो नहि मानुषात् श्रेष्ठतरङ्किञ्चित्"

मैं सबसे अधिक गुह्यतम बात कहता हूँ, इस संसार (सृष्टि) में मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं।

अनन्त आश्चर्यों से भरा यह मनुष्य का शरीर जिसमें विद्यमान चतुर्दश भुवन सूर्य, चन्द्र, छः

अलम्बुषा कुहूश्चैव विश्वोदरा पयस्विनी।
शङ्खिनी चैव गान्धारी इति मुख्याश्चतुर्दश।। (२/११)
सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्मृतः।
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापर्श्वयोः स्थिते।।१५।।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च इडायाः पूर्वपार्श्वयोः।
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गलापृष्ठपूर्वयोः।।१६।।
कुह्वाश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता।
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वारुणी सुप्रतिष्ठिता।।१७।।
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता पयस्विनी।
गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी।।१८।।
अलम्बुषा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यतः।
पूर्वभागे सुषुम्नाया मेढ्रान्तं संस्थिता कुहूः।।१९।।

चक्र, बहत्तर हजार नाड़ियाँ इनमें से आधुनिक विज्ञान कितने का पता लगा पाया है, इन सबका ज्ञान हमारे संस्कृत साहित्यों से ही हो पाता है, और वर्तमान समाज इस संस्कृत विद्या की ही उपेक्षा कर रहा है।

सम्प्रति मुख्यनाडियों के विषय में लिखा जा रहा है, जिनकी संख्या चौदह है।

अर्थ—सुषुम्ना, पिङ्गला, इडा, सरस्वती, पूषा, वारुणी, हस्ति जिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, विश्वोदारा, पयस्विनी, शंखिनी तथा गान्धारी।

गुदा-से दो अंगुल ऊर्ध्वं एवं लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे मूलाधार नामक स्थान है, उससे नौ अङ्गुल ऊर्ध्व कन्द नामक स्थान है, जिसकी चौड़ाई चार अङ्गुल है उसका आकार मुर्गी के अण्डे के समान है। वह त्वगादि से युक्त है, एवं उसके बीच के हिस्से को नाभि कहते हैं, उस कन्द के मध्य में सुषुम्ना नामक नाड़ी स्थित है इसे ही ज्ञानीजन ब्रह्मनाड़ी कहते हैं यह मस्तक पर्यन्त गयी है।

अर्थ—इड़ा नाड़ी सुषुम्ना के वाम भाग में एवं दक्षिण भाग में पिङ्गला नाम की नाड़ी स्थित है। सरस्वती एवं कुहू ये दोनों नाड़ियाँ सुषुम्ना के आगे एवं पीछे स्थित है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा इड़ा के पूर्वभाग में दोनों तरफ स्थित है। पूषा एवं यशस्विनी पिङ्गला के पश्चात् भाग

अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी वारुणी सर्वगामिनी।
पिङ्गलासंज्ञिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ।।२०।।

इडा चोत्तरनासान्तं स्थिता वाचस्पते तथा।
यशस्विनी च याम्यस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।।२१।।

पूषा याम्याक्षिपर्यन्तं पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः।
पयस्विनी तथा याम्यकर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ।।२२।।

सरस्वती तथा चोर्ध्वमा जिह्वायाः स्थिता मुने।
हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ।।२३।।

शङ्खिनी नाम या नाड़ी सव्यकर्णान्तमुच्यते।
गान्धारी सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ।।२४।।

विश्वोदराभिधा नाडी तुण्डमध्ये व्यवस्थिता।
प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ।।२५।।

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्ता धनंजयः।
एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ।।२६।।

में दक्षिण-वाम भाग में स्थित है। विश्वोदरी नाड़ी कुहू एवं हस्तिजिह्वा के मध्य में हैं। वारुणी नामकी नाड़ी यशस्विनी एवं कुहू के बीच स्थित है। पयस्विनी पूषा तथा सरस्वती के मध्य में स्थित है। शंखिनी गान्धारी तथा सरस्वती के मध्यभाग में स्थित है। कन्द के मध्य से पायु तक अलम्बुषा है। कुहू सुषुम्ना क पूर्वभाग में लिङ्ग पर्यन्त स्थित है। ऊर्ध्व-अधोभाग में वारुणी नाड़ी सर्वत्र गयी हुई है (स्थित है)। बायीं नाक की अन्तिम भाग (नोक) पर्यन्त पिङ्गला एवं दायी की नोंक तक इडा व्याप्त है। बायें पैर के अंगूठे तक यशस्विनी तथा हस्तिजिह्वा दाये पैर के अंगूठे तक स्थित है। बायीं आँख पर्यन्त पूषा और दायीं आँख तक गान्धारी स्थित है बायें कान तक पयस्विनी और दायें कान तक शंखिनी वर्तमान है। जीभ पर्यन्त ऊपर की ओर सरस्वती विराजमान है। मुख के बीच में विश्वोदरी है। (२/११)

अर्थ—प्राण अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म कृकर देवदत्त तथा धनञ्जय ये दस प्रकार के वायु इन नाड़ियों मे संचरण करते रहते हैं। धनञ्जय नाम का वायु मृत्यु के बाद भी शरीर में स्थित रहता है।

धनञ्जयाख्यो देहेऽस्मिन्कुर्याद्बहुविधान्रवान ।
स तु लौकिक वायुत्वान्मृतञ्च न विमुञ्चति ।। (टीकायाम्)

प्राण– आस्यनासिकयोर्मध्ये । तथा हृदि ।
प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते..... ।।

अपान– अपानो वर्तते नित्यं गुदमेट्रोरुसंधिषुः ।
उदरे वृषणे कट्यांनामौ जंधे च .... ।।

व्यान– व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कृकट्यङ्गुष्ठयोरपि ।
घ्राणस्थाने गले चैव वर्तते .... ।।

समान– समानः सवदेहेषु ।

उदान– उदानः सर्वसंधिस्थो विज्ञेयः पादहस्तयोः ।

उत्तरायण– पिङ्गलायाःइडायान्तु वायोः संक्रमणन्तु यत् ।
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदार्थपेदिभिः ।

अर्थ–धनञ्जय नाम का वायु इस शरीर में स्थित हो बहु प्रकार के शब्द को करता है। लौकिक होने के कारण वह मृत शरीर का त्याग नहीं करता।

अर्थ–मुख तथा नासिका के मध्य में एवं हृदय में सदा ही प्राणसंज्ञक वायु विराजमान रहता है।

अर्थ–अपान नामक वायु गुदा, लिङ्ग, उरु के संधियों में, उदर में, अण्डकोष, कमर, नाभी तथा जंघों में रहता है।

अर्थ–व्यान नामक वायु कान एवं आँखों के मध्य, कण्ठ (गले का जो उठा भाग उसमें), कटी, दोनों अंगुठों में नाक एवं ग्रीवा में रहता है।

अर्थ–समानवायु सम्पूर्ण देह में स्थित रहता है।

अर्थ–उदानवायु सभी संधियों में स्थित हाथ एवं पैर में रहता है।

सम्बन्ध–जैसे बाह्य भौतिक जगत् में उत्तरायण-दक्षिणायन, पूर्णिमा-अमावस्या होती है, वैसे मनुष्य में भा ये सभी बातें होती है। शरीर में होने वाले उत्तरायणादि का वर्णन।

अर्थ–पिङ्गला में स्थित वायु जब इडा में संक्रमण करती है, तब आध्यात्मिक उत्तरायण होता है, ऐसा मननशील वेदज्ञ ऋषियों ने कहा है।

दक्षिणायन– इडायाः पिङ्गलायान्तु दक्षिणायनमिष्यते ।
अमावास्या– "इडापिङ्गलयोः संधिरमा"
उत्तरायण विषुव–(आद्य विषुव)
"मूलाधारे यदा प्राणस्तदाऽऽद्यं विषुव भवेत्"
"मूर्धनि प्रविशेद्यदा तथाऽन्त्यंविषुवंभेवत्"
चन्द्रग्रहण– इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः ।
सोमग्रहणमित्युक्तन्तदा...................... ।।
सूर्यग्रहण– यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः ।
तदा भवेत्सूर्यग्रहणं .... ।।

श्रीपर्वतः शिरस्थाने केदारं तु ललाटके ।
वाराणसी महाप्राज्ञ भुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ।।
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागः हृत्सरोरुह ।
चिदम्बरञ्च हृन्मध्य आधारः कमलालयः ।।

अर्थ–जब इडा में स्थित वायु पिङ्गला में प्रवेश करती है, तो दक्षिणायन होता है।

अर्थ–जब प्राण इडा और पिङ्गला की संधि में रहता है तब शरीर में अमावस्या होती है।

अर्थ–जब प्राण वायु मूलाधार में प्रविष्ट होता है, तब प्रथम (उत्तरायण के मध्य होने वाला) विषुव होता है।

अर्थ–जब प्राण वायु मूर्धा में प्रविष्ट होता है, तब अन्त्य विषुव होता है।

अर्थ–जिस समय प्राण वायु इड़ा नाड़ी से कुण्डलीस्थान को जाता है, तब शरीर में चन्द्रग्रहण लगता है।

अर्थ–जिस समय प्राण वायु पिङ्गला से कुण्डली स्थान को जाता है, तब सूर्यग्रहण होता है।

सम्बन्ध–वाराणसी आदि तीर्थों की शरीर में अवस्थिति।

अर्थ–मनुष्य के शरीर में शिरस्थान में श्रीपर्वत, ललाट में केदार, भ्रूमध्य तथा नासिका के मध्य भाग (आज्ञाचक्र के स्थान) में वाराणसी, कुचस्थान (स्तन में) कुरुक्षेत्र, हृदय में प्रयाग, हृदय के बीच में चिदम्बर तथा आधार कमलालय है।

बृहस्पतिकृतं शिवस्तोत्रम् ।

"बृहस्पतिरुवाच"

जय देव परानन्द जय चित्सत्यविग्रह ।
जय संसाररोगध्न जय पापहर प्रभो ।।१।।
जय पूर्ण महादेव जय देवारिमर्दन ।
जय कल्याण देवेश जय त्रिपुरमर्दन ।।२।।
जय हंकारशत्रुघ्न जय मायाविषापह ।
जय वेदान्तसंवेद्य जय वाचामगोचर ।।३।।
जय रागहरश्रेष्ठ जय द्वेषहराग्रज ।
जय साम्ब सदाचार जय सर्वसामद्भुत ।।४।।
जय ब्रह्मादिभिः पूज्य जयविष्णो परामृत ।
जय विद्यामहेशान जयविद्याप्रदानिशम् ।।५।।

अर्थ–बृहस्पति जी ने कहा—हे दिव्य प्रकाश युक्त, परमानन्दस्वरूप, आप ज्ञान स्वरूप हैं, सत्यमूर्ति है, संसारोग का समूल नाशक, पाप का हर करने वाले सर्वसमर्थ प्रभो ! आपकी जय हो, जय हो जय हो, जय हो ॥१॥

अर्थ–श्रुति कहती है—"पूर्णमदः" ऐसे पूर्ण महादेव आपकी जय हो, देवता के अरि (शत्रुओं) का मर्दन करने वाले आपकी जय हो। हे देवताओं के ईश सबप शासन करनेवाले, कल्याणस्वरूप त्रिपुरासुर के भी मर्दनकर्ता आपकी जय हो जय हो ॥२॥

अर्थ–अहंकाररूपी सबसे बलवान शत्रु के भी शत्रु इसका नाश कर मक्तों को सुख देने वाले, आपकी जय हो। माया (मैं-मेरा, तून्तेरा) रूप विष के अपहर्ता आपकी जय हो ॥३॥

अर्थ–वेदान्तवाक्यों से जाने जानेवाले आपकी जय हो। आप तक वाणी की भी गति नहिं है, "न तत्र वाग्गच्छति" ऐसे वाणी के अविषय आपके लिए जय हो। विषय विषयक राग (आसक्ति) का हरण करनेवाले हे श्रेष्ठ ! आपकी जय हो। राग के विपरीत द्वेष का हरण करने वाले अग्रज (अग्रेजयति इति अग्रजः) प्रथम संग्राम विजेता आपकी जय हो। हे अम्बिका पति सदाचार के प्रवर्तक, पालक आपकी जय हो। सबसे अधिक आश्चर्यजनक अद्भुत आपके लिए जय हो ॥४॥

अर्थ–ब्रह्मादि देवताओं से पूजित-वन्दित हे पूज्य ! आपकी जय हो। हे सूक्ष्म अणो, व्यापक परम अमृतस्वरूप आपकी जय हो। सम्पूर्ण विद्याओं के शासक, निरन्तर विद्याप्रदान करनेवाले आप प्रभु की जय हो ॥५॥

जय सर्वाङ्गसम्पूर्ण नागाभरणभूषित ।
जय ब्रह्मविदां प्राप्य जय भोगापर्वगद ।।६।।

जय कामहर प्राज्ञ जय कारुण्यविग्रह ।
जय भस्म महादेव जय भस्मावगुण्ठित ।।७।।

जय भस्मरतानां तु पाशभङ्गपरायण ।
जय हृत्पंकजे नित्यं यतिभिः पूज्यविग्रह ।।८।। (सू.सं.)

।। इति शिवस्तोत्रम् ।।

धर्मः स्वनुनिष्ठतः पुंसा विष्वक्सेनकथासुयः ।
नोत्पादयेद्यदि रति श्रमएव हि केवलम् ।। (१/२/८)

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मेकान्तस्य कामो लाभाय हिस्मृतः ।। (मा० १९/२/९)

अर्थ–सभी अंगों से पूर्ण, नाग अलङ्कार से विभूषित आपकी जय हो। ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा प्राप्य, भोग तथा अपवर्ग प्रदान करनेवाले आपकी निरन्तर जय हो ।।६।।

अर्थ–काम का हरण करनेवाले हे प्राज्ञ ! आपकी जय हो। करुणा (दया) के विग्रह (स्वरूप) आपकी जय हो। हे भस्मस्वरूप, महादेव आपकी जय हो। हे भस्मावगुण्ठित भस्मानुलिप्त आपकी जय हो ।।७।।

अर्थ–जो सर्वदा भस्म में रत रहते हैं, माया बद्ध पशुसदृश जीवों के पाश (अज्ञानावरण) के नाश परायण आपकी जय हो। हृदय कमल में सदा ही यत्नशील मुनियों के द्वारा पूजित, पूज्यविग्रह की सदा ही जय हो ।।८।। (सू.सं. २/११/७०-७८)

अर्थ–सु सम्यक् अनुष्ठित आचरित धर्म का फल है कि मनुष्य के हृदय में भगवान् नारायण कि कथा, उनकी लीला के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाय। धर्म के पालन करने पर भी रति नहीं हुई तो निरर्थक श्रम ही समझना चाहिये।

ऐसे धर्म, अर्थ-काम एवं जिज्ञासा का क्या फल है ? इन सबके फल का वर्णन।

अर्थ–धर्माचरण का फल है अपवर्ग (मोक्ष), मोक्षप्रयोजनीभूत धर्म का स्वर्गादि भोग्य पदार्थ फल उपयुक्त नहीं हो सकता। धर्म ही केवल प्रयोजन है जिस अर्थ का, विषयभोग उसका प्रयोजन कैसे हो सकता है ? ।।९।।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता
जीवस्य तत्वजिज्ञासा नार्थोथश्चेह कर्मभिः ।।१०।।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानितिशब्द्यते ।।११।।

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्याश्रुतगृहीतया ।।१२।।

"नाडीशुद्धिप्रकारः"

नासाग्रे शशभृद्बिम्बं बिन्दुमच्च तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसुमाहितः ।
इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।।१।।
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्याञ्ज्वालावलीमयम् ।
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ।।२।।

अर्थ—विषयभोग का फल इन्द्रिय तृप्ति नहीं है उसका कल तो बस शरीर का निर्वाह मात्र है। आडम्बर पूर्ण बहुत से कर्मों के द्वारा स्वर्गादि लोकों कि प्राप्ति जीवन का फल नहीं, जीवन का फल है, तत्त्व जिज्ञासा ॥१०॥

अर्थ—तत्त्व को जाननेवाले तत्त्वज्ञमुनि जिस अद्वितीय अखण्डानन्दस्वरूप ज्ञान को तत्त्व कहते हैं। कोई उसे ब्रह्म, कोई परमात्मा, कोई भगवान् विभिन्न-भिन्न नाम रूपों से स्व-स्वभाव के अनुसार स्मरण करते हैं। **शब्द्यते शब्दतः कथ्यते**। शब्दों के द्वारा वर्णन करते हैं (कहते हैं) ॥११॥

अर्थ—श्रुतगृहीतया—भागवत के श्रवण से प्राप्त ज्ञान वैराग्ययुक्त भक्ति (परमप्रेम) से श्रद्धालु मुनिगण स्वहृदय में उस परमतत्त्व को देखते हैं, अनुभव करते हैं ॥१२॥

सम्बन्ध—जिन साधकों में एकाग्रतापूर्वक तत्त्व-चिन्तन का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हुआ, उन्हें ही नाड़ी शोधन की आवश्यकता होती है, वह कैसे नाड़ी शुद्धि करे इसका वर्णन।

अर्थ—नासिका के अग्रभाग में (नोक पर) बिन्दु सहित (वकारं सबिन्दुकम्) वकार वाले चन्द्रबिम्ब का ध्यान करें, देखें; जिससे अमृत झर रहा हो, उस समय चञ्चलता का बिल्कुल परित्याग कर देना चाहिये ॥१॥

अर्थ—तत्पश्चात् इडा-से प्राणवायु का आकर्षण कर (खींचकर) उदर को पूर्ण कर, वहीं उसे स्थिर करे। बिन्दुनादसमायुक्त अग्निबीज अर्थात् उस समय अनुस्वार तथा उसमें निहीत नाद ध्वनि सहित अग्निबीज (रं) का विशेष रूप से चिन्तन करे ॥२॥

पश्चाद्विरेचयेत्प्राणं मन्दं पिङ्गलया बुधः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य वह्निबीजमनुस्मरन् ।।३।।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ।
त्रिचतुर्वत्सरंवाऽथ त्रिचतुर्मासमेव वा ।।४।।
षट्कृत्व आचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिपु ।
नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षिताम् ।।५।।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः ।
नादभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धसूचकम् ।।६।।

अर्थ–विद्वान् को चाहिए कि पुनः शनैः शनैः पिङ्गला से वायु का रेचन करे तथा वह्निबीज (रं) का बारम्बार चिन्तन करते हुए पिङ्गला के द्वारा पुनः पूरक करे ।।३।।

अर्थ–फिर धीरे-धीरे इडानाड़ी के द्वारा रेचक करे इस तरह साधक को तीन-चार वर्ष या कम-से-कम तीन-चार मास नियमित रूप से करना चाहिये ।।४।।

अर्थ–प्रतिदिन एकान्त में इस तरह छह बार तीनों संधिकाल में अभ्यास करने से नाडी शुद्ध हो जाती है। उसके अलग-अलग चिह्न भी लक्षित होते है ।।५।।

अर्थ–नाड़ी शुद्धि से लक्षित होनेवाले चिह्न हैं—शरीर में लघुता (हल्कापन), जठराग्नि की दीप्ति, अनाहत नाद की अभिव्यक्ति ये चिह्न नाड़ी शुद्धि के सूचक हैं ।।६।।

(सू.सं. २/१२/१०-११-१६)

सम्बन्ध–भगवान् पतञ्जलि द्वारा प्रणीत "पातञ्जलयोगेदर्शन षड्दर्शनों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बाहर-से विरोध दिखता हुआ भी वस्तुतः सभी दर्शन एक दूसरे के पूरक ही हैं। उस परम तत्त्व तक पहुँचने के ऋजु-वक्र मार्ग हैं इसका कारण रुचि-भेद सुस्पष्ट है।

इसमें चार पाद है—१. समाधिपाद, २. साधनपाद, ३. विभूतिपाद, तथा ४. कैवल्यपाद। यह अधिकारी भेद से है।

समाधिपाद उत्तम अधिकारी के लिए है; साधनपाद मध्य अधिकारी के लिये है एवं विभूतिपाद कनिष्ठ अधिकारी के लिए है।

योग के आठ अङ्ग होते है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।
यम पाँच होते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।
नियम भी पाँच होते हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।।३४।।

यम नियमों के पालन में विघ्न आ जाय तो उन विघ्नों को दूर करने के क्या उपाय है ? इस पर सूत्रकार ने कहा—वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। (यो०द० २/३३)

अर्थ–"विपरीताः तर्काः वितर्काः" यम-नियमों के विरोधी भाव हिंसादि को वितर्क कहते हैं। जैसे–अंहिता का वितर्क हिंसा सत्य का असत्य; ऐसे वितर्कों द्वारा जब यम-नियम के पालन में बाधा आती हो तब वितर्कों को दूर करने के लिए वितर्कों के प्रतिपक्ष का अर्थात् उसके विरोधिविचारों का अनुचिन्तन करना चाहिये।

तात्पर्य है कि वितर्कों से होने वाले कष्ट के बारे में सोचना चाहिये। भगवान् पतञ्जलि स्वयं विषय को अगले सूत्र में स्पष्ट करेंगे।

हिंसा, असत्य आदि वितर्क एक होकर भी अनेक भेदों वाला हो अनन्तदुःख और अज्ञान रूपी फल देनेवाला होता है, इस प्रकार का सोचा प्रतिपक्षभावनम् है ॥३४॥

जैसे–हिंसा-वितर्क के प्रतिपक्ष में विचार।

मैंने सुना था धृष्टाराष्ट्र सौ पुत्रों के मृत्यु-शोक से दुःखी हो भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा; हे केशव मैं अपने बिते सौ जन्मों को जानता हूँ। मैंने ऐसा कोई पाप नहीं किया था कि जिसके कारण मुझे सौ पुत्रों के मृत्युजन्य शोक एक साथ झेलने पड़ें।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—महाराज! मैं आपके उससे आगे के जन्मों की भी बातें जानता हूँ।

आपने सौ जन्म के पूर्व किसी हँस के सौ अण्डे चुराकार खाए थे, उसी पाप के फल में आपके सौ पुत्र एक साथ मारे गये। कभी-न-कभी अपने पापों का फल भोगना ही पड़ता है।

स्वयं मेरे (टीकाकार के) जीवन में ऐसी घटना घटी थी, जब मुझे किसी हिंसा का प्रत्यक्ष फल मिला। बचपन की बात है। हमारी और उस कीड़े को बादुल कहते हैं, बरसात होता है। लम्बी पूँछ और चार पंख होते हैं।

उसे पकड़कर सुखे घास का तिनका उसकी पूँछ के रास्ते प्रवेश करा दिया, उसका जो होना या सोतो हो गया, कुछ समय बीता अपने गाँव के प्राङ्गण में कुछ बच्चों के साथ खेल रहा था, खेल था एक लम्बा-सा डण्डा गाड़कर मन्दिर के देहरी पर से उसे लाँघना, कई बार लाँघा, सहसा एक बार उसी खड़े डण्डे पर मलद्वार के बल गिर पड़ा, चोट इतनी जो लगी कि बहुत देर तक मुझे बेहोशी सी होती रही, शायद बचपन की भूल थी अतः भगवान् ने थोड़े में माफ कर दिया।

इस तरह स्वयं हिंसा के दोषों के बारे में, उससे होनेवाली हानि के विषय में विचार कर मांस भक्षण, भ्रूण हत्या आदि निन्द्यतम अपराधों से विरत ही रहना चाहिये।

आत्मा सर्वगतो नित्योऽच्छेद्योऽदाह्य एव च।
इति ज्ञानं पराहिंसा प्रोक्ता वेदान्त वेदिभिः।। (सू.स. २/१३/५)
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति तत्परम्।
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तथा।।
"अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचः"
यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति तपोभिर्ब्रह्मणः पदम्।
दानैर्भोगानवाप्नोति ज्ञानाद् ब्रह्माधिगच्छति।। (सू.सं. २/१६/५८)
अशरीरो महानात्मा सुख दुःखैर्न बाध्यते।
क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा मुक्त इत्युच्वेत बुधैः।। (सू.सं. २/१६/६४)

सम्बन्ध—अब वेदान्त की दृष्टि-से अंहिसा के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अर्थ—आत्मा सर्वव्यापक है, नित्य है, अच्छेद्य एवं अदाह्य है; अर्थात् सम्पूर्ण विकारों से रहित है। इस तरह का निश्चय रखना ही तत्त्वज्ञ मुनियों ने सर्वश्रेष्ठ अहिंसा कहा है। (सू.स. २/१३/५)

सम्बन्ध—अब सत्य एवं ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताया जा रहा है।

अर्थ—'सर्वं वस्तु ब्रह्मरूपेणैव सत्यं' जितनी वस्तुएँ है, सभी ब्रह्मरूप से सत्य है, जगत् रूप से असत्य है—ऐसा निश्चय ही परम सत्य है। ब्रह्मभाव में मन का चरण अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्व में, ब्रह्म एवं आत्मा की अपृथक्ता में मन का स्थिर रहना, यत्साक्षादपरोक्ष ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ यही परम ब्रह्मचर्य है।

अर्थ—मैं शुद्ध हूँ इस प्रकार का विकल्प रहित जो निश्चयात्मक ज्ञान (बोध) है, वही यथार्थ में पारमार्थिक शौच है।

सम्बन्ध—यज्ञ, तप, दान एवं ज्ञान का फल।

अर्थ—यज्ञों के द्वारा मनुष्य देवत्त्व को प्राप्त करता है, तप से वह ब्रह्माजी के पद को भी प्राप्त कर लेता है, दान-से उसे भोगों की प्राप्ति होती है, किन्तु ज्ञान-से वह ब्रह्मस्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

सम्बन्ध—आत्मा के सुख-दुःख का निषेध।

अर्थ—महान् अर्थात् श्रुतिपूज्य सर्वव्यापक नित्य प्राप्त आत्मा कभी भी सुख एवं दुःखों से बाधित (हर्षित या दुःखित) नहीं हो सकता, जबतक की उसका शरीर के साथ सम्बन्ध न हो।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।११।।

शरीर जड़ है, उसे सुख-दुःख कहाँ और आत्मा चेतन है, अच्छेद्य है, अदाह्य है, तो फिर सुख-दुःख होता किसे है? क्यों है? चिज्जड़ के सम्बन्धजन्य अहंकार से युक्त जीव को।

सम्बन्ध—उपनिषद् ब्रह्मविद्या, प्रधान है। षडलिङ्गों के द्वारा उपनिषदों का परम एवं चरम तात्पर्य समस्त भेदों से रहित अद्वितीय ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है, ऐसा वेदान्तविद् महात्माओं का मानना है।

मुण्डक श्रुति कहती है—**''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति''** (मु. २/२/१०)

उपनिषद् प्रतिपादित स्वतः सिद्ध सर्वव्यापक परब्रह्म के प्रकाशित होने-से ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित अर्थात् उसकी सत्ता के कारण ही यह सर्व नामक जगत् सत्तावान् दिख रहा है, देदीप्यमान हो रहा है।

इदंता से प्रतीयमान् यह सम्पूर्ण जगत् उस सर्वावभासक के प्रकाश से प्रकाशमान है; क्योंकि वह 'ज्योतिषां ज्योति'' स्वयं प्रकाश है।

वह ब्रह्म सर्वप्रकाशक है, लेकिन कहाँ बैठकर सबको प्रकाशित कर रहा है? वह हृदय में है, यह जगत् उससे पृथक् हैं, इस भ्रम के निरास के लिए श्रुति ब्रह्म के सर्वव्यापकता का वर्णन करती है।

अर्थ—यह अमृतस्वरूप सर्वावभासक ब्रह्म ही पुरस्ताद सामने है। पश्चात् पीछे भी ब्रह्म ही है। दाहिने और बायें ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही ऊपर और नीचे है। यह सम्पूर्ण जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

समुद्र में कोई बहुत नीच चला जाय तो उसके चारों ओर ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाहिने-बायें, दसों दिशाओं में एक ही जल विद्यमान रहता है, वैसे सर्वव्यापक ब्रह्म के विषय में समझना चाहिये।

तात्पर्य है कि यद् यच्छृणोति श्रोत्राभ्यां तत्तद् ब्रह्मेति भावयेत्।

जो कुछ कानों-से सुने, नेत्रों से देखे, नाक-से सूँघे, जिह्वा-से आस्वाद ले, त्वचा-से स्पर्श करे वह सव ब्रह्म ही है; ऐसा विचार करे।

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करोहिसितेतरे ।
प्रतिपत्ते दिनान्याहुस्त्रीणित्रीणि क्रमोदये ।।६२।।

सूर्योदये -

शु.	प.	कृ.	प.
१	४	१	४
२	५	२	५
३	६	३	६
७	१०	७	१०
८	११	८	११
९	१२	९	१२
१३		१३	
१४		१४	
पूर्णा		अमा	

"सार्धद्विछतिके ज्ञेयः शुक्ले-कृष्णे शशी रविः" ।
"इयं स्वाभाविकी श्वासागतिः"
"विपरीते विपर्ययः"

सम्बन्ध–शिवस्वरोदय या पवनविजयस्वरोदय नामक ग्रन्थ में स्वर विषयक रहस्य का प्रतिपादन है। 'स्वर का तात्पर्य यहाँ 'श्वास वायु' है। उदय माने नियत समय पर उसका प्रकट होना या गतिविशेष से चलना है। इस शास्त्र के अनुसार स्वरमुख्यतः तीन हैं। चन्द्रस्वर, सूर्यस्वर, एवं मध्य स्वरा स्वरसाधनास आरोग्य की प्राप्ति, सिद्धि-असिद्धि का ज्ञान, प्रश्न के उत्तर का ज्ञान, यात्रा विषयक ज्ञाने, वशीकरण, मृत्युज्ञान आदि अनेक विषयों का ज्ञान हो जाता है।

सम्प्रति दोनों पक्षों की तिथियों में होने वाले स्वरोदयज्ञान के विषय में प्रकाश डाला जा रहा है।

अर्थ–**सिते पक्षे** = शुक्ल पक्ष में, **आदौ** = प्रारम्भ में, **चन्दः** = चन्द्रस्वर तथा **सितेतरे** = शुक्ल से अन्य कृष्णपक्ष में आरम्भ में सूर्यस्वर का तीन-तीन दिन के क्रम-से की प्रतिपत्ति (उपलब्धि या आरम्भ) होती है ॥६२॥

अर्थ–शुक्ल पक्ष में टाई धती चन्द्र स्वर एवं कृष्णपक्ष में उतना ही सूर्य स्वर का उदय क्रम से होता है।

श्वास की यह स्वाभाविक गति मानी जाती है।

इसके विपरीत अस्वाभाविक।

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमसङ्ग परमेश्वरः ।
सदा मत्संनिधानेव चेष्टते सर्वमिन्द्रियम् ।। (२/२०)

१. दृश्यस्य वास्तवत्वाभिमानात्मिका ।
२. साभिनिवेशव्यवदार हेतुः ।
३. देहाभास जगदवमास हेतुः ।

१. युक्तिशास्त्रजनित विवेकः ।
२. तत्वसाक्षात्कारः ।
३. प्रारब्धकर्म नाशः ।

तस्याभिधनाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ।।

सम्बन्ध–स्वात्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध।

अर्थ–देखता हुआ, श्रवण करता हुआ छूता हुआ, ग्रहण करता हुआ भी; सर्वदा जिसे यह निश्चय बना रहता है कि मैं अकर्ता, अभोक्ता, असङ्ग परमेश्वर हूँ, सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ मेरे सांनिध्य से चेष्टाशील है, वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, वह कभी विषयों से लिप्त नहीं होता, न कर्म का बन्धन ही उसे होता।

सम्बन्ध–आत्मा के कर्तृत्वादि का खण्डन कर मायावस्था (माया के निवृत्त न होने का कारण) का निरूपण करते हैं।

अर्थ–१. दृश्यमान् जगत् के वास्तव होने के अभिमान की स्वीकृति।

२. अभिनिवेश पूर्वक व्यवहार का कारणत्व।

३. देह एवं जगत् के अवभास का हेतु। देह, जगत् का चेतन प्रतीत होना।

सम्बन्ध–मायावस्था का वर्णन कर माया निवृत्ति के हेतुओं का निरूपेण।

अर्थ–१. शुद्धान्तः करण में प्रस्फुटित युक्ति एवं शास्त्र जन्य विवेक की प्राप्ति।

२. तत्त्व का साक्षात्कार।

३. प्रारब्ध कर्म का नाश।

ब्रह्म के अभिध्यान, उसकी योजना तथा ब्रह्मभाव से अन्त में इस विश्वमाया की निवृति होती है।

१. सालोक्यरूप–तपःश्रद्धावताम् ।
२. सामीप्यरूपा–ऊर्ध्वरितसाम् ।
३. सारूप्यरूपा–ऐश्वर्य विशिष्टोपासकस्य ।
४. सायुज्यरूपा–सगुणं अहं ग्रहणोपासकस्य ।
५. स्वरूपावस्था (कैवल्यमुक्ति)–निर्विशेषसाक्षात्कार वतः ।

"सगुणरूपः"

१. सृष्ट्यादिविविधक्रियावान्, अनन्तलीला चरितनिधिश्च ।

सम्बन्ध–विश्व माया कि निवृत्ति का निरूपण कर माया निवृत्ति के पश्चात् होने वाली मुक्ति के भेद का निरूपण करते हैं।

अर्थ–१. अपने इष्टदेवता के लोक की प्राप्ति। यह मुक्ति तपस्या एवं श्रद्धा से युक्त पुरुषों को मिलती है।

२. अपने इष्टदेवता के लोक में उनके समीप उपस्थित रहना सामीप्य मुक्ति है। यह मुक्ति उन महात्माओं को मिलती है, जो ऊर्ध्वरिता हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य का सम्यक् पालन किया है।

३. इष्ट देवता के सदृश रूप, ऐश्वर्यादि की प्राप्ति को सारूप्य मुक्ति कहते हैं। यह परमात्मा के ऐश्वर्य विशिष्ट रूप के उपासकों को मिलता है।

४. उपास्य देवता के साथ तादात्म्य होना सायुज्यमुक्ति है। यह सगुण देवता की अहंकार पूर्वक की गई उपासना वालों को मिलती है।

५. स्वस्वरूप में अवस्थित होना कैवल्यमुक्ति (केवल एक ब्रह्म तदतिरिक्त का बाध) यह सम्पूर्ण विशेषणों से रहित ब्रह्मसाक्षात्कार करनेवाले पुरुषों को मिलती है।

सम्बन्ध--पाँच प्रकार की मुक्तियों में से चार की प्राप्ति सगुण उपासकों द्वारा एवं पाँचवी मुक्ति निर्गुण ब्रह्म के उपासकों की होती है। सगुणोपासना में नाम, रूप, लीला एवं धाम में, नाम का जप, रूप का ध्यान, लीला का चिन्तन, अभिनय एवं इनसे धाम की प्राप्ति होती है। सगुण उपासकों के लिए भगवान् के ये सभी दिव्य, नित्य एवं चिन्मय माने जाते हैं। निर्गुण उपासना में इनका साधन के प्रारम्भ में स्वीकार करते हुए भी अन्ततः नाम, रूपादि से रहित निर्विशेष ब्रह्म का अपने से अभिन्न रूप में निश्चय किया जाता है।

अतः जिज्ञासा होती है, भगवान् के सगुण एवं निर्गुण रूप कैसे हैं ? इसका भागवत के अनुसार निरूपण किया जा रहा है।

अर्थ–यह विशाल ब्रह्माण्ड, असंख्य तारागण, अनन्त आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, धरती

२. ब्रह्मादि नानान्तरूप मत्स्यादिरूपश्च ।

३. अचिन्त्यानतकल्याणगुणः ।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

कुर्वन्त्यहै तुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।। (१/७/१०)

अनन्तचरितरूपगुणवान् तद्बोधकानन्तश्रुत्यादिशास्त्रभक्तजनेन्द्रियादिबोध्य ।

जलराशि, माना गुण, धर्म, स्वभाववाले मनुष्य, पशु-पक्षी, गुल्म लता वृक्षादि जिनकी इयता का पता आज तक मनुष्य को नहीं लगा।

सृष्टि के ऐसे अनेक विचित्र क्रियाकलाप जिनका शास्त्रों में वर्णन मिलता है, पढ़कर आश्चर्य चकित होना पड़ता है। जैसे–भगवान् के एक रोम कूप में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड, सहस्रमुखवाले ब्रह्मा जी, अनन्तजीवों के विचित्र कर्मों के फलदाता, जल के ऊपर पृथ्वी को स्थिर कर, प्रलयकाल में इन सबका एक साथ विनाशकर देना, ऐसे विविध क्रियावान् अनन्तलीलाचरित के निधि इन सबके कर्ता, धर्ता, संहर्ता परमात्मा स्वयं ही इन रूपों में प्रकट होते है, लीला करते हैं, एवं अन्त में इन सबका उपसंहार कर लेते हैं। बनने वाला भी वही बनानेवाला भी वही, बिगाड़ने वाला भी वही बिगड़ने वाला भी वही ॥१॥

अर्थ–भगवान् नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा के सनक, सननदन, सनातन, सनत्कुमार चार नैष्ठिक ब्रह्मचारी मानसपुत्र, अन्य वशिष्ठ नारदादि ऋषि, स्वायम्भुव मनु, शतरूपा, एवं मत्स्य कूर्म वराहादि अनेकों अवतार परमात्मा के ही रूप हैं ॥२॥

अर्थ–दुर्विभाव्य एवं अनन्तकल्याण के प्रापक भगवान् के गुण–दया, मातृ-पितृ, गुरु भक्ति, भक्तवत्सलता, माधुर्य, शौर्य, वीर्य, धैर्य, वैराग्य, सत्य, पवित्रता, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शास्त्रविचार ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, गम्भीरता आदि अप्राकृत दिव्य गुण भगवान् के ही स्वरूप है। भगवान् के गुण ऐसे विचित्र हैं कि आत्माराम मुनि भी उनकी भक्ति करने लगते हैं। शुकदेव जी महाराज भगवान् की दयालुता का वर्णन सुनकर ही भागवत सुनने वन से लौटे।

अर्थ–'मनु ज्ञाने' जिन्हें परमात्म तत्त्व का ज्ञान है, जो सर्वदा अपनी आत्मा में ही रमण करते है, जिनकी अविद्या ग्रन्थी खुल चुकी है, "भिद्यते हृदय ग्रन्थी", ऐसे सन्त-महात्मा भी भगवान् की निष्काम भक्ति किया करते हैं; वस्तुतः भगवान् के गुण है ही ऐसे दिव्य एवं मधुर हैं कि बलात् चित्त को आकृष्ट कर लेते हैं।

अर्थ–भगवान् के चरित रूप एवं गुण सभी अनन्त है, ऐसे रूपगुणादि वाले प्रभु के चरितादि का बोध श्रुत्यादिशास्त्र के द्वारा ही जाना जा सकता है, भक्त ही उन लीलाचरित एवं रूपगुणादिकों को भगवान् से प्राप्त दिव्य इन्द्रियों के द्वारा देख सकता है।

''निर्गुणरूपम्''

१. अविक्रियः–निष्क्रियः ।

२. स्वानुभवरूपः–इन्द्रियाऽनपेक्षत्त्वस्वानुभवारूपः ।

३. अरूपः–रूपादिरहितः ।

४. अनन्य बोधात्मा–स्वप्रकाशः ।

''ॐ शान्ते प्रशान्ते सर्वक्रोधं प्रशमय स्वहा''

गीता में भगवान् के दिव्यरूप (विश्वरूप) का दर्शन भगवान् श्रीकृष्ण के कृपा से ही अर्जुन न दिव्यनेत्रों के द्वारा किया था।

१. अविक्रिय : अर्थात् अपरिवर्तनशील, निर्विकार, परिणामरहित, षड्भावविकारशून्य।

२. इन्द्रियों के बिना, स्व से अनुभव किए जाने योग्य।

३. जिसका कोई रूप नहीं, निरवयव होने से, अत्यन्त सूक्ष्म। इन्द्रियाग्राह्या।

४. किसी अन्य के द्वारा जो जाना नहीं जा सकता। स्व के द्वारा स्वको जानना जो ज्ञान का भी विषय नहीं, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञानी नहीं। जो किसी सजातीय प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता।

सम्बन्ध–क्रोध शामक मन्त्र।

गुणादि भेद-से 'क्रोध' तीन तरह का होकर उत्तमादि के भेद पुनः नौ तरह का हो जाता है, उसके भी स्थूल-सूक्ष्म भेद होकर अठारह भेद हो जाते हैं।

क्रोध रजोगुण की वृत्ति है, जिसे नरक का द्वार भी भगवान् ने कहा है। शास्त्र में अन्याय के विरोध में किया जानेवाला क्रोध उचित माना गया है।

राजा एक दस्यु को दण्ड देता है तो क्रोधपूर्वक ही देता है कारण स्पष्ट है। शिष्यपुत्रादिकों का भी ताड़न किया है।

शास्त्र में भगवान् के क्रोध को वरदान कहा गया है।

अर्थ–इक्कीस बार इस मन्त्र-से जल को अभिमन्त्रित कर अपना मार्जन कर चाहिये।

सम्बन्ध–अघासुर का कल्याण (मोक्ष) देखकर विस्मित ब्रह्माजी ने भगवान् की अन्यान्य लीलाओं के आस्वादनार्थ बछड़ों एवं ग्वालबालों को अपनी माया-से हरण कर अचेत कर दिया।

ब्रह्माजी के इस कृत्य को जानकर भगवान् स्वयं बालक, बछड़े, बाँसुरी शृङ्गी यष्टि उन सबके शील (स्वभाव) के अनुरूप बन गये।

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपियत् सदिवावभाति ।।
(मा. १०/१४/२२)

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ।।२३।।

इधर भगवान् की लीला पूर्ववत् चलती रही। ब्रह्माजी जब पुनः अपने लोक-से लौटकर पूर्ववत् ही लीला को होते देखा तो समझ ही नहीं पाए की वास्तव में कौन-से ग्वाल बालादि सच्चे हैं।

ब्रह्मा जी भगवान् की माया से मोहित हो गए, उन्होंने भगवान् को दण्डवत प्रणाम किया, उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी, उनका शरीर काँपने लगा। अञ्जलि बाँधकर विनम्रता एवं एकाग्रता के साथ वे भगवान् की स्तुति करने लगे।

अर्थ—हे भूमन्! हे योगेश्वर! जब आप अपनी योगमाया का विस्तार करते हुए क्रीड़ा करते हैं, लीला करने लगते हैं, उस समय त्रिलोकी में ऐसा कोई नहीं, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, कैसे कब और कितनी होगी।

तस्मात=(हेतोः) इस कारण से, **इदम्**=यह, **अशेषम्**=निखिल, **जगत्**=संसार, **स्वत्नाभम**=स्वप्न के सदृश, **असतस्वरूपम**=असत स्वरूप वाला होने के साथ-साथ, **अस्तधिषणम**=चेतना का आच्छादक, अज्ञानरूप और, **पुरु-दुःखदुःखम्**=बारम्बार अत्यधिक क्लेश देनेवाला है। **मायातः**=माया के द्वारा; **उद्यदपि**=उत्पन्न एवं विलीन (नष्ट) होता हुआ भी; **नित्यसुखबोधतनौ त्वयि अनन्ते एव**=नित्यपरमानन्द ज्ञान स्वरूप आप अनन्त में आप ही की सत्ता-से, **सद् इव अवभाति**=सत्य की तरह प्रतीत होता है ॥९२॥

अर्थ—हे देव! कैवल्यस्वरूप एक आप ही सत्य हैं। आप सबके परमकारण है, सर्वात्मा है। आप पुराण हैं, क्योंकि सृष्टि के पूर्व भी आप रहते है। आप पुरुष हैं, क्योंकि नवद्वार वाले पुर में शयन करते हैं। त्रिकालाबाध्य होने के कारण आप सत्य हैं। आप सृष्टि से पहले, सृष्टि के बाद एवं सृष्टि के मध्य सदा एक रस विराजमान् रहते हैं। आप स्वयं ज्योति स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं। आप इयत्ता से रहित सर्वश्रेष्ठ, नित्य अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहते हैं। आप अक्षर (अपक्षयशून्य) है। आपके आनन्द में कभी न्यूनता न आने के कारण अजस्र सुखवाले हैं। आप सम्पूर्ण कल्मषों से रहित पूर्ण हैं, अतः सदा तृप्त रहते हैं या अखण्ड है भेद रहित हैं। समस्त उपाधियों से रहित है, अतः अमृत स्वरूप हैं ॥२३॥

कैवल्यमुक्तिः — सुखदुःख वर्जिता ।
षड्भावविक्रियाहीना शुभाशुभ वर्जिता ।
सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्ता सत्यविज्ञानरूपिणी ।।
केवलं ब्रह्मरूपोक्ता सर्वदा सुखलक्षणा ।
न हेया नाप्युपादेया सर्वसम्बन्धवर्जिता ।।
न दृष्टा न श्रुताविष्णो न चाऽऽस्वाद्या न तर्किता ।
सर्वावरणनिर्मुक्ता न विज्ञेया निराश्रया ।।
वाच्यवाचकनिर्मुक्ता लक्ष्यलक्षणवर्जिता ।
सर्वेषां प्राणिनां साक्षादात्मभूता स्वयंप्रभा ।।
प्रतिबन्धविनिर्मुक्ता सर्वदा परमार्थतः ।
अविचारदशायां तु प्रतिबद्धा स्वमायया ।।
एषैव परमा मुक्तिः प्रोक्ता वेदार्थवेदिभिः ।

सम्बन्ध—भगवान् की महिमा का वर्णन भागवत के अनुसार बता कर पुनः कैवल्यमुक्ति का स्वरूप सूतसंहिता के अनुसार बता रहे हैं।

अर्थ—ज्ञानस्वरूप कैवल्यमुक्ति–विषयसंयोगवियोग जनित सुखदुःखादिविवर्जित है। यह षड्भावविकारों (षड्भावविकाराः–जायतेऽस्तिविपरणिमते विवर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति) से रहित है। पुण्य-पाप जन्य शुभाशुभ फलों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। सत्यविज्ञानरूपिणी कैवल्यमुक्ति राग-द्वेषादि सम्पूर्ण द्वन्द्वों से मुक्त है। वह केवल ब्रह्मरूप कही गई है और सर्वदा सुखस्वरूप (आनन्दस्वरूप) है। अपना स्वरूप होने से त्यागने में अशक्य है, और नित्य ही प्राप्त होने-से ग्राह्य भी नहीं है। सर्वसम्बन्धरहित होनेसे ममतादिजन्य दुःखों से रहित है। न तो वह आँखों से देखा जा सकता है, न कानों से सुना जा सकता है। वह रसना का भी विषय नहीं है। व्यापक होते हुए भी वह तर्क के द्वारा समझा नहीं जा सकता, वह तर्क का विषय भी नहीं है।

वह अविद्या के आवरण से मुक्त होते हुए भी केवल बहुश्रुत या मेधा-के द्वारा विज्ञेय नहीं और नहीं किसी के आश्रय ही है। ब्रह्मस्वरूप कैवल्य मुक्ति वाच्य-वाचक, लक्ष्य लक्षकादि भावों से सर्वथा अस्पृष्ट है। स्वयं प्रकाश स्वरूप है, सम्पूर्ण प्राणियों का साक्षात् आत्मा ही है। कैवल्य मुक्ति का कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है। सर्वदा परमार्थ है। विचार के अभाव दशामें अपनी माया से ही प्रतिबद्ध हो जाता है। वेदान्तदिद् महात्मा गण कैवल्यमुक्ति को ही परमा (सर्वश्रेष्ठ) मुक्ति कहते हैं।

"पीडा दुःखम् तच्च एकविंशतिप्रभेदण"
एकविंशतिभेदास्तु शरीरं षडिन्द्रियाणि षड् विषयाः,
षड् बुद्ध्य सुखं दुःखञ्चेति गौणमुख्यभेदात्।

सम्बन्ध—मुक्ति अर्थात् दुःख निवृत्ति एवं आनन्दावाप्ति। कैवल्यमुक्ति का स्वरूप बताकर न्यायशास्त्र के अनुसार दुःख की संख्या का निरूपण।

पीड़ा लक्षण दुःख का सप्तपदार्थों में से गुण में अन्तर्भाव किया गया है। दुःख कि आत्यन्तिक निवृत्ति को न्याय शास्त्र में अपवर्ग अर्थात् मोक्ष कहा गया है।

आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति का अर्थ है—'या दृश्या दुःखनिवृत्तेरुन्तरं पुनः दुखान्तरं नोत्पद्यते तादशी दुःखनिवृत्तिः" जिस प्रकार की दुःखनिवृत्ति के पश्चात् पुनः तत् समानान्तर (तुल्य) दुःख उत्पत्ति का अभाव, एतादशी दुःखनिवृत्ति।

अर्थ—पीड़ा को दुःख कहते हैं। दुःखों के इक्कीस भेद इस प्रकार हैं—शरीर, षट् ज्ञानेन्द्रियाँ (घ्राण, रखना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन), षट् विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा योग्य आत्मगुण), षट् बुद्धि (ज्ञान, विषयों के इन्द्रियजन्य ६ अनुभव), सुख, दुःख।

दुःख से मिश्रित होने के कारण लौकिक सुख भी दुःखस्वरूप ही है। अगर अमृत में विष मिला हो तो वह अमृत भी मारनेवाला ही होता है। तो जिज्ञासा होती है कि अपवर्ग की अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

उत्तर—सर्वप्रथम न्यायादि शास्त्रों का यथयोग्य स्वाध्यायोपरान्त समस्त पदार्थों के यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्तकर, पदार्थों में दोषों का अनुभव करने के कारण सांसारिक विषयों के प्रति विरक्त हुए मुमुक्ष पुरुष का मोक्ष प्राप्ति के निमित योग शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित ध्यानविधि के अनुसार ध्यान आदि उपायों के अभ्यास-से ध्यान के परिपक्व हो जाने के कारण वह अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है। साक्षात्कार होने से वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पञ्चक्लेशों से मुक्त हो जाता है।

राग-द्वेषादि द्वन्द्वों के अभाव में स्वतः वह बिना फलाभि सन्धि के शास्त्रविहीत कर्मों का अनुष्ठान करता है। राग-द्वेष शून्य निष्काम कर्मों से धर्माऽधर्म रूप संस्कारों की उत्पत्ति के अभाव में उसके द्वारा नये धर्म एवं अधर्म का सम्पादन नहीं होता। पूर्वोपात (पूर्व अर्जित किये) धर्म-अधर्म के संग्रह को अपनी योग शक्ति के प्रभाव-से ज्ञातकर उन सबको एक साथ ही भोग लेता है। इस तरह इसके पूर्वार्जित कर्मों की निवृत्ति (समाप्ति) हो जाती है। कर्मों की निवृत्ति हो जाने तथा वर्तमान शरीर के नाश होने पर नये शरीर की उत्पत्ति में कारणीभूत धर्माधर्म का अभाव हो जाता

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रामाण्यं व्यावहारिकम्।
अद्वैतागमवाक्यं तु तत्त्वावेदनलक्षणम्।।
.... बाधवैधुर्यहेतुतः।।

देहात्मप्रत्ययोयद्वत्प्रमाणत्वेनः सम्मतः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात।। (सू.सू. ती.)
पाञ्चरात्रादयो मार्गाः कालेनैवोपकारकाः।
अत्यन्त मलिनानां तु भ्रष्टानां वेदमार्गतः।।

है, पुनः नूतन शरीर की उत्पत्ति ही नहीं होती। धर्माधर्म के अभाव में पुनः आत्मा के साथ इक्कीस प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध नहीं होता। इस तरह इक्कीस प्रकार के दुःखों का विनाश ही 'अपवर्ग' यानी मोक्ष कहलाता है।

सम्बन्ध—मोक्ष का निरूपण कर श्रुति की प्रामाणिकता का निरूपण। अन्य शास्त्रों की अपेक्षा तत्त्वनिर्णय के अतिरिक्त धर्माधर्मदि के निर्णय में भी श्रुति ही सर्वाधिक बलवती है। अपौरूषेय होने-से नित्य एवं निर्दुष्ट है। वेद कभी भी अप्रमा का जनक नहीं होता है। शब्दगत प्रमाण में भी दोष वक्ता के कारण ही आता है। वेद का कर्ता कोई न होने से यह प्रमा का ही जनक है। श्रुति कभी भी भ्रमोत्पादिका सिद्ध नहीं होती। श्रौतार्थ में भ्रम बुद्धिगत दोष के कारण होता है श्रुति में वहाँ कारणता का अभाव ही है। जैसे—'न ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'—यह स्थाणु का अपराध यानी दोष नहीं कि एक अंधा व्यक्ति उसे देख नहीं पाता।

अर्थ—श्रुति-से भिन्न प्रमाणों की शकि तत्त्व-से स्वतः प्रामाण्य के अभ्युपगम का विरोध भी नहीं, क्योंकि श्रुति से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों कि प्रामाणिकता व्यावर भूमि में ही है। अद्वैतागम वाक्यों की प्रामाणिकता परमार्थ भूमि में। इस कारण से दोनों का परस्पर विरोध ही सम्भव नहीं। तथापि यदि श्रुति-से भिन्न शास्त्र प्रत्याक्षि के द्वारा पारमार्थिक को विषय करते हों एवं शुक्ति आदि के द्वारा श्रुतिविरुद्ध पारमार्थिकता सिद्ध होती हो, तो श्रुति को ही प्रबल समझकर प्रत्यक्षादि की उपेक्षा कर देनी चाहिये।

अर्थ—देहादि से विलक्षण आत्म प्रत्यय यद्वत् श्रुति प्रमाण से स्वीकृत है। लौकिक प्रमाण भी यदि श्रुति के अविरुद्धत्वेन आत्मप्रत्यय का निश्चायक है, तो श्रुति प्रमाण के तुल्य ही यह लौकिक प्रमाण भी विद्वानों के द्वारा स्वीकृत है।

अर्थ—पाञ्चरात्र आदि आगम वेदमूलक नहीं माने गये हैं। परमार्थ के ज्ञापन में भ्रामक होने के कारण आस्तिक पुरुषों के द्वारा प्रमाणकोटि में स्वीकृत नहीं; तथापि उसका जो अंश श्रुति-से

तान्त्रिकाणामहं देवि न लभ्योऽव्यवधानतः ।
कालेन देवताप्राप्तिद्वारेणैवाहमास्तिके ।।
लभ्यो, वेदैकनिष्ठानामहमव्यवधानतः । (सू.सं. ३/४)
वेदयज्ञोपवीतिनम् शिवम् ।
सर्वविज्ञानरत्नानां कोशभूतं सुपुस्तकम् ।
सर्वतत्वाक्षमालिकां ..... दधानम् ।।
धर्मरूपवृषोपेतं .... मायावटमूलाश्रिम् ।
.... ओंकारकमलासनम ।। (सू.सं. ३/४)

विरुद्ध नहीं लगता उस अंश को उन लोगों के लिए ग्राह्य बताया गया है जो श्रुति मार्ग से बहुत दूर हैं। ऐसे लोगों के लिए यह पाञ्चरात्रोक्त मार्ग उपकारक तो है लेकिन बहुत बिलम्ब से, क्योंकि वेदमार्ग-से भ्रष्ट होने के कारण ये अत्यन्त मलिन हैं। हे देवि! तान्त्रिक उपासकों को मैं सीधे-सीधे प्राप्त नहीं होता, व्यवधानपूर्वक ही उन्हें मेरी प्राप्ति होती है। उन्हें पहले देवताओं की प्राप्ति होती है, फिर उनके द्वारा वे मुझ तक पहुँच पाते हैं। जिन साधकों की निष्ठा वेद के ऊपर है, मेरी प्राप्ति में उन्हें किसी तरह का व्यवधान नहीं होता।

"सर्वेषामात्मभूतोऽहमेव संसारमोचकः"

सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मभूत में ही इस संसार दुःख से प्राणियों को मुक्त करता हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई मोचक नहीं। (सू.सं. ३/४)

सम्बन्ध—श्रुति की प्रामाणितका, पाञ्चरात्र, तन्त्र एवं वेदमार्ग के अनुसरण कर्ताओं का भेद उनकी श्रेष्ठता, भगवान् शिव की मोचकता का निरूपण कर उनके स्वरूप का वर्णन।

अर्थ—दक्षिणामूर्ति भगवान् की बद्धप्रलम्बितजटा में द्वितीया का चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है। शरत्कालीनचन्द्रज्योत्सना की तरह शुभ्र वपु है। कण्ठ के मध्य भाग में नील वर्ण का विषचिह्न है। पुर्णचन्द्र के सदृश आह्लादप्रद उनका मुख-मण्डल गाय के दुग्ध के सदृश धवल (श्वेत) है, प्रसादपूर्वक स्मित हास्य मुख पर विराजमान है। भगवान् स्वात्मतत्त्व, निजैकरूप में स्थित हैं। कल्याणस्वरूप जटाओं में गंगा, केयूर से भूषित भुजाएँ यथायोग्य अन्यान्य अलंकार भी शरीर की शोभा बढ़ा रहे हैं। भगवान् की यह मूर्ति अत्यन्त ही शान्त प्रतीत हो रहा है। भगवान् **वेदसंमत यज्ञोपदीत** धारण किये हैं। उनके एक हाथ में ज्ञानमुद्रा, **दूसरे मे सम्पूर्ण विज्ञान रत्नों की कोशभूत पुस्तक है**, तीसरे हाथ में सर्वतत्वरूप रुद्राक्षों की माला है; वे धर्मरूप वृष से युक्त है। माया रूप वट के मूल में आश्रित (स्थित) उनका विग्रह भक्तों के लिए अत्यन्त शुभदायक है। भगवान् ॐ काररूप कलमासन पर विराजमान हैं।

आचार्य एव संसारमोचकप्रद उच्यते।
आचार्यो नाम वेदान्त विचारेणाऽऽप्रवेदनः ।। (सू०सं./२/५/२१)

सम्बन्ध—संसार से मुक्त करनेवाले अपने मोचक (दक्षिणामूर्ति) स्वरूप का विवेचन कर पुनः अपने (शिव के) मोचक स्वरूप का ज्ञान देने वाला शुरु ही मोचक प्रद है, इसका कथन।

तात्पर्यदीपिका—ईश्वर संसारमोचक इति यद्यपि श्रुतिस्मृतिपुराणादिभिरपि ज्ञातुं शक्यते तथाऽपि तत्स्वरूपमाचार्यमुखादेव ज्ञातं फलपर्यन्तं भवतीति तथैव ज्ञातव्यम्। श्रुयते हि—'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' इति।

अर्थ—आचार्य ही संसारमोचक प्रद है। संसार का मोचक ईश्वर है, उसके स्वरूप का ज्ञान चूँकि आचार्य मुख-से सुनकर ही फलपर्यन्त संगत होता है, अतः आचार्य मुख से ही ब्रह्मविद्या का श्रवण करना चाहिये। कहा भी गया है—आचार्य के मुखसे श्रुत विद्या ही दृढ़ता को प्राप्त हुई। आचार्य उसे ही कहते है, जिसने वेदान्त विचार के द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया।

भगवान् मनु ने आचार्य का लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।। (म./२/१४०)

जो ब्राह्मण, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) के सहित वेदशास्त्र को पढ़ावे उसे 'आचार्य' कहते हैं।

अन्य किसी ने कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थानाचारेस्थापयत्यदि।
स्वयमाचरते यस्मात्तस्मादाचार्य उच्यते ।।

जो ब्राह्मण शास्त्र के तात्पर्य का संग्रह (सम्यक् ज्ञान) कर, स्वयं वर्णाश्रम सम्बन्धी आचार का पालन करता हुआ, यथायोग्य अन्यान्य वर्ण एवं आश्रमस्थ व्यक्तियों को इसके पालन में नियोजित करता है, उसे आचार्य कहते हैं।

महर्षि गौतम ने कहा है—"आचार्यः श्रेष्ठ गुरुणाम्"

महर्षि याज्ञवल्क्य ने—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः ।।

गुरु वह कहलाता है जो (यज्ञोपवीत पर्यन्त तक की) सारी क्रियाएँ करके वटु (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान प्रदान करता है। केवल उपनयन संस्कार करके वेद प्रदान करने वाले को आचार्य कहा गया है।

विराट्–पञ्चीकृत भूतकार्यसमष्ट्यभिमानी।

स्वराट्–अपञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिरूपं सप्तदशकं लिङ्गशरीरमभिमन्य भावः स्वराट।

सम्राट्–अन्याकृताभिमानी (उभयकारणमण्याकृतमभिमन्यमानः सम्राट।

वसिष्ठ ने—"उपनीय तुयः कृत्स्नं वेदमध्यापयेत्स आचार्यः"

यज्ञो पवीत संस्कार कर के जो अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद को पढ़ाये वह आचार्य कहलाता है।

यम ने—सत्यवाग्धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः।

आस्तिकः वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते।।

अर्थ स्पष्ट है।

सम्बन्ध–एक बार ब्रह्मा आदि देवता सर्वलोकेश विष्णु के पास जाकर भक्ति-भाव-से उन्हें प्रणाम कर पूछने लगे।

देवताओं ने कहा—हे अच्युत आपने परमेश्वर शिव-से सूनने योग्य आत्म ज्ञान श्रवण कर लिया है। हम सब संक्षेप में उसे सुनना चाहते हैं। कृपया आप हमें वह आत्म ज्ञान प्रदान करें।

भगवान् विष्णु ने कहा—हे देवो! आप लोगों ने जो सुना वह सम्पूर्ण जगत् के लिए हितकर एवं सत्य है, तथापि मैं उसका उपदेश नहीं करूंगा। उसे स्वयं भगवान् शिव ही बतायेंगे।

श्रद्धा के साथ आप लोग स्वराट् संज्ञक महादेव के हृदयकमल के मध्य में स्थित पुण्डरीपुर जाइये।

इस पर जिज्ञासा हुई स्वराट् का क्या तात्पर्य है। इससे (स्वराट् से) सम्बन्धित विराट् एवं सम्राट का विवेचन।

अर्थ–पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उसके कार्य स्थूल शरीर का, समष्टिसूक्ष्माभिमानी देवता शिव स्वराट् कहे जाते हैं।

अर्थ–पञ्चीकृत न हुये पञ्चमहाभूत, पाँच तन्मात्रायें, उनके कार्य पाँच प्राण, दश इन्द्रियाँ और मन इन सत्रह तत्त्वों का समूह लिङ्ग शरीर कहलाता है, इसका अभिमानी स्वराट् कहा जाता है।

अर्थ–स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों के कारण अव्याकृत का अभिमानी सम्राट् कहलाता है। दोनों शरीर का कारण आभासयुक्त आत्मा का अज्ञान 'अव्याकृत कहा जाता है। यह आत्मा का कारण शरीर कहलाता है। वह नसत् है न असत्, और न सदसत् है, न किसी-से भिन्न है न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न, न अवयव रहित है, न अवयव सहित, न उभय; बल्कि आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्वज्ञान से निराकरणीय है।

पञ्चीकरणस्य स्वरूपम्–ॐ सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चानां भूतानांनामेकैकं द्विधा विभज्य स्वार्द्धभागं विहायार्द्धभागं चतुर्धा विभज्येतरेषु योजिते पञ्चीकरण भवन्ति। (पञ्चीकरणम्)

मैत्र्या करुणया युक्ताः कुमतावप्युपेक्षकाः।।

परापरविभागेन वेदार्थो द्विविधः स्मृतः।
वेदार्थः परमः साक्षात् परात्परतरं परम्।।२।।

अर्थ–सत् शब्द का वाच्य अविद्या-से उपहित (उपाधिवाला हो) ब्रह्म है। ब्रह्मसे अव्यक्त (प्रकृति), अव्यक्त-से महत् (बुद्धि), महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चतन्मात्राओं से सम्पूर्ण संसार बना। पञ्च महाभूतों में-से प्रत्येक का दो-दो भागों में विभाजित कर, अपने आधे भाग को छोड़कर, अवशिष्ट आधे भाग को चार (२) भागों में विभाजित करके एक-दूसरे में उन्हें मिलाने-से पञ्चीकरण होता है।

तत् पञ्चीकरणं मायारूपदर्शनम् अध्यारोपापवादभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते। वह पञ्चीकरण माया स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। उसी के द्वारा अध्यारोप और अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्म को बताया जाता है।

सम्बन्ध–दयालुतादि "गुण" से युक्त भी माता-पिता, गुर्वादि जैसे—पुत्र एवं शिष्यादि के गात्रजात व्याधि की चिकित्सा निसंकोच उसके कल्याणार्थ सम्पादन करते हैं, तद्वत् मैत्र्यादिगुण सम्पन्न मुनिजन भी श्रुतिविरुद्ध कुमतों की चिकित्सा (उपेक्षा) निसंकोच कर देते हैं, इसका कथन।

अर्थ–शौनकादि मुनियों ने सत्र की समाप्ति होने पर भक्तिपूर्वक सूतजी की स्तुति की। वे मुनिगण नित्य ही ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान करते थे। अभ्यागतों से, दुःखीयों से अतिथियों से स्नेहयुक्त मधुर वचन बोल कर व्यवहार करते थे। वे सभी मुनि यद्यपि मैत्री एवं करुणादि गुणों-से युक्त थे, फिर भी दुष्ट मतों के प्रति सर्वदा उपेक्षा का भाव रखते थे। दुष्ट मतवाद का श्रवण कर ही वेन पथभ्रष्ट हुआ था।

अतः श्रुतिविरुद्ध मत तो भूलकर भी श्रवण नहीं करना चाहिये। उपस्थित सभी मुनि जन सूत जी से समस्त वेदार्थ समझने के लिए ही कृतसंकल्प थे।

सम्बन्ध–पर-अपर वेदार्थविभाग का निरूपण।

तात्पर्यदीपिका–परापरविभागेनेति। उपनिषदर्थ परः। इतरस्त्वपरः। श्रूयते हि मुण्डकोपनिषदि 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा, ऋग्वेदो, यजुर्वेदः,

अपरोधर्मसंज्ञः स्यात्तत्पर प्राप्तिसाधनम्।
अधर्मः परिहारेण धर्मत्त्वव्याकुलो भवेत्।।३।।
अव्याकुलेन धर्मेण श्रद्धयाऽनुष्ठिते न तु।
वेदार्थः परमः साक्षात्सिध्यत्येव न संशयः।। (सू.सं. ४/२)
शिवाश्रया शिवविषया च माया।
आश्रयत्वोपाधिना तस्य जीवत्वम्।
विषयत्वोपाधिना परत्वम्। (सू.सं.ती. ४/२)

सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते इत्यादि। तदेवाऽऽहवेदार्थः परम इति। परात्सकलादतिशयेन यत्परं निष्कलं तदुक्तद्वितयमध्ये परमो वेदार्थ इत्यर्थः ॥२॥

अर्थ—पर एवं अपर के भेद-से वेदार्थ दो प्रकार का कहा गया है। पर वेदार्थ (उपनिषदर्थ) अपने से अनतिरिक्त अत्यन्त ही व्यवधान शून्य (अव्यवहित) आत्मतत्व है, जो अत्यन्त श्रेष्ठों में श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतम है जिनका कभी विनाश नहीं ॥२॥

अर्थ—अपर वेदार्थ धर्मसंज्ञक है, और वह पर की प्राप्ति का साधन है। अपर यज्ञादिधर्म एवं तन्निषिद्ध हिंसादि अधर्म।

शाबर भाष्य में कहा गया है—

''अधर्मोऽपि जिज्ञास्यः परिहाराय'' 'यह अधर्म है' यह ज्ञान भी होना चाहिए, नहीं तो त्याग किसका करेगा।

गोस्वामी तुलसदीसाद जी ने कहा है—**''संग्रह त्याग न विनु पहिचाने''**

अधर्म के त्याग पूर्वक आचरित धर्म अव्याकुल होता है, अर्थात् धर्म उससे दबता नहीं। श्रद्धा के साथ किया गया पाप से अनभिभूत (अनाच्छादित अर्थात् अमिश्रित) धर्म परम श्रुत्यर्थ के साक्षात्कार का साधन होता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥३॥

सम्बन्ध—नित्यमुक्त होते हुए भी आत्मा अपने ही आश्रित रहने वाली माया-से बद्ध की तरह प्रतीत होता है। परमेशशक्ति माया अनन्त रूपों वाली है। यह माया शिव के आश्रित, शिवविषयक एवं शिवज्ञान से ही निवृत्त होती है।

अर्थ—शिवाश्रया शिवविषया माया आश्रयत्वोपाधि के द्वारा शिव के जीवत्व का कारण एवं विषयत्वोपाधि से उसके परत्व का कारण बनती है।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति वनस्थो नैष्ठिकोऽपिवा।
गृहस्थः पितृलोकं च शिवज्ञानं तु भिक्षुकः। (सू.सं.ती. ४/२)

१. कुतीचकधर्मानुष्ठानात् जिज्ञासाप्रतिबन्धक पाप निवृत्तिः।

२. बहूदकः—बहूदकधर्मानुष्ठानात् शमदमादि सम्पल्लाभः।

३. हंसधर्मस्य तु वेदान्तशूश्रूषा।

४. परमहंस—चतुर्थोज्ञानमाप्नोति वेदान्तश्रवणेन तु।

"विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः"

सम्बन्ध—सर्वाधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से ही मुक्ति होती है। आत्मास्वरूप के ज्ञान से यह निश्चय हो जाना कि आत्मा में न कर्तृत्व है, न हि भोकृत्व, बस मोक्ष का स्वरूप इतना ही है। आत्मा का ज्ञान वेदान्त-श्रवण-से परमहंसों को प्राप्त होता है। परमहंस यतिजन ही इसके मुख्य अधिकारी हैं।

अन्याश्रमियों को यह ज्ञान क्रमसे होता है इसका कथन।

अर्थ—नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थी ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं। वहाँ उन्हें ज्ञान प्राप्ति हो जाती है। गृहस्थ को पितृलोक की प्राप्ति होती है, वहाँ से उन्हें पुनः वापस आना पड़ता है। भिक्षुकों (परमहंसों को) शिवज्ञान (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध—भिक्षुकों के चार भेद एवं उनके मोक्ष प्राप्ति के साधन का वर्णन।

१. **पहला कुटीचक**—आश्रमधर्म के अनुष्ठान से जिज्ञासा के प्रतिबन्धक पापों की निवृत्ति कर श्रवणादि से मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

२. बहूदक अपने स्वाश्रमधर्म के अनुष्ठान से ज्ञान के अंगभूत शान्ति, दान्ति तथा विविदिषा प्राप्त करके श्रवणादि द्वारा मुक्त होता है।

३. हंसभिक्षुक को स्वधर्म पालन-से वेदान्त श्रवण की अत्यन्त इच्छा होती है, उससे प्रेरित हो वह श्रवणादि द्वार तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है।

४. चतुर्थ 'परमहंस' तो वेदान्त मात्र श्रवण से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

न सन्ति जप्या मन्त्राश्च परमहंसस्य सर्वदा।
त्रयीसारमिमं मन्त्रं जपेन्नित्यं समाहितः॥
ओङ्कारः सर्वमन्त्राणामुत्तमः परिकीर्तितः।
ओङ्कारेण प्लवेनैव संसाराब्धिं तरिष्यति॥
यतिभिर्ज्ञानसिद्ध्यर्थंविमुक्तं महत्तरम्।
स्थानं संसेवनीयं स्थाच्चिन्तनीय तथैव च॥
अधिभूतं तथाऽध्यात्ये सेवनीयं तथैव च॥
(सू०सं० ४/२)
विष्णु प्रजापतीन्द्रादिदेवतासु मुनीश्वराः।
विहीनासु शिवं पश्यन्मुच्यते भवबन्धात्॥
(ब्रह्म दृष्टिः उत्कृदतात्)
शिवं सर्वोत्तमं विप्रा हरिविष्ण्वादिनामतः।

सम्बन्ध—चार प्रकार के भिक्षुकों में परमहंस के लिए कर्तव्य-कर्म।

अर्थ—परमहंसों के लिए जपने योग्य अन्य कोई मन्त्र है ही नहीं, उन्हें तो वेदों के सारसर्वस्व प्रणव मन्त्र का ही सर्वदा जप करना चाहिये। सम्पूर्ण मन्त्रों में ओङ्कार ही सर्वोत्तम मन्त्र कहा गया है। परमहंस मुनि ओङ्काररूपी जहाज पर आरुढ़ हो अनायास संसार सागर को पार कर जायेगा।

ज्ञान की सिद्धि के लिए यतिओं को सबसे महान् तीर्थ अविमुक्त (वाराणसी) का सम्यक् सेवन करना चाहिये। उसे वहाँ सर्वदा आत्मस्वरूप का चिन्तन करते रहना चाहिये।

मुमुक्षुओं को श्रद्धा के साथ अधिभूत और अध्यात्म रूप से काशी का सेवन करना चाहिये।

अधिभूत का तात्पर्य है कि नित्यप्रति काशी जी में गङ्गास्नान, विश्वनाथ का पूजन, संतों का संग, उनसे वेदान्त का श्रवण करता रहे एवं अध्यात्म रूप का अर्थ है—अपने शरीर में नासिका एवं भ्रू की सन्धि स्थल में अनन्त, अव्यक्त अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करे।

या आत्मा ही काशी है ऐसे भावना करनी चाहिये अथवा पुनः शरीर को काशी, ज्ञान को गंगा एवं साक्षी आत्मा को विश्वनाथ मानकर चिन्तन करना चाहिये।

गृहस्थ, वान्प्रस्थ एवं ब्रह्मचारियों को नित्य शतरुद्रिय का जप करना चाहिये। साथ-हि-साथ पञ्चाक्षर मन्त्र का भी जप करें।

अर्थ—विष्णु, प्रजापति, इन्द्र आदि देवताओं में भी शिव को देखता हुआ साधक भवबंधन

यथाऽमात्यादिबुद्धिस्तु राज्ञि बाधाय देहिनाम्।
महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते।।
पुनःकणादकपिलप्रभृतीनामपि स्वतः।
दोषो न विद्यते ज्ञाने विरोधेऽपि परस्परम्।।
तैस्तैर्निरूपितं ज्ञानं वस्तुतो नैव दर्शनम्।
उपचारण विज्ञानं श्रद्धापूततया द्विजाः।।
(सू०सं० ४/३)

मोक्षे धीर्ज्ञानम् अन्यत्र विज्ञानं शिल्पशात्रयोः।।

से मुक्त हो जाता है। हे विप्रगण! भगवान् शिव का जो हरि, विष्णु नामों से ध्यान करता है, वह घोर संसार में भटकता रहता है। जैसे—राजा में अमात्यबुद्धि कर व्यवहार करने-से राज के कोप का भोजन होना पड़ता है, वैसे ही शिव के विषय में भी समझना चाहिये। शिव ही ज्ञान स्वरूप हैं, महापाप करने वाले मनुष्यों की रुचि ज्ञान में नहीं होती विपरीत उन लोगों को ज्ञानयज्ञ से द्वेष ही होता है।

सम्बन्ध—कणाद आदि दार्शनिकों के दर्शन में उनके दोषाभाव का कथन।

अर्थ—कणाद, कपिल आदि महर्षियों के मत में परस्पर विरोध होने पर भी उनके ज्ञान में विरोध न होने से उनका स्वतः दोष नहीं है। (क्योंकि उन लोगों ने भी ज्ञान-से ही मोक्ष प्रतिपादित किया है। ज्ञान के विषय में उनका मत निश्चय ही गलत है) उन सबके द्वारा निरूपित ज्ञान वस्तुतः दर्शन नहीं है क्योंकि वे साक्षात् मोक्ष के साधन नहीं हैं, तथा औपचारिक रूपसे उसे भी विज्ञान कह देते हैं, क्योंकि ज्ञान के प्रति श्रद्धा होने-से वे भी पवित्र हैं।

अर्थ—मोक्ष विषयक बुद्धि का एक नाम ज्ञानत है। शिल्प एवं तद्विषयक शास्त्र या बुद्धि का नाम विज्ञान है। यहाँ इसके प्रयोगात्मक ज्ञान-से तात्पर्य है। वस्तुतः शिल्पज्ञान का अथवा तत्सम्बन्धि शास्त्र का मोक्ष में क्या उपयोग है? सुधीजन स्वयं विचार कर लें। साधन की दृष्टि से विचार किया तो उपयोग है भी।

"सूत संहिता" कोशकार के पक्ष में जा रहा है। सूत संहिता में—"ईश्वरधिया पापं शुद्धविज्ञानं भवेत्" परमेश्वर-प्रीत्यर्थ किया पाप भी शुद्ध विज्ञान देता है। महाभारत में व्याध की कथा प्रसिद्ध ही है। सधन कसाई की कथा प्रसिद्ध ही है।

यानि कर्माणि सर्वाणि निषिद्धानि श्रुतौ स्मृतों।
तानि चाऽऽराधनं शम्भोरिति ज्ञानं महामखः।।
ईश्वरार्थधिया पापान्यपि पूतानि वै विदुः।।
(सू०सं० ४/३)

बुद्धार्हतादिमार्गस्थे देवताप्रतिमासु च।
देवताबुद्धिमात्रं यत्सोऽपि यज्ञः प्रकीर्तितः।।

सम्बन्ध–महायज्ञ का निरूपण, क्रिया की अपेक्षा भाव का माहात्म्य अधिक इसका निरूपण।

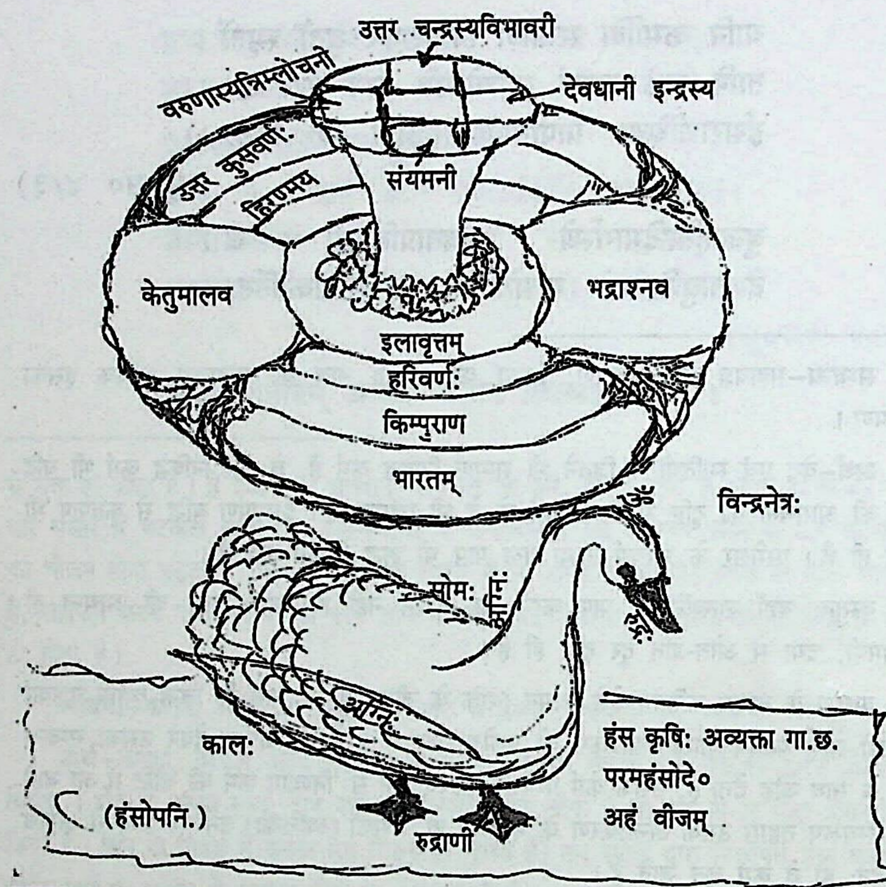
अर्थ–वेद एवं स्मृतियों में जितने भी सम्पूर्ण निषिद्ध कर्म हैं, वे सारे निषिद्ध कर्म भी यदि शिव की आराधना की दृष्टि से किये जायँ तो वे भी महायज्ञ है। ईश्वरार्पण बुद्धि से कृतपाप भी पवित्र ही हैं। परमेश्वर के प्रीत्यर्थ किया गया पाप भी शुद्ध विज्ञान देता है।

वस्तुतः यहाँ शास्त्रनिषिद्ध पाप करने का विधान नहीं है। यहाँ शास्त्र की अत्यन्त ही रहस्यमयी, दया से ओत-प्रोत दूर दृष्टि ही है।

वासना के कारण कतिपय ऐसे व्यसन व्यक्ति के जीवन में आ जाते हैं, जिन्हें व्यक्ति चाहकर भी नहीं छोड़ पाता। शास्त्र उसी कर्म को परमेश्वर-प्रीत्यर्थ करने का आदेश देकर उसका सम्बन्ध ईश्वर के साथ जोड़ देता है, उसके कर्म परमेश्वर प्रीत्यर्थ होने से 'निष्काम कर्म की कोटि में आ जाते हैं फलस्वरूप तद्वारा उसके अन्तःकरण के मल दूर हो, उसका (व्यक्तिका) उन बुरे कर्मों से अरुचि हो स्वतः ही वे कर्म छूत जाते हैं।

सम्बन्ध–पापियों में दोष दृष्टि न कर के उपेक्षा बुद्धि रखना भी महायज्ञ है, क्योंकि साधक यदि उन सब के दोषों को देखता रहे तो उससे उसकी बुद्धि ही विक्षिप्त होने लगेगी, ऐसे ही लोग समाज सुधार के बहाने योगभ्रष्ट होते हैं। हाँ समाज सुधार, धर्मरक्षा ही जिसका उद्देश्य है वह अवश्य दुष्टों को रास्ते पर लाने के लिए दण्ड का विधान कर सकता है। ऐसे ही वेद विरुद्ध मतवाद वाले बौद्ध, जैन के मतों को लेकर भी मोक्षमार्ग के पथिक को उलझने की आवश्यकता नहीं है, इसका कथन।

अर्थ–बुद्ध, जैन आदि मार्गों का अवलम्बन करने वालों एवं उनकी मूर्तियों में देवता बुद्धि रखना भी महायज्ञ कहलाता है। उनसे बहसबाजी करना तार्किकों का ही काम है, मुमुक्षु साधक के लिए इस तरह के कलहयुक्त कार्य हानिकर ही है।



सम्बन्ध -सबका सार 'ॐ' को प्राप्त करने का कथन।

व्याख्या—भगवान् ब्रह्मा ने पूर्वकाल में तीन वर्षों तक लगातार घोर तप कर जगदात्मा शिव की कृपा से पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक की सृष्टि की।

इन तीनों के सार की प्राप्ति के लिए पुनः तप किया उससे क्रमशः पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा द्युलोक से सूर्य उत्पन्न हुये।

तपपूर्वक इनका भी सार निकाला तो क्रमशः अग्नि से ऋग्वेद, वायु-से यजुर्वेद और सूर्य-से सामवेद प्रकट हुआ। इन तीनों का सार निकाला तो ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद-से भुवः सामवेद-से स्वः की उत्पत्ति हुई। भूः, भुवः तथा स्वः का सार निकाला तो क्रमशः अकार, उकार एवं मकार निकला। प्रजापति ने इन तीनों को मिलाया जिससे 'ओम' बन गया। (सू.सं. ४/५)

अरुणकनक वर्णं पद्मसंस्थञ्च गौरी,
हरनियमित चिह्नं सौम्यता नून पातम् ।
भवतु भवदभीष्टप्राप्तये पाशटङ्का,
भयवरद विचित्रं रूपमर्धाम्बिकेशम् ।। (प्रप.सा.)

सो हम प्रकृति–पुरुष	निकृष्टाधिकारी
प्राण–अपान	मध्यमाधिकारी

अथवा प्राणसञ्चारः सकारः परिकीर्तितः ।
हकारोऽपानसंचारो देहे देहवतां सदा ।।
एवं यस्तु विजानाति मन्त्रमाचार्यपूर्वकम् ।
सोऽजपन्नपि हंसारण्यं जपत्येव न संशयः ।। (सू.सं. ४/७)

सम्बन्ध–अजपा को आत्म मन्त्र कहा गया है। आत्ममन्त्र के ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द तथा आत्मा देवता हैं। आत्मन्त्र में 'स:' शक्ति और 'हम' बीज है। शिव एवं शक्ति का स्वरूप होने से यह मंत्र सवश्रेष्ठ है। ऐसा समझकर बीज तथा शक्ति युक्त मन्त्र का अर्धनारीश्वर का ध्यान करते हुए जप करना चाहिये इसका प्रतिदिन बारह हजार जप करने से जापक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

"सोहम्" अर्धनारीश्वर का ध्यान।

अर्थ–

ध्यायेत्साम्बं महादेवं संसारामय भेषजम् ।

संसार रोग के भेषज् साम्ब सदाशिव महादेव का नित्य ध्यान करना चाहिये।

सम्बन्ध–"सोऽहम्" का अधिकारी भेद-से व्यत्यास कर जप का कथन।

निकृष्टताधिकारी "सोऽहम्" का जप करता है।

अथवा प्राणसञ्चार (श्वास) सकार तथा अपानसञ्चार (प्रश्वास) हकार है। देहधारियों के देह में यह क्रम सदा चलता रहता है। इस प्रकार इस मन्त्र को जो साधक आचार्य के मुख-से जान लेता है, वह जप नहीं करता हुआ भी (मन्त्र का उच्चारण पूर्वक जप न करता हुआ)

सर्वदा "हंस" मन्त्र का जप करता रहता है, इसमें संशय नहीं। यह मध्य-अधिकारी है।

अहं सः | उत्तम अधिकारी
त्वम् तत |

संसारित्वेन भातोऽहं स एव परमेश्वरः ।
पूर्णोऽहमेव जानीयाद् बोधमात्रस्वाभावतः ।। सू.सं. ४/७)

व्यावर्तमानजाग्रदाद्यवस्थासु एक रूपेण अनुवृत्तेः सद्रूपत्वं, तत्साक्षित्त्वन चिद्रुपत्वं, परप्रेमास्पदत्वेनान्दरूपत्वेम् । (टीका)

सत्यसम्पूर्णविज्ञान सुखरूपो महेश्वरः ।
अहं चाव्यभिचारित्वत्सत्स्वभावो न संशयः ।। (सू०सं. ४/७)

ज्ञातमज्ञातमप्यर्थं ज्ञाताविच्छिन्नचेतनः ।
सुखस्वभाव एवाहं सदा प्रेमास्पदत्वतः ।।

अर्थ–तत्पदवाच्य वही परमेश्वर मैं हूँ किन्तु संसारीरूप से भास रहा हूँ। मिथ्या अज्ञान का त्यागकर 'मैं' पूर्ण ब्रह्म हूँ' स्वभाव से बोध मात्र हूँ, ऐसा अपने को जानना चाहिये।

सम्बन्ध–स्वानुभाव का वर्णन।

अर्थ–जीव के व्यावर्तमान जाग्रदादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एकरूप से अनुवृत्त (स्थित) सद्रूपत्व, साक्षिरूपसे चिद्रुपत्व एवं परमप्रेमास्पदरूप से आनन्दत्व का उसके अनुभव से ही सिद्ध है।

"सोऽहमेव न संदेहः स्वानुभूतिप्रमाणतः"

वह मैं नही हूँ, इसमें किसी को कोई संदेह नहीं तथा इसमें वेदान्तवेत्तओं का स्वानुभव भी प्रमाण है।

अर्थ–भगवान् शिव महेश्वर, सत्यस्वरूप परिपूर्ण (अपरिच्छिन्नस्वरूप) विज्ञानरूप एवं सुखात्मक है—यदि उनका निजरूप है। तीनों कालों में अव्यभिचारी (न बदलने वाला होने से) सत्स्वभाव (सत्ता) वाले हैं, इससे तनिक भी संशय नहीं। (४/७)

सम्बन्ध–स्वयं शिव की अपनी सर्वज्ञता के विषय में कथन।

अर्थ–मैं ज्ञात एवं अज्ञात सभी विषयों का ज्ञाता (इन सबको विषय करने वाला) अविच्छिन्न (व्यापक) चेतन स्वरूप एवं सर्वदा स्व प्रेमास्पदत्व होने से आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सर्वसाक्षि परमार्थ दृष्टि से सर्वदा परिपूर्ण, देश, काल एवं वस्तु से अपरिच्छिन्न हूँ। कोई भी अपूर्ण (अल्पशक्ति देवादि के विषय में) तत्त्व एककाल में सम्पूर्ण विषयों को जान का विषय नहीं बना सकता।

पूर्णोऽहं सर्वसाक्षित्वात्सर्वदा परमार्थतः ।
अपूर्णो युगपत्सर्वं नविजानाति कश्चन ।।
अहं संसारसाक्षित्वात्तया संसार वर्जितः । (सू.सं. ४/७)

प्रत्यक्षोदः प्रमाणस्य तर्कोऽनुग्राहको भवेत् ।
पक्षे विपक्षजिज्ञासाविच्छेदस्तनुग्रहः ।। (सू.सं. टी. ४/७)

रेचकं पूरकं मुत्त्वा कुम्भके सुस्थितः सुधी ।
नाभि कन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ।।
मस्तकस्थामृतस्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ।
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे ।।
अभिषिच्यामृतेनैव हंस हंसेति यो जपेत् ।
जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ।।

जैसे–परमात्मा संसार का साक्षी होने से उसके धर्म-से रहित हैं ऐसे ही मैं भी संसार का साक्षी हूँ उसके धर्म से रहित हूँ 'जो वह है' 'वे ही मैं हूँ' ऐसा ईश्वर एवं स्व में सर्वदा अभेद दृष्टि रखनी चाहिये।

श्रुति भी काशी है—"असङ्गो नहि सज्जते" आत्मा असङ्ग है, वह कही आसक्त नहीं होता, वह अपने को देह मान लेता है, उसके धर्म से अपने को श्लिष्ट मानकर सुखी-दुःखी होता है।

सम्बन्धी–तर्कादि की उपयोगिता।

अर्थ–प्रत्यक्षादि प्रमाणों का 'तर्क' अनुग्राहक होती ही है, क्योंकि पूर्वपक्ष के द्वारा उठाये गये शंकाओं का निग्रह एवं विपक्षी के जिज्ञासा का उच्छेद तर्क के अधीन है, जिज्ञासा निवृत्ति की हेतुता स्पष्टतः तर्क में है ही।

सम्बन्ध–नित्य साधन योग का वर्णन।

अर्थ–बुद्धिमान साधक रेचक एवं पूरक को छोड़कर कुम्भक में सुस्थित रहे अर्थात् कुम्भक का अभ्यास अधिक करें। पूर्व वर्णित नाभिकन्द में प्राण-अपान को रोककर (समकर के) चित्त को एकाग्र कर ले पश्चात् मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) में स्थित अमृत का आदरपूर्वक ध्यान से पीकर स्वाद को ग्रहण अनुभव करे। नाभि के मध्य में दीपाकार रूप में स्वयं प्रकाश-से प्रकाशित महादेव का स्रवित अमृत से अभिषिञ्चन कर हंस-हंस इस प्रकार जो व्यक्ति जप करता है, उसे इस दुःखालय संसार में जरा, मृत्यु, आधि-व्याधि कुछ भी सताते।

यो नोऽस्माकं धियश्चितान्यन्तर्यामिस्वरूपतः।
प्रचोदयात्प्रेरयेच्च तस्य देवस्य सुव्रताः।।
दीप्तस्य सर्वजन्तूनां प्रत्यक्षस्य स्वभावतः।
सवितुः स्वात्मभूतन्तु वरेण्यं सर्वजन्तुभिः।।
भजनीयं द्विजा मर्गस्तेजश्चैतन्यलक्षणम्।
तच्छब्दवाच्यं सर्वज्ञं जगत्सर्गादिकारणम्।।

इतना हि नहीं "पञ्चगण्याशनो लक्षं जप्त्वा जातिस्मरो भवेत्" पञ्चगव्य का पान करके यदि लक्ष बार इस मन्त्र का कोई जप करे तो उसे अपने पूर्व जन्म का भी ज्ञान हो जाता है।

सम्बन्ध—गायत्री मन्त्र का अर्थ।

तात्पर्यदीपिका—यो नोऽस्माकमित्यादिना मयाऽऽदरादित्यन्तेन। तृतीयपादेयच्छब्दश्रवणात्प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं तं पादं विवृणोति। अन्तर्यामितया स्थितो यो देवः स नोऽस्माकं धियो बुद्धीधर्मज्ञानादिषु प्रचोदयात्प्रेरयेत्। 'चुद् प्रेरणे' इत्येतस्माल्लेट्याडागमः। तस्य देवस्य द्योतमानस्य स्वयं प्रकाशचिद्रुपस्य सर्वप्राणिहृदम्बुजमध्यवर्त्यन्तः करणादिसाक्षित्त्वेन वर्तमानस्य सवितुः प्रेरकस्य शिवस्वरूपभूतं तत्सृष्टिस्थितिसंहारकारणतया प्रसिद्धं वरेण्यं सर्वप्राणिसेव्यं भर्गो भर्जनात्पापस्य भर्जकं सत्यज्ञानादि लक्षणं स्वमायाशक्तिवेशन शिवरुद्रादिसंज्ञामापन्नं सूर्यमण्डलमध्य तत्प्रेरकत्वेनावस्थितं वाङ्मनसातीतमीदृग्विधं यत्परं ब्रह्म तद्वयं धीमहि ध्यायेम्। तदेवाहमस्मीति जानीयामित्यर्थः। 'ध्यै चिन्तायाम्' इत्यस्माल्लिङ्च्छान्दसं रूपम्। तदुक्तमाचार्यैः—'ध्यै चिन्तायां स्मृतोधातुर्निरुपन्नं धीमहीत्यतः इति।

अर्थ—**सुव्रन्ता** = सुन्दर व्रतवाले, हे मुनिवृन्द! **यः** = जो, **नोऽस्माकम्** = हमारी (उपासकों की) **धियः** = (चिन्तानि) बुद्धियों को, **अन्तर्यामिस्वरूपतः** = अन्तर्यामीरूप से, **प्रचोदयात** = (प्रेरयेच्च) शुभ कार्यों या विचारों की ओर प्रेरित करता है, **तस्य** = उस, **स्वभावतः** = स्वभाविक रूप से, **दीप्तस्य** = प्रकाशमान, **सर्वजन्तूनां** = समस्तप्राणियों के, **प्रत्यक्षस्य** = प्रत्यक्ष (अक्षिविषय जो हैं, ऐसे) **देवस्य** = दिव्यगुणयुक्त प्रेरक देव के, **स्वात्म्भूतं** = स्वरूपभूत एवं **सर्वजन्तुभिः वरेण्यं सवितुः** = सर्व प्राणी द्वारा वरणीय (उपासनीय) अन्तःकरणादि के साक्षिरूप से वर्तमान **भजनीयम्** = सेवनीय, भर्गः (तेजः) का, **द्विजाः** = हे द्विज गण! जो, **चैतन्यलक्षणमक** = चैतन्यात्मक चेतनस्वरूप वाला है, उसका, **वयम** = हम सब, **धीमहि** = (उपास्महे) अभेद रूप से उपासना करते हैं, जो, **तच्छब्दवाच्यम्** = तत्-शब्द का वाच्य है, **सर्वज्ञम्** = सर्वज्ञ है, **जगत्सर्गादि कारणम्** = इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है, **स्वमायाशक्तिसंभिन्नम्** = अपनी

स्वमायाशक्तिसंभिन्नं शिवरुद्रादिसंज्ञितम् ।
नीलग्रीवं विरूपाक्षं साम्बभूर्त्युपलक्षितम् ।।
आदित्यदेवतायास्तु प्रेरकं परमेश्वरम् ।
आदित्येनापरिज्ञातं वयं धीमह्युपास्महे ।।

जप्येनैवहिसंसिदध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्दन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।।
(मनुस्मृति २/८७)

गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः ।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः ।।
(स्व.का.ख.)

माया शक्ति से पृथक् होता हुआ भी, सम्बद्ध सा प्रतीत होता है, **शिवरुद्रादिसंज्ञितम्** = शिवरुद्र आदि नामों वाला है, **नीलग्रीवम** = नीलकण्ठ, **विरूपाक्षम्** = त्रिनेत्रवाला तथा, **साम्बमूर्त्यपलक्षितम्** = साम्बादि मूर्ति के रूप में लक्षणा का विषय बनता है, वह, **आदित्यदेवतायास्तु** = आदित्य देवता का भी प्रेरक है, **परमेश्वरम्** = परमेश्वर है, **आदित्येनापरिज्ञातम्** = आदित्य भी जिसे नहीं जानता है, परन्तु जो आदित्य को भी जानने वाला है।

सम्बन्ध–गायत्रीमन्त्र के विषय में विशेष बातें—गायत्री मन्त्र के जप में द्विजातिमात्र का अधिकार है अतः द्विजाति मात्र को अवश्य प्रतिदिन त्रिकाल गायत्री की उपासना करनी चाहिये।

मनु जी ने कहा है—

अर्थ–ब्राह्मण गायत्री के जप से ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं। वह अन्य कुछ करे अथवा न करे, परन्तु गायत्री मन्त्र जप के प्रभाव से वह ब्रह्म में लीन होकर सम्पूर्ण प्राणियों का 'मित्र' कहलाता है।

अर्थ–स्कन्दपुराण में आता है—

गायत्री ही परमात्मा विष्णु हैं, गात्रयी ही परमेश्वर शिव है, तथा गायत्री ही परात्मा ब्रह्मा हैं, इस कारण गायत्री से वेदों का प्राकट्य कहा गया है।

गायत्री को गायत्री इसलिए कहते क्योंकि वह अपने गान (जप) करनेवाले का त्राण (रक्षण) करती है।

"गायन्तं प्रायते यस्माद् गायत्रीति स्मृता बुधैः"

(भारद्वाजस्मृति ६/१४६)

गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीत्यामिधीयते।
प्रणवेन च संयुक्तां व्याहृतित्रयसंयुताम्।।

देवीभागवत ११/३/११)

"गायत्री मन्त्र की उत्पत्ति"

गायतो मुखादुदपतदिति गायत्री। (निरुक्त ७/१२/५)

सर्वेषामेव वेदानां गुह्योपनिषदां तथा।
सारभूता तु गायत्री निर्गता ब्रह्मणोमुखात्।।

(छान्दोग्यपरिगद)

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीतिच।। (२/७६)
त्रिम्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादम दूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः।। (२/७७)
ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुवरिण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात।। (शुक्लयजुर्वेद ३६/३)

अर्थ–प्रणव तथा तीनों व्याहृतियों से संयुक्त गायत्री अपने गायन (जप) कर्ता की रक्षा करती है, इसी से गायत्री कही जाती है।

अर्थ–गान करते हुए ब्रह्मा के मुख-से सर्वप्रथम गायत्री-मन्त्र का प्राकट्य हुआ।

अर्थ–'सम्पूर्ण वेदों एवं समस्त गुह्य उपनिषदों का सारभूत गायत्री महामन्त्र ब्रह्मा जी के मुख से निर्गत (प्रकट) हुआ था।

भगवत् मनु ने कहा है—ब्रह्मा जी ने ऋक्, यजुः तथा साम इन तीनों वेदों से अकार उकार एवं मकार इन तीन अक्षरस्वरूप 'ॐ' कार को तथा 'भूभुवः स्वः" इन तीन व्याहृतियों को दुहा।

अर्थ–परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा जी ने ऋक्, यजुः एव साम–इन तीन वेदों से 'तत्' आदि गायत्री के ऋचाओं का क्रमशः एक-एक पाद दुहा अर्थात् निकाला।

गायत्री मन्त्र की विशेष व्याख्या।

ॐ ओङ्कारस्तु परं ब्रह्म गायत्री स्यान्तदक्षरम् ।
एवं मन्त्रो महायोगः साक्षात्कार उदाहृतः ।।

(उशनः संहिता ३/५२/१)

वाङ्मयं प्रणवः सर्वं तस्मात्प्रणवमभ्यसेत (याज्ञ वल्क्यसंहिता)
''प्रणवं पाक् पयुज्जीत्'' (याज्ञवल्क्यशिक्षा)
''प्रणवो मन्त्राणां सेतुः''
ओङ्कार बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्तियोगिनः ।
कामदं मोक्षदश्चैव ओङ्काराय नमोनमः ।। (शिवषडक्षरस्तोत्र)
''सर्वेषामेव मन्त्राणां कारणं प्रणवः स्मृतः''(वृद्धहारीतिअ ६/८८)
''ॐ स्मर'' यजुर्वेद
गायत्री प्रकृतिर्ज्ञेया ओङ्कारः पुरुषः स्मृतः । (बृहद्योगियाज्ञस्म. ४/७)
गायत्री साऽभवत् पत्नी प्रणवोऽभूत्पतिस्तदा ।

(बृहत्पाराशर २/९)

अर्थ–ओङ्कार परम ब्रह्म है तथा गायत्री उसका अक्षर है एवं प्रणव तथा गायत्री–इन दोनों का महायोग सम्पूर्ण वेदों का साक्षात् सार बताया गया है।

अर्थ–सम्पूर्ण वाङ्मय गायत्रीमय प्रणव है, अतः प्रणव का अभ्यास करने से समस्त शास्त्रों के अभ्यास का फल मिलता है।

अर्थ–वेदारम्भ के पूर्व 'ओम' का उच्चारण करना चाहिये।

अर्थ–प्रणव समस्त मन्त्रों के लिए सेतु है।

अर्थ–योगी पुरुष नित्य विन्दु संयुक्त (अनुस्वार सहित) ओमकार का चिन्तन करते है, अतः सम्पूर्ण कामनाओं की पूरा करनेवाले मोक्ष प्रदाता ओमकार को बारम्बार नमस्कार करते हैं।

सम्पूर्ण मन्त्रों का कारण प्रणव को कहा गया है।

अर्थ–ॐ का स्मरण करो।

अर्थ–गागत्री को प्रकृति तथा ओङ्कार को पुरुष कहा गया है।

अर्थ–वह गायत्री स्त्री हुई और प्रणव उसका पति हुआ।

"ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा"। (देवीभागवत)

अवधातु-रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचन-क्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु। (भ्वादिगण)

अर्थ–विप्र के लिए 'ओम्' कार को पिता और गायत्री को माता कहा गया है। 'ॐ' शब्द अब रक्षणादि एवं आप्लु व्याप्तौ धातु-से निष्पन्न होता है।

अर्थ–अवधातु रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, वाप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग तथा वृद्धि इन उन्नीस अर्थों में होता है।

१. **रक्षण अर्थ में**–अवति अज्ञानाद्रक्षति इति 'ॐ'। जो अज्ञान से रक्षा करे।

२. **गति अर्थ में**–गति के ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। अवति–गच्छति, सर्वं जानाति सर्वं प्राप्नोति इति ओम्। जो विना पैर के ही चलता हो, (अपाणिपादो यवचे ग्रहीता) विनु पग चलई) श्रुती में एवं गोस्वामी जी ने भी वेद के अनुसा सिद्ध किया है।

जो परमात्मा सबको जानता है, अतः 'ओम्' है, वह सबको व्याप्त कर स्थित है।

३. **कान्ति अर्थ में**–अवति दिव्यति विश्वं प्रकाशयति इति 'ओम्'।

जो विश्व को अपनी सत्ता से प्रकाशित करता है, "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति"।

४. **प्रीति अर्थ में**–अवति, प्रीणयति, प्रीणाति वा इति 'ओम्'।

सबको प्रसन्न करने से परमात्मा आत्मस्वरूप होने से स्व प्रीति का विषय है।

५. **तृप्ति अर्थ में**–अवति भक्तान् तर्पयति इति 'ओम्'।

अपने भक्तों को तृप्त करने वाला होने से 'ओम्' है।

६. **अवगम अर्थ में**–अवति अवगच्छति सर्वेषां हृदयस्थभावान इति 'ओम्'। समस्त प्राणियों को या उनके भावों को जानने वाला होने से।

७. **प्रवेश अर्थ में**–अवति सूक्ष्मत्वात्सर्वत्र प्रविशति इति 'ओम्'। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर उसी में वह प्रवेश कर गया, प्रवेश करने वाला होने से।

८. **श्रवण अर्थ में**–अवति कर्णाभ्यां विनैवसर्वं शृणोति, स्वभक्तान् प्रार्थनाः शृणोति इति 'ओम्'। वह परमात्मा बिना कान के ही श्रवण कर लेता है, या अपने भक्तों की प्रार्थना को सुनता है, अतः 'ओम्' है।

९. **स्वाम्यर्भ में**–अवति सर्वेषामुपरि आधिपत्यङ्करोति इति 'ओम्' सम्पूर्ण विश्व के ऊपर उसका आधिपत्य होने से शासन करनेवाला होने से।

१०. **याचन अर्थ में**–अवति याचति भक्ताः एतम् इति 'ओम्'। भक्त परमात्मा से याचना करते है अतः ओम् है।

११. **क्रिया अर्थ में**–अवति संसार करोति इति 'ओम्'। संसार की सृष्टि करनेवाला होने से।

१२. **इच्छा अर्थ में**–अवति इच्छति एकस्मात् नानाभवितुमिति 'ओम्'। एक से अनेक होने की इच्छावाला होने से। "एकोऽहं बहूस्याम् प्रजायेय"।

१३. **दीप्ति अर्थ में**–अवति दीप्यति इति 'ओम्'। ज्ञानस्वरूप होने के कारण स्वतः प्रकाशित होने वाला होने से।

१४. **वाप्ति अर्थ में**–अवति सूमक्ष्वात् अयोगत्वाद्वा आत्मानं न दशर्यति इति 'ओम्'। अणु-अणु में व्याप्त होने से सूक्ष्म होने के कारण अथवा इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य न होने से 'ओम्' है।

१५. **आलिङ्गन अर्थ में**–अवति आलिङ्गति सर्वान् इति 'ओम्' अपनी व्यापकता के कारण सबको आलिङ्गन करने वाला होने से।

१६. **हिंसा अर्थ में**–अवति मृत्युरूपेण अभक्तान् हिंसति इति 'ओम्'। सबके हितैषी होते हुए भी दुष्टों को उनके पाप के नाश के लिए मृत्यु रूप से या दण्ड रूप से हिंसा करता हुआ सा प्रतीत होनेवाले।

१७. **दान अर्थ में**–अवति ज्ञानं ददाति साधकेभ्य इति 'ओम्'। साधकों को, ज्ञान दान करने वाला होने-से।

१८. **भाग अर्थ में**–अवति भाग करोति इति 'ओम्'। भाग करनेवाला होने से बाँटनेवाला होने से।

१९. **वृद्धि अर्थ में**–अवति सृष्टि वर्द्धयति इति 'ओम्' सृष्टि का पोषक होने-से।

तीन व्याहतियाँ (भूः भुवः स्वः)

याज्ञवल्क्य जी ने कहा है—"प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत् व्याहृतिस्तटनन्तरम्" पहले 'ॐ' का प्रयोग पहले करके फिर व्याहतियों का उच्चारण करे। व्याहतियों के अन्दर अनेक रहस्य निहित है। ये व्याहतियाँ क्रमशः सर्जक, पालक एवं संहारक तत्त्व का संकेत करती हैं। ये अग्नि तत्त्व, वायु तत्व एवं जल तत्व की ओर भी संकेत करती हैं। अग्नि के तेजस्वी होने के कारण इसकी उपासना से साधक में तेजस्विता आती है। वायुतत्व का द्योतक होने से गतिशीलता अर्थात् ज्ञान

की प्राप्ति होती है, असंगता का बोध होता है, तथा तृतीया 'स्वः' जल तत्व का द्योतक होने से शीतलता शांतिप्रयता का आविर्भाव होता है। भू: के ऋषि अत्रि हैं, भुवः के भृगु एव 'स्वः' के कृत्स ऋषि हैं। क्रमशः इनके गायत्री छन्द, उष्णिक् छन्द तथा अनुष्टुप छन्द है।

भुर्भुवः स्वस्तथा पूर्व स्वयमेव स्वयम्भुवाः।
व्याहृताज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयाः स्मृताः ।। (यो०याज्ञ०)

तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतः सिद्धं परं ब्रह्मोच्यते। (शाङ्कर भाष्य)
तदिति अण्ययं परोक्षार्थे।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। (गी० १७/२३)

ओम् तत्सद् इति एष निर्देशो निर्दिश्यते अनेन इति निर्देशः त्रिविधो नामनिर्देशो ब्रह्मणः स्मृतः चिन्तितो वेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिः। (शाङ्करभाष्य)

'सवितुः' पद का अर्थ—

सवितुरिति सृष्टि स्थिति लय लक्षणकस्यवाचकः।
प्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमस्याछिष्ठानं लक्ष्यते। (शाङ्करभाष्य)

संरक्षिता च भूतानां सविता चततः सविता स्मृताः। (व्र.यो.यो.)

अर्थ—सृष्टि से पूर्व ब्रह्माजी ने स्वयं ज्ञान देह-से 'भूर्भुवः स्वः'' कहा, अतः इसका नाम व्याहति कहा गया।

'तत्' शब्द का अर्थ—तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतः सिद्धं परं ब्रह्मोच्यते। (शाङ्कर भाष्य)

तत् शब्द के द्वारा प्रत्यग्भूत (प्रत्यगात्मरूप) स्वतः सिद्ध ब्रह्म कहा जाता है।

अर्थ—तत् यह पद् अव्यय है, जो परोक्षार्थ में प्रयुक्त होता है।

गीता में कहा गया है—

अर्थ—ॐ, तत् सत्—इस तरह तीन प्रकार से यह सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के नाम का निर्देश है।

अर्थ—'सवितुः यह सृष्टि, स्थिति एवं लय के स्वरूप का वाचक है। समस्त प्रपञ्च के द्वैतविभ्रम के अधिष्ठान को लक्षित करता है। सवनात् सविता' (मैत्र्युपनिषद्)

समस्त जगत् का पालन करने वाला होने-से सविता है।

'समस्त प्राणियों की रक्षा करने से सविता नाम पड़ा।

परोऽसौ सविता साक्षादेनो निर्हरणाय च ।
परो रजस इत्यादि परं ब्रह्म सनातनम् ।।
वरेण्यं सर्वतेजोम्यो श्रेष्ठं वै परमं पदम् ।
वरेण्यमाश्रयणीयम्'' (विद्यारण्यस्वामी)
''वरणीयम् निरतिशयानन्दम्'' (शाङ्करभाष्य)
एको देवः सर्वभूतेषु गुढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। (श्वेताश्वतरः)

शाङ्करभाष्य—एकोदेव इति एकोऽद्वितीयो देवो द्योतनस्वभावः सर्वभूतेषु गूढः सर्वप्राणिषु संवृतः । सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वरूपभूत इत्यर्थः । कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता। सर्वभूताधिवासः सर्वप्राणिषु वसतीत्यर्थः । सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा । ''साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्'' (पा०सू० ५/२/९१) इति स्मरणात् । चेता चेतयिता । केवलोनिरुपाधिकः ।
निर्गुण सत्वादिगुणरहितः ।।११।।

ध्यानेन लभते मोक्षं मोक्षेण लभतेसुखम् ।
सुखेनानन्द वृद्धिः स्यादानन्दो ब्रह्मविग्रहः ।।
''आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्''

अर्थ—पापों के निर्हरण के लिए (दूर करने के लिए) रजोगुण से परे परमब्रह्मसनातनस्वरूप साक्षात् जो दिव्यगुणयुक्ता सर्वश्रेष्ठ देवी है, वह सविता स्वरूपा है। (गायत्री रहस्य २७)

अर्थ—सम्पूर्ण तेजों से श्रेष्ठ परमात्मा का परम पद हि वरणीय है।

अर्थ—जो आश्रय लेन योग्य हो।

अर्थ—निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्मा हि वरण करने योग्य है।

'भर्गः' का अर्थ—सम्पूर्ण पापों के दूर करने में समर्थ तेज का।

भर्गस्तेजः—प्रकाशः, प्रकाशो ज्ञानम्। यन्निरूपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थ विज्ञानं स्वरूपं तदभर्गः ।

'भर्ग' का अर्थ तेज है; प्रकाशवान है, प्रकाश का अर्थ ज्ञान है। जो सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित, निष्पाप, निर्गुण, विशुद्ध सम्पूर्ण दोष विवर्जित, परिपक्व परमार्थ विज्ञान स्वरूप है, उसे हि 'भर्ग' कहते हैं।

'देवस्य' का अर्थ–दिव्य प्रकाशस्वरूप। दीव्यति नदयतीति देवः

जो आनन्द प्रदान करता है, वह देव है।

अर्थ–एक ही देव समस्त भूतों में (प्राणियों में) गुप्त रूप से स्थित है। वह सर्वव्यापी, समस्त भूतों का स्वात्मा है, उनसे अलग नहीं है। सम्पूर्ण कर्मों का अधिष्ठाता (मालिक) है। समस्त जीवों में रहता है। सबका साक्षी, चेतनता देनेवाला, उपधारहित एवं निर्गुण है।

'धीमहि' का अर्थ–हम ध्यान करते हैं।

अग्निपुराण में आता है—'अहं ब्रह्मेति धीमहि'। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस तरह ध्यान करता हूँ।

ध्यान का फल अर्थ–ध्यान से मोक्ष का प्राप्ति होती है। मोक्ष से सुख लाभ होता है। सुख-से आनन्द की वृद्धि होती है और आनन्द ब्रह्म की स्वरूप है।

धियः का अर्थ–बुद्धि वृत्तियों को।

धी शब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनों का वाग्वचनश्च। (सायग)

धी शब्द बुद्धिवाची, कर्मवाची तथा वाग्वाची है।

"धीधीरणावती बुद्धि" धारणाशक्ति युक्त बुद्धि को 'धी' कहते हैं।

'यः' अर्थ–जो परमात्मा।

'यत्सत्यज्ञानादि लक्षणम्' (विद्यारणयमुनि) यत् (यः) सत्यज्ञानादि लक्षण (स्वरूप) ब्रह्म है।

यः सविता देवः (सायण) 'यः' सविता देवता का वाचक है, जो प्रकाशस्वरूप है।

'नः' का अर्थ–हम सब उपासकों की।

नः अस्माकम (षष्ठीबहुवचनस्य)

प्रचोदयात् का अर्थ–शुभ कर्मों, विचारों की ओर प्रवृत करें।

प्रचोदयात्–प्रेरयत्। प्रचोदयात् अर्थात् प्रेरणा प्रदान करें। चुद् प्रेरणे प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति। चुद् धातु प्रेरणा करने के अर्थ में है। प्रकर्ष रूप से (सम्यक् प्रकार से) हमारी बुद्धि को शुभ कर्म धमादि की ओर प्रेरित करें।

इस तरह गायत्री मन्त्र में अपार ज्ञान, सामर्थ्य रहस्य भरा पड़ा है। गायत्री को वेदों की माता भी कहा गया है।

अर्थ–मेरे प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर हैं। मुझमें समस्त विश्व व्याप्त है, मैं सम्पूर्ण वेदों की माता हूँ तथा सम्पूर्ण पदों से अलङ्कृत हूँ।

अर्थ–वेदमाता गायत्री के केवल जप करने मात्र से ब्राह्मणत्व सुरक्षित रह जाता है।

अष्टाक्षरा स्थिता चाहं जगद्व्याप्तं मया त्विदम।
माताऽहं सर्ववेदानां पदैः सर्वैरलङ्कृता।। (पद्मपुराण)

गायत्र्या वेदमातुस्तु जपमात्रेण केवलम्।
ब्राह्मण्यं सुसिथर .... ।। (माकेण्डेयस्मृती)
ब्रह्महत्यादि पापानि गुरुणि वा लघुनिच।
नाशयत्यचिरेणैव गायत्री जापको द्विज।। (प०पु०)
''किं किं न दद्याद् गायत्री सम्यगेवमुपासिता''
व्याहतियाँ–भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्
ऋषि–अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गौतम, कश्यप अंगिरा

सावित्र्याः

विश्वामित्रोमुनिश्छन्दोगायत्रंदेवता रविः।
.... शिव एवाधिदेवता।।
जन्मान्तर कृतोपसमया सूर्यपदं प्राप्तो मण्डलाभि मानी देवः।

सम्बन्ध–गायत्री मन्त्र के जप से ब्रह्महत्यादि बड़े-से बड़ा पाप भी तत्काल नष्ट हो जाता है। पद्मपुराण में कहा गया है—

गायत्री मन्त्र का जप करने वाला ब्राह्मण अपने गुरु, लघु, ब्रह्महत्यादि सम्पूर्ण पापों को अविलम्ब ही नाश कर देता है।

अर्थ–सम्यक् प्रकार-से जो द्विज गायत्री की उपासना करता है, गायत्री माता उसे क्या-क्या नहीं प्रदान करती ? अर्थात् सबकुछ देती है।

सम्बन्ध–सात व्याहतियों सहित उनके ऋषियों का वर्णन एवं गायत्री के ऋषि तथा अधिदेवता का नाम।

अर्थ–गायत्री के विश्वामित्र मुनि (ऋषि), गायत्री छंद, सूर्य देवता और शिव अधिदेवता हैं।

अर्थ–जन्मान्तर में किये गए उपासना के फलस्वरूप सूर्यपद को प्राप्त करनेवाला सूर्यमण्डल का अभिमानी देवता रवि है।

अर्थ–उस जीव के अन्तर्यामिरूप-से वर्तमान परशिव इस मन्त्र के अधिदेवता हैं।

अर्थ–जपकाल में गायत्री को त्रिपदा (तीन पादों वाली) तथा पूजा के समय चार पदां वाली जानना चाहिये।

ॐ आपो ज्योति गायत्री का उत्तमाङ्ग शिर है।

गायत्री को तीन पाद् छह पेट तथा पाँच शिर वाली देवी जानना चाहिये। तीन वेद इसके

अन्तर्यामिरूपेण तस्यान्तर्वतमानः परशिवः । (सोऽस्य मन्त्रस्याधिदेवता)

आपो ज्योतिरसः–	जपे सा त्रिपदा ज्ञेया पूजायां सा चतुष्पदा ।।
सोमाग्न्योस्तेजः–	ओमापो ज्योतिरित्येतद्गायत्र्याः शिर उत्तमम् ।
अमृतम् । ब्रह्म ।–	सावित्री त्रिपदा ज्ञेया षट्कुक्षि पञ्चशीर्षका ।
भूर्भुवः स्वरोम्	

"अष्टादशपुराजानि नाभिः" (सू.सं. (मूल) ४/६/१३)

ब्राह्मं पुराणां प्रथमं द्वितीयं पाद्ममुच्यते ।
तृतीयं वैष्णवं प्रोक्तं चतुर्थं शैवमुच्यते ।।
ततो भागवतं प्रोक्तं भविष्याख्यं ततः परम् ।
सप्तमं नारदीयञ्च मार्कण्डेयं तथाऽष्टमम् ।।
आग्नेयं नवमं पश्चाद् ब्रह्मवैवर्तमेव च ।
ततौ लैङ्गं वराहञ्च ततः स्कान्दमनुत्तमम् ।।
वामनारण्यं ततः कौर्मं मात्स्यं तत्परमुच्यते ।
गरुडाख्यं ततः प्रोक्तं ब्रह्माण्डं तत्परं विदुः ।। (सू.सं. १/१)

तीन पाद, पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊपर नीचे–ये छहों दिशाएँ गायत्री के षटकुक्षि जानना चाहिये ।

'सोमाग्न्योस्तेजः' इतना अंश छोड़कर ।

'ॐ आपोज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्" यह मन्त्र (ते०आ०) का है, इसका प्रयोग प्राणायाम के समय किया जाता है ।

मन्त्रार्थ–ॐ सच्चिनान्दस्वरूप जल रूप से जगत् का पोषण करने वाला ज्योतिस्वरूप, रसरूप, अमृतमय, तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्गात्मक ब्रह्म है ।

"शिक्षाद्यङ्गानि शीर्षाणि" (सू.स. ४/६)

शिक्षा, कल्पादि वेदाङ्ग देवी के सिर हैं । श्लोक में पञ्चशीर्षका कहा गया है, किन्तु अङ्गों को सिर कहा है । वेदाङ्ग छह हैं । टीका या मूल में भी पाँच शिर का उल्लेख नहीं है, अतः जिज्ञासु स्वयं अन्वेषण करें ।

अठारह पुराण गायत्री देवी की नाभि हैं ।

१. ब्रह्मपुराण,	२. पद्मपुराण,	३. विष्णुपुराण,
४. शिवपुराण,	५. भागवत पुराण,	६. भविष्य पुराण,
७. नारद पुराण,	८. मार्कण्डेय पुराण,	९. अग्नि पुराण,

मननत्राणरूपत्वान्मन्त्र इत्यभिशब्दितः ।
मातृका परमा देवी मन्त्रमाता महेश्वरी ।।
अस्मादाद्यान्महामन्त्रादाविर्भूता स्वभावतः ।।
तस्माच्छ्रीमातृका शुद्धा चाऽऽद्यमन्त्रात्मिकी भवेत् ।

जगच्छरीरं । आकाशमुदरान्तरम् ।
स्तनौ छन्दांसि । हृदयं धर्मशास्त्रम् ।
बाहवोन्यायशास्त्रं, कर्णौसांख्यद्वयन्तथा ।
वक्त्रमग्निः । मीमांसा लक्षणम् ।
अथर्ववेदः चेष्टा ।
ब्रह्ममूर्धा, शिखारुद्रो, विष्णुरात्मा ।
सूक्ष्मशरीरं वेदान्तशास्त्रम् ।
अन्तर्यामी शिवः साक्षात् । (सू.सं. ४/६)

---

१०. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ११. लिंग पुराण, १२. वराह पुराण,
१३. स्कन्द पुराण, १४. वामन पुराण, १५. कुर्मपुराण,
१६. मत्स्य पुराण, १७. गरुड़ पुराण, १८. ब्रह्मण्डपुराण ।

सम्बन्ध—मन्त्र का तात्पर्य एवं मातृका देवी की उत्पत्ति का कथन।

अर्थ—स्वाभाविकरूप से ओङ्काररूप में स्थित अहम्' और 'सः' ये दो अक्षर पहला मंत्र है, जो सभी मन्त्रों का कारण है। इसका मनन करने-से व्यक्ति इस संसार सागर-से त्राण पा जाता है अतः इसे मन्त्र कहते हैं।

अन्य सभी मन्त्रों की माता (जननी) दिव्यगुण युक्ता, श्रेष्ठ महेश्वरी मातृका इस प्रथम महामंत्र से ही प्रकट हुई थी।

अर्थ—भौतिक जगत् (पृथिव्यादि) देवी का स्थूल शरीर है। आकाश उदर का अन्तमार्ग है। गायत्री आदि छन्द उसके स्तन है। धर्मशास्त्र उसका हृदय है। न्याय शास्त्र दोनों भुजायें हैं। सेश्वर एवं निरीश्वर ये दोनों सांख्य शास्त्र इसके कर्ण हैं। अग्नि मुख है। मीमांसा उसका असाधारण (व्यावर्तक) लक्षण (चिह्न) है। अथर्ववेद उसकी चेष्टा है। ब्रह्मा मूर्धा है, शिखा रुद्र है, तथा विष्णु आत्मा है। वेदान्तशास्त्र उसका सूक्ष्म शरीर है।

सावित्री प्रतिलोमा स्यादभिचारेषु कर्मसु ।
मारणे वर्णशः शत्रोर्ब्रह्मास्त्रं प्रतिलोमतः ।। (सू.सं. ४/६)
प्रतिलोमपाठो वर्णानामस्त्रमाहुर्मनीषिणः'' (आचार्य इति टीका)
आपोज्योति रस इति सोमाग्न्योस्तेज उच्यते ।
तदात्मकं जगत्सर्वं रसस्तेजोऽद्वयात्मकम् ।।
अमृतन्तदनाशित्वाद् बृहत्वाद् ब्रह्म उच्चते ।
यदानन्दात्मकं ब्रह्म सत्यज्ञानादि लक्षणम् ।।
तद्भूर्भुवः स्वरित्युक्तं सोऽहमित्योमुदाहृतम् ।
एतत्तु वेदसारस्य शिरस्त्वाच्छिर उच्यते ।। (आचायैः टीकायात्राम्)
षडक्षरं प्रवक्ष्यामि ...... ।
येन संसार विच्छित्तिर्ब्रह्मेन्द्रादिविभूतयः ।
ऋषिर्ब्रह्मास्य मन्त्रस्य गायत्रं छन्द उच्चते ।
देवताऽस्य शिवः साक्षात् सत्यज्ञानसुखादयः ।।

सम्बन्ध–गायत्री मन्त्र का मारण में प्रयोग।

अर्थ–आभिचारिक कर्मों में अपने शत्रु को नष्ट करने के लिये गायत्रीमन्त्र के अक्षरों का उलटे क्रम-से पाठ करना चाहिये। प्रतिलोम क्रम-से पाठ करने पर यह मंत्र ब्रह्मास्त्र बनकर शत्रु का नाश कर देता है।

अर्थ–मन्त्रों के अक्षरों का प्रतिलोम (विपरीत) पाठ को विद्वानों ने अस्त्र कहा है।

सम्बन्ध–आपो ज्योति रस...........मन्त्र का विवरण कारिकाओं के द्वारा।

अर्थ–"आपोज्योति रस" यह सोम तथा अग्नि का तेज कहा गया है। यह सम्पूर्ण जगत् सोम अग्नि स्वरूप एवं रस तेज अद्वयात्मक माने गये हैं। नाश न होने के कारण उसे अमृत एवं बृहद् (व्यापक) होने-से ब्रह्म कहा गया है। जो आनन्दात्मक ब्रह्म है, जिसे सत्यज्ञानादि लक्षण वाला कहा गया है, वही भूर्भुवः स्वः है और वह मैं ही हूँ। यह वेदसार का शिर (श्रेष्ठ भाग, ज्ञान भाग होने से शिर (उपनिषद्) कहा गया है।

अन्वयार्थ–षडक्षरं (छः अक्षरों वाले मन्त्र की मैं, प्रवक्ष्यामि–प्रकृष्ट रूप अर्थात् गौरवशाली था विस्तृत या सवश्रेष्ठ व्याख्या करता हूँ।

शक्तिर्माहेश्वरी सा च भुवनेशाक्षरं भवेत्।
बीजं मायाविशिष्टस्तु शिवः पूर्वोक्त लक्षणः ।। (सू.सं. ४/८)

प्रणवं प्रथमं विद्याद् द्वितीयन्तु नकारकम्।
मकारं तत्परं विद्याच्छिकारन्तु ततः परम्।।
वकारं पञ्चमं विद्याद्यकारं षष्ठमेव च।
इत्थं षडक्षरं विद्याज्जाबालोपनिषद्गतम्।। (सू.सं. ४/८)

सत्यज्ञान परानन्दस्वरूपस्य शिवस्य तु।
असंपृक्त्या शिवस्यायं शिवशब्दस्तु वाचकः ।। (सू.सं. ४/८)

अर्थ—येन—जिस षड्क्षर मन्त्र के जप करने से मुमुक्षु के, **संसारस्य** = कर्तृत्व, भोकृत्व लक्षण वाले संसार कानन का **विच्छित्तिः** = छेदन हो जाता अर्थात् आत्यन्तिक नाश हो जाता है तथा जिस मन्त्र के प्रताप से, **ब्रह्मेन्द्रादिविभूतयः** = ब्रह्म, इन्द्र आदि देवताओं ने श्रेष्ठ पद, देवोचित विभूतियो को प्राप्त किया, साधक भी तद्वत् विभूतियों का अधिकारी बन सकता है।

अस्य मन्त्रस्य—इस गायत्री मन्त्र के ऋषिः—ऋषि (गायत्रीमन्त्र के विषय में सबकुछ जाननेवाले) ब्रह्मा—ब्रह्मा हैं, छन्दः—छादनात् छन्दाः ढँकने वाला होने से छन्द है, इसके छन्द को, गायत्रम्—गायत्री, उच्चते—कहते हैं, साक्षात्सत्यज्ञानसुखाद्वयः—अपरोक्ष सच्चिदानन्दसुखस्वरूप समस्त द्वैतप्रपञ्च से रहित, **शिवः** = शिव (शेते जगद् अस्मिन् इति शिवः) अस्य—इस मन्त्र के, देवता—देवता कहे गये हैं, भुवनेशाक्षर—संवित् (ज्ञान) बोधकतया, सा-वह, माहेश्वरी—माहेश्वरी की शक्ति) देवी, **शक्तिः** = शक्ति का ज्ञापक है, च—और, पूर्वोक्त लक्षणः—पूर्वोक्त लक्षण वाले, मायाविशिष्टस्तु—मायाविशिष्ट वाचक रूप से, बीजम्—बीजस्वरूप या बीजभूत, शिवः—शिव का ज्ञापक है। (सू.स. ४/८)

षडक्षर मन्त्र का प्रथम अक्षर 'ॐ' है, द्वितीय 'न' कार है, उसके बाद 'म' कार को तृतीय अक्षर जानना चाहिए, तत् पश्चात् चतुर्थ 'श'कार को समझना चाहिए, 'वंकार पञ्चम् एवं 'य' कार का षष्ठ अक्षर जानना चाहिये।

जाबालोपनिषत् के अनुसार षडक्षर मन्त्र को इसी क्रम से जानना चाहिये।

सम्बन्ध—सत्य, ज्ञान तथा परमानन्दस्वरूप शिव जो वाङ्मनसागोचर हैं, 'यतो वाचा निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह इस श्रुति से भी यह सिद्ध है, तो पुनः किस प्रकार 'शिव' पद से उसका अभिधान सम्भव है?

अर्थ—सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और परमानन्दस्वरूप शिव का शक्ति वृत्ति से स्पर्श किये बिना ही लक्षण से 'शिव' पद उसका बोधक होता है।

"णम प्रह्वत्वे शब्दे च इत्यस्मादसुनि नमः शब्दस्य निष्पत्तिः। अस्य च प्रह्वीभावस्य पर्यवसान भूमिमाहप्रह्वता नामेति। न्यग्भावेन नमस्कर्तव्य प्रत्यासत्तिः प्रह्वत्वम्। तच्च मायया परशिवस्वरूपाद्भेदेन परिकल्पितस्य जीवस्य पुनस्तत्स्वरूपेण तादात्म्यलक्षणे सम्बन्ध विश्राम्यीत्यर्थः"।

न हेयमहितंतद्वद्वस्तुतो न प्रतीतितः।
एवं विद्यान्नकारार्थं मकारार्थ उदीर्यते ।।१।।
मकारो ममशब्दार्थो लुप्तस्त्वेकोमकारकः।
व्यावहारिक दृष्ट्याऽयं नमस्कारः प्रकीर्त्यते ।।२।।
तस्माच्चतुर्थीशब्दस्तु प्रोच्यतेर्नाह वस्तुतः ।।३।।

सम्बन्ध—नमः पद का रहस्य न—उपादेय हेयौ, म—मम्।

अर्थ—परमार्थत् न कुछ ग्राह्य (हित) है, और न त्यास्य (अहित) है।

सम्बन्धः—'नमः' पद का तात्पर्य।

टीकार्थ—पहला अर्थ—'नमः शब्द नमस्कार का वाचक है। णम धातु प्रह्वता (विनम्र होने, झुकने) तथा शब्द करने अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसकी निष्पत्ति असुन् प्रत्यय करन से होती है। इस प्रह्वीभाव (नमन होने के भाव) की पर्यवसान भूमि को प्रह्वता कहते हैं अर्थात् न्यग्भाव से (दीनभाव से) अत्यन्त समीपता से नमस्कार करना प्रहत्व है अर्थात् प्रणाम करना प्रह्वता है; और वह माया के द्वारा परमशिव के स्वरूप से भेददृष्टया परिकल्पित जीव का पुनः उसके शिवस्वरूप के साथ अभेद सम्बन्ध से, तादात्म्य हो जाना ही प्रह्वता है, वास्तविक रूप से नमस्कार करने का यही तात्पर्य है, इसी अर्थ में लक्षण सम्बन्ध में प्रह्वता नमस्कार की विश्रान्ति होती है। व्यक्ति ईश्वर को, गुरुको माता-पिता को अपने ज्येष्ठ पुरुषों को नमस्कार तो करता है, लेकिन उसका वास्तविक तात्पर्य मृत्यु पर्यन्त भी लाखों में कोई एक ही समझता है।

'नमः शब्द का दूसरा अर्थ—जीव शिव से भिन्न भा समान होता है, इस प्रतीति का कारण है, माया। भेद वास्तविक नहीं है।

वास्तविक दृष्टि से शिव सम्पूर्ण देहधारियों का नित्य सिद्ध अपरोक्ष आत्मा ही है।

'नमः' शब्द का तीसरा अर्थ है—'न' शब्द का अर्थ है साधक के लिए वास्तविक दृष्टि-से (परमार्थतः) न कुछ ग्राह्य (हितकारक) है और न कुछ त्याज्य (अहितकर)। प्रतीति के विषय होने से हित-अहित मिथ्या है, वास्तविक नहीं ॥१॥

'म'कार का अर्थ कहा जा रहा है—'म' शब्द यहाँ (मम) मेरा, इस अर्थ में उक्त हुआ है, अन्तिम मकार का छान्दस लोप हुआ है।

द्वयेक्षरन्तु भवेन्मृत्यु त्र्यक्षरं ब्रह्मशाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्यु न ममेति च शाश्वतम् ।।

ओंकार शब्दः सर्वार्थः सर्वार्थः शिव एव हि ।
तस्माच्छिवस्य पूर्णस्य प्रणवो वाचकः स्मृतः ।। (सू.सं. ४/८)

यद्यदनुविद्धं भासते तत्तत्र परिकल्पितम् । यथा सर्पधारादयो रज्ज्वा इदमंशे तथैव सदनुविद्धं सर्वं दश्यं भासते ।

तस्मात्सद्रुपे ब्रह्मणि परिकल्पितस्य च भोक्तृभोग्यात्मकस्याऽऽरोप्यस्यप्रपञ्चस्याधिष्ठान-याथात्म्यज्ञानेन विलये सति स्वप्रतिष्ठमद्वितीयं परशिव-स्वरूपमेवावतिष्ठत इति । श्रुतिश्च 'आत्मैवेदं सर्वम्' इदमं सर्वं यदयमात्मा इत्यादिना परशिवस्य सार्वात्म्यमाह । यस्मादसौ सर्वार्थात्मकस्तस्मादेव सर्वव-स्त्वमासकः प्रणवः परिपूर्णस्य वाचको जातः ।

नकार युक्त मकार का प्रणाम के अर्थ में प्रयोग शिष्ट परम्परा है, इस कारण से 'नमः' का नमस्कार अर्थ स्वीकार कर 'शिव' शब्द का व्याकरण सम्मत चतुर्थ्यन्त प्रयोग किया गया है, तथापि यहाँ प्रणामार्थक 'नमः' शब्द विवक्षित नहीं है, बल्कि 'न मम' यही विवक्षित है ।।३।।

महाभारत में कहा गया है—

दो अक्षरों का 'मम' (मेरा) यही मृत्यु है, और तीन अक्षरों का 'न मम' मेरा कुछ नहीं यही शाश्वत ब्रह्म है। जो मेरा-मेरा करता है। घर मेरा, धन मेरा, पुत्र मेरा, बुद्धि मेरी शरीर मेरा वह मृत्यु-से मृत्यु को प्राप्त होता है, और जो मेरा कुछ नहीं, न धन, न जन, न मन, न तन, न भवन वह शाश्वत 'ब्रह्म' को प्राप्त कर लेता है।

सम्बन्ध–'ओङ्कार' तात्पर्य।

अन्वयार्थ–सर्वार्थः = सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च, **ओंकारशब्दः** = ओंकार शब्द वाच्य है, **हि** = तथा निश्चय, **एव** = ही, **शिवः** = शिव, **सर्वार्थः** = सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चरूप हैं, **तस्मात्** = इसलिए, **पूर्णस्य** = पूर्ण, **शिवस्य** = शिव का, **वाचकः** = वाचक (शक्यार्थबोधक) **प्रणवः** = प्रणव (ओंकार) को, **स्मृतः** = कहा गया है।

श्लोकार्थ–सम्पूर्ण ज्ञात, अज्ञात वस्तु के अवभास्ति होने-से पूर्व ही उपपादित (गृहीत) होने से ओङ्कार के द्वारा इस दृश्यमान प्रपञ्च को सर्वार्थ कह दिया गया। ओङ्कार वाचक है, और जगत् वाच्य है। प्रणव के द्वारा प्रतिपादित यह "सर्व अर्थ" जगत् वह (पूर्वोक्त) शिव है अतः न कुछ हेय है, और न उपादेय।

तात्पर्य है कि—जो-जो भी अनुविद्ध (अनुस्यूत) मिला हुआ सा, आरोपित हुआ भासता है, प्रकाशित होता, वह सब का सब कल्पित होता है।

विज्ञानवादिबौद्ध नये–विशुद्धज्ञानसंतानोदयो मुक्तिः ।
सांवृतस्य विषयोपत्लवस्य विद्यया निवृन्तौ सत्याम् ।।
धीसंततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा । (सू.सं. टीका ४/८)

जैसे—सर्प आदि रज्जु के इदम् अंश में भासित होता है। उसी प्रकार सत् में अनुविद्ध (मिश्रित) यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च भासित होता है, अत: सद्रुप ब्रह्म में भोक्ता एवं भोग्यात्मक रूप से कल्पित, आरोपित प्रपञ्च के अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान के द्वारा बाध हो जाने पर अपने स्वरूप के रूप में, अद्वितीय परमशिव का स्वरूप ही अवशेष रहता है।

श्रुति भी कहती है—''आत्मैवेदं सर्वम्' आत्मा ही इंदतत्वेन प्रतीयमान् सर्व (जगत्) है, तथा 'इदमं सर्वं यद् अयमात्मा'' यह सम्पूर्ण जो है, यह आत्मा ही है।

परमशिव की सर्वरूपता को कहते हैं—जिस कारण से वह सर्वार्थात्मक है, इस कारण-से हि वह सर्ववस्तु का अवभासक प्रणव है, जो परिपूर्ण शिव का वाचक है।

सम्बन्ध–बौद्ध दर्शन के चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रन्तिक तथा वैभाषिक।

इन चारों क्रमशः शून्यवाद, विज्ञानवाद, बाह्यार्थानुमेयवाद एवं ब्राह्यार्थ प्रत्यक्ष वाद को लेकर मुक्ति के विषय में विचार द्वारा अपना अपना मत स्थापित किया हैं—माध्यमिक का सर्वशून्यत्व-वाद, योगाचार का बाह्यार्थ शून्यत्ववाद, सौत्रान्तिक का बाह्यार्थानुमेयत्ववाद तथा वैभाषिक का बाह्यार्थ प्रत्यक्षत्ववाद है।

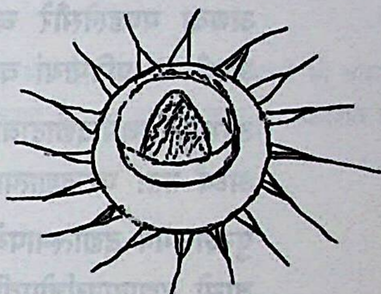
जैसे—ब्रह्माजी के द्वारा उपदिष्ट होने पर देवता दानव तथा मानवों ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार उस 'द' के दमन, दया तथा दान अर्थ समझा वैसे ही एक ही भगवान् बुद्ध ने अपने सभी शिष्यों को उपदेश दिया किन्तु उन लोगों ने स्व-स्व भावना के अनुसार उनके उपदेश का अपनी बुद्धि से विचार कर स्वतन्त्र वाद की कल्पना कर ली; तदनुसार मुक्ति का स्वरूप निर्धारित किया। सम्प्रति विज्ञानवादी (योगाचार तदनुसार बाह्यार्थ शून्यवादी) के मत में मुक्ति का स्वरूप।

अर्थ–विशुद्धविज्ञान द्वारा संतान का उदय मुक्ति है। संतान का तात्पर्य है; नानव्यक्तियों का नैरन्तर्य भाव-से वर्तन (स्थित होना)। और वह अनुभव दशा में विज्ञानविषयक धी से दीपज्वाला के समान एकत्व रूप से बोध होना है; और वह मुक्ति अर्थात् विशुद्धविज्ञान से नैरन्तर्येण स्थित होना।

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु सोमसूर्याग्निमण्डले।
विद्युल्लेख कल्याणं ज्वलन्तं वह्निरूपिणम्।।
शिवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं लक्षाणां षट् समाहितः। (सू.सं. ४/८)

तात्पर्यदीपिका—हृदम्बुजमध्ये पीठं परिकल्प्य तन्मध्ये सूर्यसोमाग्नि-मण्डलानि यथाक्रमं द्वादशषोडशदशकलात्मकान्युत्तरोत्तरमान्तरत्वेन संचिन्तनीयानि। (टीका)

मध्येऽनन्तं पद्ममस्मिंश्च सूर्यं सोमं वह्नि
तारवर्णैर्विभक्तैः। (प्रपञ्चसारस्य)



सांवृत्तस्य = एकत्रित हुए, विषयोपप्लपस्य = नाना विषयजन्य दुःखों का विद्या के द्वारा निवृत होने पर होता है। पश्चात् निर्विषयोपरागाधीसंतति स्फुरित होती है।

सम्बन्ध—षडक्षर मन्त्र का ध्यान सहित जप विधि।

श्लोकार्थ—हृदय कमल के मध्य में पीठ (आसन स्वरूप) की परिकल्पना कर के इसपर सूर्य, सोम तथा अग्नि मण्डल का चिन्तन करे। यहाँ श्लोक का क्रम विवक्षित नहीं है। पहले सूर्यमण्ड, उसके भीतर चंन्द्रमण्डल तथा उसके (चन्द्रमण्ड के) अन्दर वह्निमण्डल का चिन्तन करे।

सूर्य को द्वादशकलात्मक, सोम षोडशकलात्मक तथा अग्नि को दशकलात्मक चिन्तन करे। बिल्कुल भीतरी भाग में विद्युत् लेखा (रेखा) की भाँति जलती हुई वह्नि के रूपमें कल्याणस्वरूप भगवान् शिव का ध्यान करता हुआ, छह लाख षडक्षर मन्त्र का जप करे।

एक लक्ष मन्त्र से तर्पण तथा एक हजार से आहुति प्रदान करनी चाहिये। हवन घृत, दुग्ध अथवा पलाश के पुष्पों से करनी चाहिये। एवं यह मन्त्र सिद्ध होकर मुक्ति-मुक्ति प्रदाता हो जाता है। अथवा परिच्छिन्न भाव का परित्याग कर के 'शिवोऽहम्' मैं साक्षात् शिव हूँ' ऐसा चिन्तन करता हुआ मन्त्र को जपे, इस तरह भी यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है।

अर्थ—मध्य में अनन्त पद्म (उपलक्षण से सहस्रदल वाला) इसमें सूर्य, सोम तथा वह्नि को अलग-अलग तार (प्रणव द्वारा) वर्णों से वेष्टित देखे। (टीकायां प्रपञ्चसारस्य)

अथवा साम्बमीशानं श्रीसदाशिवमेव च।
नृत्यमानं तथा देवं ध्यात्वा मन्त्रन्तु साधयेत्॥
अथवा प्राकृतं भावं स्वीयमुत्सृज्य सर्वदा।
शिवोऽहमिति संचिन्त्य साधेयदिदमुत्तमम्॥ (सू.सं. ४/८)

हृपद्मकर्णिकामध्ये मन्त्रेणानेन पूजयेत्।
अथवा मण्डलेसौरे चन्द्रमण्डलकेऽथवा।
अग्नौ वा प्रतिमायां वा शिवं नित्यं प्रपूजयेत्॥

आसनं प्रथमन्दद्यादावाहनमनन्तरम्।
अर्घ्यं ततः परन्दद्यात्पाद्यं चैवः ततः परम्॥

पुनशचमनं दद्यात्स्नापयेतु ततः परम्।
वासो दद्यात्पुनर्यज्ञोपवीतं भूषणानि च॥

गन्धं पुष्पन्तथा धूपन्दीपमोदनमेव च।
माल्यमालेपनं दद्यान्नमस्कृत्य विसर्जयेत्।
षडक्षरेण मन्त्रेण सर्वं कुर्याद्वि चक्षणः॥ (सू.सं. ४/८)

अर्थ—अथवा नाचते हुए साम्बसदाशिव का ध्यान करता हुआ मन्त्र की साधना करे, इस प्रकार भी यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है।

अपने प्राकृत भाव (यह देह मैं हूँ, कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी हूँ) का उत्सर्जन कर सर्वदा कल्याणरूप 'शिवऽहम्' ऐसा निश्चय कर मन्त्र का साधन करे।

अर्थ—हृदय कमल के मध्य मे स्थित भगवान् शिव का इस मन्त्र से पूजन करे, अथवा सूर्य में, सोम में, या फिर अग्नि मण्डल में उनका अर्चन करे। साधक शिवलिङ्ग में नित्य अच्छी प्रकार से उनकी आराधना करे।

साधक को अठारह उपचारों से उनकी आधारण करनी चाहिये; उसका क्रम है—सर्वप्रथम आसन दे, उसके बाद आवाहन करे, पुनः क्रमेण अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, माला, आलेपन, नमस्कार और अन्त में विसर्जन करे।

''आवाहनमभिव्यक्तिः व्यत्त्यभावो विसर्जनम्'' (टीका)

सद्धीदं सर्वं सत्सदिति। चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च। (श्रु.टी.)

परात्पतरं तत्त्वं ध्येयं मूर्त्यात्मनैव तु। (सू.सं. ४/८)

अर्थ—उनकी अभिव्यक्ति (प्रकाश होगा) आवाहन है, तथा व्यत्त्यभाव (अप्रकट होना) यही विसर्जन है।

सम्बन्ध—सत् चित् ही यह सम्पूर्ण विश्व है।

इदं रूप से दृश्यमान् सर्वं (सम्पूर्ण विश्व) सत् है, सत है, सत है क्योंकि पहले ही बताया गया है, इदं शिव है, शिव सर्व है, शिव का वाचक प्रणव है, इदं रूप से ज्ञान हि प्रकाशित हो रहा है, प्रकाशित हो रहा है।

भेद का, द्वैत का सर्वथा निषेध है।

सम्बन्ध—ध्यान यज्ञ का वर्णन।

परः = विन्दुः, **परतरा** = माया, **ततोऽपि परतमः** = शिवः।

अर्थ—अव्यक्त से भी सूक्ष्म परतरा माया है, उससे भी पर (सूक्ष्म) तत्त्व परशिव हैं वही ध्येय है, किन्तु किसी उपाधि के विना उस परम तत्त्व का ध्यान करना सम्भव नहीं। अतः मनकी सहायता से किसी उपाधि (मूर्ति) के द्वारा ही वह ध्यातव्य है उस के यथार्थ स्वरूप से नहीं। अग्नि के प्रकट हुए विना काष्ठस्थ वह्नि का दर्शन ज्ञानदृष्ट्यतिरिक्त किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं।

वह तत्त्व साक्षी होने के कारण स्वसाक्ष्य चित का विषय ही नहीं है।

श्रुति कहती है—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन" इन्द्रियाँ पराग्दर्शी है, सुतरा प्रत्यग् आत्मा को विषय नहीं कर सकती, ज्ञानस्वरूप होने-से स्वयं विषयी होती है, अतः नित्य अविषय है।

विशेष—ध्यानं नाम शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः श्रोत्रादीनि करणानि मनसि उपसंहृत्य मनः च प्रत्यक् चेतयितरि एकाग्रतया यत् चिन्तनं तद् ध्यानम्। तथा 'ध्यायतीव बकः' 'ध्यायतीव पृथिवी ध्यायन्तीव पर्वताः' (छा.उ. ७/६/१) इति उपमोपादानात् तैलधारावत् संततः अविच्छिन्नप्रत्ययो ध्यानम्।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन विषयों से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को हटाकर उन सबका मन में निरोध करके तथा मन को प्रत्यक् चेतयिता में लगाकर एकाग्र-भाव जो उसका चिन्तन किया जाता है, वह ध्यान है। तद्यथा वह इस प्रकार है, जैसे—बगुला 'ध्यान-सा करता है' पृथिवी ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम ।। (सूत्र ३/२)

तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैक तानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।।२।। (भाष्य)

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्यानिरालम्बतयास्थितिः ।

ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ।।१२३।। (अपरोक्षा०)

करती है, और जैसे—पर्वत ध्यान करते हैं। इस प्रकार की उपमा के देने से यह प्रतीत होता कि तैलधारा की तरह सतत् (निरन्तर) अविच्छिन्न रूप-से चिन्तन करना ही ध्यान कहलाता है।

(ध्यै चिन्तायाम्) ध्यानम्। चिन्तनम्।

ध्यान की प्रक्रिया, स्वरूप एवं उद्देश्य भी वेदान्ती, भक्त, कर्मयोगी, सांख्यवादी, धर्मावलम्बी, बौद्ध, जैन चार्वाक आदि के मत में अलग-अलग होती है।

योग दर्शन के अनुसार—

सूत्रार्थ–तत्र = धारणा के विषयिभूत पदार्थ में अर्थात् ध्येय वस्तु में। **प्रत्ययस्य** = ज्ञानका (वृत्तिका), **या** = जो, **एकतानता** = तैलधारा की तरह अविच्छिन्न रूप एक जैसा बने रहना, **ध्यानम्** = ध्यान कहलाता है।

भाष्यार्थ–तस्मिन् देशे = उस स्थान (विषय) में जो कि धारणा का विषय हो चुका है। **ध्येयालम्बनस्य** = ध्यान किए जानेवाले पदार्थ में ही आलम्बित, **प्रत्ययस्य** = ज्ञान की, **एकतानता** = 'एकोऽविच्छिन्नः तानः प्रसारः गतिरिति एकतानः तस्य भावः तानता 'तैलधारावदविच्छिन्नः प्रवाहः' अखण्डित तैलधारा के प्रवाह के समान ध्यान कि गतिका होना एकतानता है, सदृशः प्रवाह–एक जैसा बहाव विना धारा के टूटे, और वह, **प्रत्ययान्तरेण** = दूसरे किसी ज्ञानसे, **अपरामृष्ट** = अमिश्रित हो तो ध्यान कहलाता है।

यही ध्यान समाधि कहा जाता है। वेदान्त के अनुसार मन का निर्विषय हो जाना ध्यान है।

स्नानं मनोमलत्यागः ध्यानं निर्विषयं मनः। राग-द्वेष ही मल, मन के इन दोषों को छोड़ना स्नान है, एवं मन का विषय शून्य हो जाना ध्यान है। इसे वेदान्त में बहिरङ्ग साधन के रूप में रखा गया है।

निदिध्यासन-कोटिका ध्यान भगवान् शङ्कराचार्य जी अपरोक्षारनुभूति में कहते हैं—

अर्थ–"मैं ब्रह्म ही हूँ"—इस सद्वृत्ति से (सद्वृत्ति इस कारण है, क्योंकि वह किसी भी प्रमाणान्तर से बाधित नहीं होती) जो कि परमानन्ददायिनी (परमानन्द तो स्वस्वरूप है) उसको प्रदान करने वाली निरालम्ब, देहादि अनुसन्धान रहित स्थिति है बस वहीं 'ध्यान' शब्द से कहा जाता है।

ज्ञानाज्ञानमहामायालक्षणाविद्यया सह ।
अभेदेन स्थितं विप्राः परात्परतरं पदम् ।। (सू.सू. ४/८)
एते चत्वारः परशिवरूपस्योपाध्यः । (टीका)
स्वप्रधान तयोपास्यं तथैवास्यप्रधानतः ।
समप्रधानरूपेणाप्यादरेण मनीषिभिः ।। सू.सं. ४/९)

वेदान्त के ध्यान में रूपादि विषय की विशेषता नहीं होती और नहि वृत्ति की। इसमें तो केवल साक्षी की विशेषता है। जो निर्विशेष अपना स्वरूप है।

परिच्छिन्न देशादि का साक्षी होने के कारण वह द्रष्टा है, चेतन है। वह इन देशादि का साक्षी, अधिष्ठान व्यापक, नित्य तथा अद्वितीय है। यही ब्रह्मविषयक वेदान्त का ध्यान है।

सम्बन्ध–परशिव की उपाधियों का वर्णन।

ज्ञानम् = अन्तः करणवृत्तिः। **अज्ञानम्** = तमः परिणामः। **माया** = दुर्घटकारिणी स्वाश्रया-व्यामोहकरी अविद्या।

श्लोकार्थ–ज्ञान, अज्ञान, महामाया तथा अविद्या–ये परशिव की चार उपाधियाँ है। परात्परपदस्वरूप आत्मा तत्त्वज्ञान न होने तक इन उपाधियों से तादात्म्यापन्न हुआ-सा (अभेद) रूप से स्थित रहता है। विप्राः–शौनकादि ऋषियों का वाचक है।

टीकार्थः–ज्ञानम् = अन्तःकरण की वृत्तिः (ज्ञायतेऽननेति ज्ञानम् मायायाः सत्वपरिणामरूपा अन्तःकरण वृत्तिः) **अज्ञानम्** = तमः परिणामरूप अन्तःकरण की वृत्ति। **माया** = दुर्घट (जो अत्यन्त क्लेश से होनेवाला हो) कारिणी अपने ही आश्रय में रहकर स्व को मोहित करने वाली अविद्या है।

ये चारों परशिवरूप की उपाधियाँ है।

उपाधिः = उप समीपे स्थित्वा स्वीयरूपमादधातीति। यथा अज्ञानं चिदात्मनः समीपे स्थित्वा स्वीयं रूपमस्मिन् प्रत्यायति।

समीप में स्थित रहकर अपने धर्म का दूसरे पर आरोप कर अन्य रूप की प्रतीति कराने वाला। जैसे–अज्ञान सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के समीप स्थित रहकर अपनी जड़ता आदि का आरोप उस पर करता है। यद्यपि तादृश ज्ञान कराता है, तथादि वह अथयार्थ है।

स्वस्य–शिव की (परात्पर प्रभु की अभेद रूप से) प्रधानतया (मुख्य रूप से) उपासना कि जा सकती है, इसमें उपाधि की गौणता रहती है। या फिर उपाधि की प्रधानता से, अथवा दोनों (शिव, उपाधि) की प्रधानता हो सकती है; किन्तु विद्वान् पुरुष जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका, वे शिव की प्रधानता से साधना करता है।

स्वस्वरूपानुसंधानुप्रमोदादेव केवलात्।
महाताण्डवसंयुक्ता या मूर्तिः श्रुतिदर्शिता।। (सू.सं. ४/९)
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा अपि च संकराः।
ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या एव सूरिभिः।।
महापातक पूर्वाणि पापानि सुबहूनि च।
ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्यानि महत्तमैः।।
यद्यदस्तितया भाति यद्यन्नास्तितयाऽपिच।
तत्तद् ब्रह्मतया नित्यमुपास्यं ब्रह्मवित्तमैः।।
इत्थं सर्वत्र यः साक्षाद् ब्रह्मोपास्ते सनातनम्।
स याति ध्यानयज्ञेन साक्षाद्विज्ञानमैश्वरम्।। (सू.सं. ४/९)
क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमामता। (मनुः)

सम्बन्ध–'ताण्डव स्वरूप मूर्ति का कारण।

अर्थ–केवल स्वस्वरूप के अनुसन्धान के कारण ही भगवान् की वह मूर्ति महाताण्डव कर रही है, जो कि श्रुटि के द्वारा दशित मूर्ति है।

सम्बन्ध–एक उदात्तदृष्टिकोण। सम्पूर्ण विश्व का ब्रह्मरूप से ध्यान का कथन।

अर्थ–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और तो और जो संकर जाति के हैं वे भी विद्वानों के द्वारा ब्रह्मरूप से उपास्य हैं।

महापातक, उपपातक, पातक नाना प्रकार के जितने भी पाप समुदाय हैं, नित्य ही उनका ब्रह्म रूपसे महान् पुरुषों को उपासना करनी चाहिये।

अधिक क्या कहा जाय—जो कुछ भी 'है' रूप से प्रतीत हो रहा है, जो 'नहीं' रूप से प्रतीत हो रहा है, वह सबका-सबका ब्रह्मविद् पुरुषों के द्वारा ब्रह्मरूप से नित्य ही उपास्य है, इस तरह जो सर्वत्र (सम्पूर्ण उपाधियों में) साक्षात् सनातन ब्रह्म की उपासना (दर्शन) करता है वह इस ध्यानयज्ञ के फलस्वरूप अधिष्ठान साक्षात् विज्ञान रूप परम ईश्वर का बोध प्राप्त कर लेता हैं। (सू.स. ४/९)

अर्थ–इस क्षेत्रज्ञ का अपनी आत्मा के रूप में ज्ञान होना ही सर्वश्रेष्ठ विशुद्धि है और यही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। (मनु)

इत्थमेवेदमित्येवंरूपं यत्स्फुरणं बुधाः ।
स एव निश्चयः प्रोक्तः .... ।।
ज्ञानस्य तेन सम्बन्धः प्रामाण्यं कथितं मया ।
प्रमाणज्ञान सामग्रयः षण्मयाऽभिहिता बुधाः ।। (सू.सं. ४/१०)
तत्रैकाऽभावविज्ञानसामग्री कथिता द्विजाः ।
अन्या तु भावविज्ञानसामग्री परीकीर्तिता ।।
यद्योग्यानुपलब्ध्यैव जन्यं विज्ञानमास्तिकाः ।
तत्स्यादभावविज्ञानं .... ।। सू.सं. ४/१०)

सम्बन्ध–पुराण मत में निश्चय, प्रामाण्य सह, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विवेचन।

अर्थ–"यह ऐसा ही है"—इस प्रकार का जो स्फुरण (अनुभव), विद्वानों के मत में वही "निश्चय" कहा जाता है। तेन–पूर्व कहे गए 'निश्चय' पदार्थ में ज्ञानत्वाभावाभाव ही "यह ऐसा ही है" एतादृश निश्चय की प्रमाणता है। ज्ञानस्य को यहाँ भावप्रधान निर्देश समझना चाहिये।

किन्तु भ्रम रूप निश्चय अविद्या वृत्ति होती है, अतः उसे ज्ञान नहीं माना जा सकता, क्योंकि अज्ञान का निवर्तक होने-से ज्ञान का ज्ञानत्व निश्चित होता है, और भ्रम कभी अज्ञान का नाशक नहीं होता अतः प्रमा कोटी में वही ज्ञान आता है, जो अविद्या का निवर्तक होगा सुतरा निश्चय में यदि ज्ञानत्व रहेगा तो वह प्रमा कोटी में अवश्य ही ग्राह्य होगा।

प्रामाण्य के तादृश लक्षण से ज्ञानत्व ही प्रमात्व है। प्रमाण ज्ञान की छह सामाग्री कही गयी है। (प्रमाणज्ञान–अदुष्टकरणोत्पन्नविज्ञानं प्रमाणज्ञानम्) निर्दुष्ट करणों से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रमाणज्ञान कहते हैं।

अर्थ–उसमें एक तो अभावविज्ञान की सामग्री है। अभाव विज्ञान का अर्थ है अभावानुभव और समाग्री का अर्थ है, कारणसमुदाय की समग्रता। दूसरा है—भावि विज्ञान सामग्री भाव विज्ञान का तात्पर्य है, भावानुभव।

अभाव के अनुभव की सामग्री है योग्यानुपलब्धि। योग्यता का अर्थ है प्रतियोगी से अतिरिक्त जो प्रतियोग्रिहण के आवशयक है, तथा तत्सत्व का ग्रहण भी किया गया हो, किन्तु प्रतियोगी उपलब्धि का अभाव हो। प्रतियोगी के उपलब्धि न होने पर प्रतियोगी अभाव की प्रमा होगी। इस प्रकार ज्ञात उपलब्ध्य भाव को ही अभावप्रमा का साधन मानना पड़ता है।

इन्द्रियोत्पन्नविज्ञानं प्रत्यक्षं परिभाषितम् ।
व्याप्तिजन्यपरिज्ञानमनुमानमितीष्यते ।।
सादृश्य हे तुजं ज्ञानमुपमानमुदाहृतम् ।
अर्थापत्तिरिति प्रोक्तं विप्रा अनुपपत्तिजम् ।।
तात्पर्योपेतशब्दोत्थज्ञानं शाब्दमुदाहृतम् ।
शब्दस्तु ब्रह्मविच्छ्रेष्ठास्त्रिविधः परिकीर्तितः ।।
अक्षराणि तथा विप्राः पदानि च तथैव च ।
वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः ।
अर्थानामपि केषांचित्पदान्येव हि वाचकाः ।।
वाचकानि च वाक्यानि केषाञ्चिन्मते तथा ।
वाक्यमेव वाचकम् । पदानि तु वर्णवदनर्थकानि । (इति कैयट)
वेदान्तानां महावाक्यं प्रत्यग्ब्रह्मैकतार्थगम् ।
भूमानन्दशिवप्राप्तिसाधनं परिकीर्तितम् ।
तदेव भ्रान्तिसिद्धस्य संसारस्य निवर्तकम् ।। (सू.सं. ४/१०)

अर्थ–इन्द्रिय-से जन्य (उत्पन्न) विज्ञान (अनुभव) प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा जाता है। व्याप्ति जन्य परिज्ञान अनुमान कहलाता है।

सादृश्य के हेतु (कारण) से जन्य ज्ञान को उपमान कहते हैं। अनुपपति के कारण जो निश्चय होता है वह अर्थापत्ति प्रमाण है। तात्पर्ययुक्त शब्द से जन्य ज्ञान शाब्दबोध कहलाता है। शब्द भी तीन तरह होता है। कुछ लोग अक्षरों को शब्द मानते हैं। कोई पदों को एवं कुछ अन्य वाक्य को शब्द मानते हैं।

अर्थ–वर्ण ही शब्द है, ऐसा भगवान् उपवर्ष ने कहा है। कुछ लोग कहते हैं कि पद ही अर्थों के वाचक हैं। अन्य कुछ लोग वाक्यों को वाचक मानते है, कुछ लोग कहते हैं कि पद तो वर्ण की तरह अनर्थक है, वाक्य ही वाचक है।

अर्थ–महावाक्यों का तात्पर्य है–प्रत्यक चैतन्य रूप से स्वानुभूत सर्व प्रसिद्ध आत्मा ही ब्रह्म है।

भूमानन्द (अनन्त आनन्द) कल्याण स्वरूप शिव की प्राप्ति का साधन तथा भ्रान्तिसिद्धि संसार की निवृत्ति का साधन अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है।

सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते।। (टीका)
"सोपाधिकस्य न तु निर्विषेषस्य"

चैतन्यरूपेणभेदस्तु चैत्यस्यैव चितोन हि।
आत्मभूतः शिवः साक्षाच्चिन्मात्रज्योतिरेव हि।।
भेद साक्षी शिवो ह्यात्मा कथं भिन्नोभवेद् द्विजा। (सू.सं. ४/१०)

सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः।
एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो भिदा।। (चि.सु. २)

युगपद्ग्रहणायोगादनवस्थाप्रसङ्गतः।
परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः।। (चि.सु. २)

एकम–स्वगतभेदं निषेधयति अखण्डमित्यर्थः।
एव–सजातीयभेदनिरासः।
अद्वितीयम्–विजातीयस्य।

अर्थ–सर्वप्रमाणों के द्वारा यथार्थ का प्रत्यय होने पर अथवा ब्रह्मरूप में स्थित जाने पर भी इस दृश्यमान प्रपञ्च का विलय शब्द के द्वारा ही प्रतिपादन किया जाता है। वह भी सोपाधिक ब्रह्म का न कि निरूपाधिक का। (टीका)

अर्थ–चेतन रूप से भेद है ही नहीं जो कुछ भी भेद रूप से प्रतीत होता है, उसका कारण उपाधि है। भेद भी स्वनिष्ठ ही है, साक्षात् चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप शिव में भेद नाम की कोई वस्तु नहीं है।

अर्थ–भेद कभी भी एक निष्ठ नहीं होता, वह तो अनेक में ही रहता है। भेद सर्वदा प्रतियोगी सापेक्ष होने के कारण वस्तु का स्वरूप हो ही नहीं सकता अतः प्रतियोगी युक्त भेद को यदि किसी वस्तु का स्वरूप मानते हैं तो अद्वैतापत्ति आ ही जाती है।

अर्थ–प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन करने के उद्देश्य-से कह रहे हैं, किसी पदार्थ का धर्म, तद्रुप भेद में—धर्मी का, प्रतियोगी का एवं भेद का एक ही काल में ज्ञान न होने के कारण अनवस्था की प्राप्ति एवं अन्योऽन्याश्रय दोष के कारण से प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

अर्थ–"एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति वाक्य के एकम्-यह पद स्वागत भेद का निषेध कर अखण्डार्थ विषयक धी को उत्पन्न करता है। **एव**–पद सजातीय भेद को हटाता है। **अद्वितीयम्**–यह पद विजातीय भेद का निराकरण करता है।

अन्य सिद्धे भेद सिद्धि :भेदसिद्धे अन्य सिद्धिरित्यात्माश्रयः ।
येन भेदेन तौ विशेषणभूतौ धर्मप्रतियोगिनौ स चेदेक एव ।
यदि द्वितीयभेदोभेदकः तस्य प्रथमः तर्हि अन्योऽन्याश्रयः ।
तृतीयश्चेत् चक्रकापतिः । यदि भेद परंपरातार्हि अनवस्था ।
(सू.सं. ४/१० टीका)

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं वेद धामत्रयन्तुयः ।
स एवाऽऽत्मा न तद् दृश्यं दृश्यं तस्मिन्प्रकल्पितम् ।।

भेदत्रय–

सजातीय भेद–समानजाति कृत भेद को सजातीय भेद कहते हैं। जैसे—एक वृक्ष का वृक्षान्तर से भेद।

विजातीय भेद–विरुद्धजातिकृत भेद विजातीय भेद कहलाता है। जैसे—वृक्ष का पत्थर आदि-से भेदे।

स्वगत भेद–स्वावयवों के द्वारा जो भेद निश्चित किया जाता है वह भेद स्वागत है। जैसे—वृक्ष का पत्रपुष्पफलादि से होनेवाला भेद।

सम्बन्ध–आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय तथा चक्रकदोष का स्वरूप कथन।

अर्थ–न्याय की भाषा में आत्माश्रय का लक्षण होता है—स्वज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् आत्माश्रयः। अर्थात् किस पदार्थ का स्वज्ञान के निमित्त अपेक्षणीय अन्य ज्ञान का विषय बन जाना ही आत्माश्रय दोष होता है।

अन्य की सिद्धि से भेद सिद्धि, भेद सिद्धि-से अन्य की सिद्धि यह आत्माश्रय दोष है। गो के लक्षण का निर्वचन काल में यदि 'गो' के ज्ञान में उसी का अपेक्षित रहता है, तो यह आत्माश्रय दोष कहलाता है।

जिस भेद के द्वारा विशेषण भूत दोनों ही धर्म तथा प्रतियोगी का भेद एक ही हो तो।

यदि द्वितीय भेद का भेदक (व्यावर्तक) उसके प्रथम का भेदक हो तो अन्त्रोऽन्याश्रय दोष होता है। यदि तीसरा हो तो चक्रकापति होती है, और यदि भेद की परम्परा बन जाय तो अनवस्था दोष ही आपतित होता है।

अर्थ–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाओं का अनुभव करनेवाला, इनका जो साक्षी है, वही आत्मा है। वह दृश्य नहीं है अपितु उसमें ही सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित है। तीनों धामों

त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः ।।
ज्ञाताज्ञातद्वयादन्यं ज्ञाताज्ञातस्य भासकम् ।
प्रमाणभ्रान्ति वृत्तीनामगम्यं तत्प्रकाशकम् ।।
स्वयंभातं निराधारं य जानन्ति सुनिश्चितम् ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ।।

चिन्मात्राश्रयमायायः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः ।
अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयंप्रभा ।।
सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी ।
सा शिवा परमा देवी शिवभिन्ना शिवंकरी ।।

रुद्रस्य बहिस्तमोभुक्तसत्वगुण उपाधिः ।
विष्णोः सत्वेनाऽऽवृतं तम उपाधिः ।
ब्रह्मणस्तु . केवलं रजः ।

का साक्षिसत्यस्वरूप, बोधस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप वाला है। वह 'त्वम्', 'अहम्' आदि शब्दों का लक्ष्यार्थ है। सम्पूर्ण दोषों से असम्बद्ध है।

ज्ञात-अज्ञात दोनों को प्रकाशित करने वाला वह आत्म तत्त्व इन दोनों से ही अलग है, भिन्न है। प्रमाण आदि वृत्तियों को विषय करने के कारण स्वयं उनका अविषय है। किसी का भी अवलम्बन ने लेनेवाला वह स्वयं या समान होता है, इस प्रकार जो निश्चित रूप से जान लेता है, वे अवश्य ही विज्ञान सम्पन्न हैं, यह मेरा दृढ़ रूप-से मानना है।

अर्थ—हे द्विजगण! स्वयं प्रकाशरूपा, सद्रुपा परानन्दा माया के शकि आकार में अनुप्रविष्ट चिन्तमात्र पर आश्रित, संसार कानन का छेद करनेवाली जो संवित् है, उसे ही शिवा नामक परमा देवी कहते हैं, जो शिव-से भिन्न नहीं एवं सबका कल्याण करने वाली है।

अर्थ—भगवान् रुद्र बाहर-से तमोगुण युक्त सत्वोपाधि वाले हैं। विष्णु सत्व से आवृत तम उपाधि वाले हैं एवं ब्रह्मा केवल रज उपाधि वाले हैं।

शुद्धानि पञ्च तत्त्वानि–

शिव तत्त्वं–अनुश्रुतज्ञानक्रियारूपामायोपाधिक ।

शक्तिः–शक्त्यप्रतियोग्यधीन निरूपणीयाकारोपाधिकः शिवः ।

कारणम्–मायोद्भुत समप्रधान ज्ञान शक्ति उपाधिकः परशिवः ।

सर्वज्ञः–ज्ञानशक्त्यधिकात् ।

ईक्षिता–क्रियाशक्त्यधिकात् ।

पञ्चशुद्ध तत्व ।

शिवतत्वमथो वक्ष्ये–

अप्रमेयमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम् ॥
सूक्ष्मं सर्वगतं नित्यं ध्रुवमव्ययमीश्वरम् ।
शक्तितत्त्वं ततोजातं सिसक्षोः परमात्मनः ॥

अर्थ–शिव तत्त्व–शिव में यद्यपि जगत्कारणता है, तथापि जगत् की रचना पराशक्ति करती है। गीता में भी भगवान् ने कहा है—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" प्रकृति ही चराचरात्मक जगत् की सृष्टि करती है, कारणता किन्तु मेरे में है, पर वह कारणता शक्ति के कारण से। यह शिवतत्त्व अनश्रुत ज्ञान क्रियारूपा माया की उपाधि वाला है।

शक्ति–शक्ति के अप्रतियोगी के अधीन निरूपणी रूप उपाधिक वाले शिव! अर्थात् जगदङ्कुरूप स्वीकृत माया से उपहित शक्ति हैं, शिव।

कारण–जगत् के आकार में परिणत होनेवाली माया-से उपहित (मायोद्भूत) वे कारण (शिव कारण) है।

सर्वज्ञ–ज्ञान शक्ति की अधिकता-से वे सर्वज्ञ हैं।

ईक्षितां–क्रिया शक्ति की अधिकता से वे ईक्षितारूप हैं। उनका ईक्षणरूप सामर्थ्य पराशक्ति के कारण है।

अर्थ–अब मैं शिव तत्त्व को कहता हूँ—वह तत्व उपमारहित, मायिकदोषविवर्जित प्रभा का अविषय, अनिर्देश्य, सूक्ष्म, व्यापक कालाबाधित, स्थिर, अविनाशि तथा सर्वशासक है।

उस परमात्मतत्त्व से सृष्टि करने की अभिलाषा से शक्ति तत्व का प्राकट्य हुआ।

उन्मेषः प्रथमस्तस्मादभिन्नं शिवतत्त्वतः ।
सदाशिवं ततस्तत्त्वं क्रियाज्ञानसमांशकम् ।।
तत्त्वमीश्वरसञ्ज्ञं स्यात्सर्वैश्वर्यसमावृतम् ।
क्रियाशक्त्वा परिक्षीणं ज्ञानशक्त्याऽधिकावृतम् ।।
विद्यातत्वमतश्चेशात्सर्वज्ञं मन्त्रनायकम् ।
क्रियाशक्त्यशशहतं ज्ञानशक्त्यशहीनकम् ।।

(टीका)

शुद्धानि पञ्चतत्वानि आद्यं तेषां वदन्तिशिवतत्वम् ।
शक्तिसदाशिव तत्त्वे ईश्वर विद्यारव्य तत्वे च ।। (आ.टी.सू.सं)

एषा सा साक्षिणी शक्तिः शंकरस्यापि शंकरी ।
शिवाभिन्ना तथा हीनः शिवः साक्षान्निरर्थकः ।।
न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः । (सू.सं. ४/१३)

शिव तत्व से अभिन्नतथा ही पहले उसका उन्मेष हुआ, उसके बाद क्रिया तथा ज्ञान के तुल्य अंश वाले सदाशिव तत्व का प्रकाश हुआ। वह तत्व ईश्वर संज्ञक या जो सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त था। वह ज्ञानशक्ति की अधिकता से आवृत था और ज्ञान शक्ति की न्यूनता से। इसके बाद सम्पूर्ण मन्त्रों का नायक विद्यातत्व का प्रकाश हुआ। जोकि क्रियाशक्ति के अंश से युक्त था, ज्ञान शक्ति के अंश से हीन (न्यून)।

अर्थ–शुद्ध पञ्चतत्व हैं, जिनमें पहला शिव तत्व को कहा गया है। शक्ति को सदाशिव तत्व में एवं ईश्वर विद्यारण्य तत्व में स्वीकार किया गया है।

अर्थ–यह वही साक्षिरस्वरूपा शक्ति है, जो जगत् सृष्टि कार्य में सहयोग प्रदान कर के शंकर (सुख देने वाले) को भी आनन्द प्रदान करनेवाली शंकरी है। वह शिव-से अभिन्न है। शंकरी के विना शिव तो सर्वथा निरर्थक हैं, उसके बिना रचना कार्य कर ही नहीं सकते।

शिव के विना न तो शक्ति कुछ है, और न शक्ति के शिव। दोनों एक ही है, भेद का सर्वथा अभाव है।

शिवामेतामुमामेनां जडशक्तिं तथैव च।
जडकार्यं जगज्जीवं तेषां भेदं तथैव च।।
अन्यच्चास्तितथा भातं तथा नास्तीतिशब्दितम्।
सर्वं पूर्णं शिवं पश्यन्स्वयं पूर्णः शिवो भवेत्।।
चिन्मात्राश्रयमायाशक्त्यनुप्रविष्टा संवित् शिवा।।
सैव लीलाविग्रहधारिण्युमा।।
जडवर्गस्योपानभूता माया जडशक्तिः। (सू.सं. ४/१३)

पूर्णमेव स्वकं रूपमपूर्णं भाति मायया।
पूर्णरूप तया मायां पश्यन्पूर्णो भवेत्स्वयम्।।

टीका–यदिदं सर्वं न तत्सर्वमपि त्वनवच्छिन्नः परशिव एवेति वेदान्त विज्ञानेन विजानाति।

सम्पूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः।
न सन्ति नास्ति माया च तद्विशुद्धात्मेत्मवेनम्।। (सू.सं. ४/१३)

अर्थ–इन भगवती उमा शिवा को, जड़शक्ति को, वैसे ही जड़कार्य, जगत् जीव तथा इनके जितने भी भेद हैं, उन सबको, अर्थात् सृष्टि में 'हैं' रूप से जो कुछ भी मास रहा है, या 'नहीं' इस रूप में प्रतीत हो रहा है तात्पर्य है कि इनको चाहे है रूप-से कहे या फिर नहीं रूप-से सब-का सब साक्षात् पूर्ण शिव हैं, ऐसा सर्वदा देखने वाला स्वयं पूर्ण शिवस्वरूप हो जाता है।

चिन्मात्र तत्व के आश्रय में रहने वाली माया शक्ति में प्रविष्ट जा संवित् (ज्ञान) वह शिवा है। वही लीला से या लीला के लिए विग्रह धारण करने वाली उमा है। जड़ समुदाय की उपादानभूत जडशक्ति माया है।

अर्थ–स्वयं का पूर्ण रूप ही माया के कारण अपूर्ण (सीमित) की तरह भास रहा है। माया को भी जो पूर्ण ब्रह्म से अलग नहीं देखता वह स्वयं पूर्ण ब्रह्म हो जाता है।

वेदान्त विज्ञान की महिमा है, कि—"जयह सर्व" और 'वह सर्व नहीं' भी अपरिच्छिन्न परशिव है ऐसा वेदात विज्ञान से जान लेते हैं।

अर्थ–अपने पूर्ण आत्मा के अतिरिक्त न जगत् है, न जीव है, न ईश्वर है और न हि माया है। इसे विशुद्ध आत्म ज्ञान कहते हैं।

विकार रहितः शुद्धः स्वशक्त्या पञ्चधास्थितः ।

१. सर्जनशक्त्युपाधिकं परशिवरूपं चिन्मात्रमेव सद्योजातः ।

२. पालनशक्त्युपाधिकं वामदेवः ।

३. संहरणशक्त्युपाधिकं अघोरः ।

४. तिरोभावशक्त्युपाधिकन्तत्पुरुषः ।

५. अनुग्रहशक्त्युपाधिकं ईशानः ।

सदाशिवेश्वरौ रुद्रौ विष्णुर्ब्रह्मा च सुव्रताः ।

क्रमाच्छब्दादिभूतानां देवताश्च प्रकीर्तिताः ।।

ताश्चेशानादयाः प्रोक्ताः .... ।।

अर्थ—सत्य ज्ञानादि लक्षण वाले शिव यद्यपि एक हैं वे सम्पूर्ण विकारों से रहित, शुद्ध (निर्मल) तथापि अपनी माया शक्ति के कारण पाँच प्रकार के स्वरूप को ग्रहणकर स्थित हैं।

१. सर्जनशक्ति की उपाधिवाले परमशिवरूप ज्ञानमात्र केवल सद्योजात हैं।

२. पालन शक्ति की उपाधि वाले वामदेव है।

३. संहारशक्ति की उपाधि को स्वीकार कर अघोररूप में स्थित हैं।

४. तिरोधान शक्ति की उपाधि से वे तत्पुरुष स्वरूप में विराजमान हैं।

५. शब्द ईशान हैं, स्पर्श तत्पुरुष हैं, रूप अघोर हैं, रस वामदेव हैं, तथा गंध सद्योजात हैं।

'न स्वरूपेण भेदिनः'' । अनुग्रह शक्ति उपाधि को धारण करने से ईशान हैं।

ये स्वरूप से भेदवाले नहीं है, एक शिव कार्य भेद-से पाँच प्रतीत हो रहे हैं। उनके पञ्च स्वरूप के कारण ही गन्धादि संख्या में पाँच हैं।

अर्थ—हे सुव्रताः ! (मुनिगण !) क्रमशः पंचभूतों के शिवादि पञ्च देवता कहे गये हैं—

आकाश के देवता सदाशिव, वायु के ईश्वर, तेज के रुद्र, जल के विष्णु तथा पृथ्वी के ब्रह्माजी ।

सम्बन्ध—प्रत्येक वस्तु को शिव स्वरूप समझनी चाहिए, सम्प्रति पंच ब्रह्मों के द्वारा शिव

विकाररहितः शुद्धः स्वशवत्या पञ्चधास्थितः ।
सर्वभेदविवर्जित, विकाररहित निरञ्जन ।।
पञ्चविधं तत्कृत्य सृष्टिस्थिति संहृतितिरोभावाः ।
तद्वदनुग्रहकारणम् ।। (टीकायाम्)

१. ईशे येन जगत्सर्वं तेन ईशान ईरितः ।
२. तस्य तस्य वपुः पूर्षु उषतीति तत्पुरुषः ।
३. अघोरः पापनिर्दाहकारकः । अघौघं हरतीति अघोरः ।
४. धर्मार्थकामेभ्य प्रशस्तत्वाद्देवत्वाच्च वामदेवः ।
५. सद्यः संकल्पमात्रेणानन्तमूर्तयः यस्येच्छातः भवन्ति स सद्योजातः ।

भावना का कथन। पञ्चभूतों में स्थित कला, पञ्चभूतों में स्थित रजोगुण तथा सभी भूतों में स्थित तमोगुण के नाम।

पञ्चभूत	सत्व	रज	तम
आकाशे (में)	शान्त्यतीता (कला)	स्पष्टः	छादकम्
वायु (में)	शान्तिः (कला)	परिस्पन्दः	बाधकम्
अग्नौ (में)	विद्या (कला)	प्रक्रमः	मुग्धम्
जले (में)	प्रतिष्ठा (कला)	परिशीलनः	नोदक
पृथिव्या (में)	निवृत्तिः (कला)	प्रचारः	भंजक

इस प्रकार हर वस्तु ब्रह्म है।

सर्वभेदविवर्जित, विकाररहित, निरञ्जन परमात्मा एक होकर भी पाँच प्रकार-से स्थित हैं।

अर्थ—उनके कर्म भी पाँच प्रकार के हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव उसी प्रकार अनुग्रह।

सम्बन्ध—ईशानादि नाम होने का कारण।

१. जिस कारण से यह सम्पूर्ण जगत् ईशे (शासन में) रहता है, जिस कारण से वह ईशान कहलाते हैं। अर्थात् सबका शासनकर्ता होने से ईशान है।

२. उसका-उसका वपु (शरीर) जो पुर है, उसमें वास करता है, अतः वे तत्पुरुष हैं। (तस्य-तस्य) का तात्पर्य उन जीवों का शरीर प्रतीत होता है।

३. 'अघोर' सम्पूर्ण पापों का निःशेष दहन कारक होने से। पाप के प्रवाहको जो हर ले अतः अघोर हैं।

४. धर्मार्थकाम के लिए प्रशस्त (सर्वोत्तम) तथा दिव्यगुण वाला होने से वामदेव हैं।

५. तत्काल संकल्पमात्र से अनन्तप्राणी जिसकी इच्छा से उत्पन्न होते है। वह सद्योजात है।

एतानि पञ्चब्रह्माणि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात्।
पञ्चब्रह्मतयाभिन्नं जगत्सर्वं चराचरम्। (सू.सं. ४/१४)
माययैव शिवः साक्षात् पञ्चधा समवस्थितः।
.... माया दुर्घटकारिणी।। (सू.सं.)
दासोऽहमिति समोहस्ततः सोऽहमिति भ्रमः।
अहं स इति समोहस्तथा त्रीणि परित्यजेत्।।
निर्भेदे निर्मले नित्ये निराधारे निरञ्जने।
दासः सोऽहमहं सोऽपीत्यात्मन्येतत्कथं भवेत्।।
अञ्जनम् मायात्कार्यन्तद्रहितन्निरञ्जनम्।
स्वतः सिद्धं स्वयं सर्वं जगत्स्वेन प्रकाशितम्।
स्वस्वरूपतया बुद्ध्वा तदति स्वात्मनास्वयम्। (सू.सं. ४/१४)

अर्थ—इन पञ्चब्रह्मों को शिवरूप में देखकर जीव संसार बन्धन-से मुक्त हो जाता है। यह सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमात्मक विश्व पञ्चब्रह्म-से अलग नहीं, इन्हीं का स्वरूप है।

यह सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमात्मक विश्व पञ्च ब्रह्म-से अलग नहीं, इन्हीं का स्वरूप है।

माया के द्वारा ही साक्षात् शिव पाँच रूपों से स्थित हैं, उनकी माया ऐसी दुर्घट (अघटन-घटना पटीचसी है, कि असम्भव सम्भव हो जाता है।)

इसी माया-से मोहित होकर जीव अमृत होता हुआ भी मर्त्य बना जन्म-मृत्यु रूप संसार में भटक रहा है, दुःख पाते हुए भी इसी में स्थित रहता है। मल-मूत्र से घृणा करता हुआ भी पुनः उसी में रमता है, इसका कारण ईश की दुर्घट कारिणी माया ही है।

सम्बन्ध—अहंकार का बाध।

अर्थ—'मैं दास हूँ', 'वह मैं हूँ', मैं वह हूँ, ये तीनों भ्रममूलक व्यवहार हैं, अतः इस तीनों भ्रमों का परित्याग कर देना चाहिये। भदेशून्य, निर्मल (दोष विवर्जित) नित्य, सर्वाधार, निरञ्जन तत्त्व में 'मैं दास हूँ', 'मैं वह हूँ', 'वह मैं हूँ', ये तीन प्रकार की अहंकार वृत्ति कहाँ से सम्भव होगी, अर्थात् कदापि सम्भव नहीं है। अञ्जन कहते हैं माया एवं उसके कार्य को, उससे जो रहित है, वह निरञ्जन है।

अर्थ—स्वनिमित्तक तथा स्वोपादानक (क्योंकि आत्मा इस जगत अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। सम्पूर्ण जगत् स्व से हि प्रकाशित होता है। जब इस स्व (आत्मा) को स्वरूप के रूप जान लेता है, तो मानो आत्मा ही आत्मा को खा लेता है। आत्मा से अतिरिक्त और कुछ बचता ही नहीं।

भेदाकारस्तु सताया भिन्नश्चेच्छून्यतत्ववत् ।
शून्यमेव भवेन्नैव भेदाकारो भवेद्द्विजाः ।।
भेदाकारः स सत्ताया अभिन्नश्चेत्स सैव हि ।।
भिन्नाभिन्नौं यदि स्यातां तदा दोषद्वयं भवेत् ।
तस्मात्सत्तातिरेकेण विशेषार्थो न विद्यते ।। (सू.सं. ४/१५)
विशेषार्थप्रतीतिस्तु भ्रान्तिसिद्धा न संशयः । (सू.सं. ४/१५)
अत एका सदासत्ता सैवब्रह्म परात्परम् । (सू.सं.)

अर्थ—भिद्यते इति भेदो विशेषस्तथाविध आकारो यस्मिन्घटपटादौ से भेदाकर: । हे द्विजगण ! सत्ता के भेदाकार अर्थात् घटादि व्यक्ति यथार्थ में है, तो वे सत्ता भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि सत्ता से भेदवान् होगा तो असत् की आपत्ति होगी, तो फिर भेदाकार यथार्थ है, ऐसा कहना ही असंगत होगा। क्योंकि खपुष्प पारमार्थिक होता है, ऐसा कौन विद्वान् कह सकता है ? यदि सत्ता से भिन्न नहीं तब तो सत्तारूप ही होगा अत: सत्ता से व्यतिरिक्त कुछ अन्य न होने से अद्वैतापत्ति स्वत: सिद्ध हो जाती है।

यदि भेदाकार सत्ता-से भिन्न-अभिन्न दोनों है तो यह असम्भव है, यदि ऐसा स्वीकार कर भी लिया जाय तो एक ही साथ दोनों दोष प्राप्त होने लगेंगे।

"भेदशून्यत्वं सत्ताऽद्वैतञ्च" (टी०) भेदशून्य एवं सत्ता अद्वैत हैं।

अत: सत्ता-से अतिरिक्त किसी प्रकार का भेदाकार (विशेषाकार) या घटादि व्यक्ति वस्तुत नहीं है।

तस्मात्—भेदाभावात् (भेद के अभाव होने से)

अर्थ—भेदाकार वाले घटादि की प्रतीति तो भ्रान्ति सिद्ध है, इसमें कोई संशय नहीं।

अर्थ—इस कारण से सर्वदा एक ही परात्पर ब्रह्म रूप सत्ता विद्यमान है, ब्रह्म सत्ता से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

अत:—"विशेषार्थाभावात्"

अत: का विवरण दिखा रहें, भेदाकार का अभाव होने-से ब्रह्म ही वस्तुत: सिद्ध हुआ।

स्वप्नदृक्स्वप्नरूपेण यथा भातिस्वभावतः ।
तथा सर्वतया भाति शिवः सर्वावभासकः ।।
अन्धकारः प्रकाशश्च यथाऽऽकाशे प्रकाशते ।
जडाजडमिदं सर्वं तथा भाति परात्मनि ।
अहंपदप्रत्ययसाक्षिभूतं चिदात्मरूपं विदुरेनमेव ।।
शिवमशेषमिदं परिपश्यतः सकलजन्मजरामरणादयः ।
निखिललोकगतिश्च निरङ्कुशं परमरूपतयैव विभाति हि ।।
सपादिभावेन विभासमाना रज्जुन सर्पादि सदैव रज्जुः ।
तद्वत्प्रपञ्चात्मतया विभाति शिवो न विश्वं शिव एव तत्स्वयम् ।।

सम्बन्ध–शिव की सर्वरूपता का कथन।

अर्थ–जैसे-स्वप्न देखने वाला स्वभावतः स्वरूप से भासता है, प्रतीत होता, तथैव सर्वावभासक (सबको प्रकाशित करनेवाले) शिव ही सर्वरूप से प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार निरवयव आकाश में अन्धकार एवं प्रकाश दोनों ही एक साथ दिखते हैं, उसी प्रकार अवयव रहित सत्ता में जड़ एवं चेतन दोनों ही प्रतीत होते हैं।

अर्थ–यतिवृन्द अपने हृदय में सनिविष्ट (स्थित), अहं प्रत्ययसाक्षिभूतं—'मैं' इस ज्ञान के साक्षिभूत चिन्मात्र निजात्मस्वरूप इस परमशिव का बोध स्वगुरु में शिव की कृपा से ही प्राप्त करते हैं।

इदम् अशेषम्—यह सब कुछ जो भी दृश्यरूप में प्रतीत होता है, यह, वह, मैं, तू, रूप से भासता है, साक्षात् शिव हैं। जो इस प्रकार समझ लेता है, वह जन्म-मृत्यु, जरा आदि सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हो जाता है, तथा सकल लोकों में उसकी निरंकुश गति (ज्ञान) हो जाती है।

अर्थ–सर्पादि के रूपों में विभासमाना (प्रतीत होती हुई भी) रज्जु कभी भी सर्प नहीं होती, बल्कि सदैव रज्जु ही रहती है, तद्वत् प्रपञ्च के रूप भासित होने पर भी शिव ही है, प्रपञ्च नहीं, शिव ही प्रपञ्च के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जल-से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। अतः कारण रूप से पृथ्वी को जल रूप में जानता हुआ भी वह जल कहकर जैसे-पृथिवी कहता है। वैसे हि प्रपञ्च के रूप में शिव को जानता हुआ भी अमलबोध स्वरूप शिव को ही जानता है।

भिक्षुकस्तु जपेन्मन्त्रमनग्निः श्रद्धया सह ।
जपेन्नित्यं गुरोर्लब्ध्वा मन्त्रं यश्छन्दसमिति ।।

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव ।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम ।
शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा ।
कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् ।
ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः श्रुतं मे गोपाय । (वृ. ४/१)

नित्यं लिङ्गे महादेवं पूजयेद्भक्तिपूर्वकम् ।
शान्तो दान्तो भवेन्नित्यं विरक्तो भिक्षुको भवेत् ।।
वेदान्तश्रवणं कुर्यान्मननं च समाहितः ।। (सू.सं. ४/१६)

अर्थ–जिसने अग्नि का त्याग कर दिया है, ऐसा संन्यासी श्रद्धा के साथ, गुरु द्वारा प्राप्त 'यश्छन्दसा'...... इति इस मन्त्र का नित्य जप करे।

अर्थ–जो छन्दों (वेदों) में ऋषभ (प्रधान) तथा विश्वरूप है। जो छन्द रूप अमृत से मुख्यरूप से प्रकट हुआ है, वह प्रणवरूपी इन्द्र (सर्वकामेश) सम्पूर्ण कामनाओं का स्वामी मुझको मेधा (धीर्धारणावती मेधा)-धारणा शक्ति से युक्त बुद्धि को मेधा कहते हैं; से सम्पन्न करें (मेधा प्रदान कर आनन्द दें)। हे देव ! मैं अमृतस्वरूप आत्मा का धारण करने वाला होऊँ। मेरा शरीर इसके योग्य हो। मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुर भाषण करनेवाली हो जाय। मैं अपने कानों से श्रवण योग्य श्रुतियों द्वारा ब्रह्म तत्त्व का अत्यधिक (बार-बार) श्रवण करूँ। हे ओंकार (तस्य वाचकः प्रणवः) तू ब्रह्म को कोष है तथा भौतिक बुद्धि से आच्छादित है, बुद्धि विषयोन्मुख रहने के कारण असूक्ष्म होती है, अतः वह तुम्हें देख नहीं सकती। आप गुरुद्वारा सुनी हुई आत्मविद्या की रक्षा करें।

सम्बन्ध–संन्यासी के लिए नित्य शमादि गुणों का उपार्जन करते हुए शिवपूजन, वेदान्त श्रवण का विधान।

अर्थ–संन्यासी नित्य श्रद्धा-भक्ति सहित शिवलिङ्ग में महादेव की पूजा करे, वह सर्वदा मन को शान्त, इन्द्रियों को अपने वश में एव विषयों से अपने को दूर रखे। प्रतिदिन वेदान्त का श्रवण एवं एकाग्र चित्त-से उसका मनन भी करे।

चण्डद्रव्यं गुरुद्रव्यं देवद्रव्यं तथैव च।
रौरवे ते तु पच्यन्ते मनसा येतु भुञ्जते ।। (कालोत्तरे टी०)

तस्माज्जातं विजानाति विमुक्तश्चविमुच्यते।
निर्वतते निवृत्तश्च श्रुत्यर्थस्यैष संग्रहः ।।



रागद्वेषार्गलाबद्धा धर्माधर्म वशंगताः।
देवतिर्यङ्मनुष्यादि निरयं यान्ति मानवाः ।।
(सू.सं. ४/१७)

स्त्रीणामाराधने दुःखं तासां संरक्षणेऽपिच।
तासां परिभवे दुःखं दुःखमेव विचारतः ।।

सम्बन्ध–देवादि द्रव्य के ग्रहण का निषेध।

अर्थ–शिवपूजन में चण्ड का भाग, गुरु का द्रव्य, देवसम्पत्ति का जो व्यक्ति इनके विना दिए मनसे भी भोगता है, (लेने की इच्छा करता है) वह रौरव नरक में पकाया जाता है।

सम्बन्ध–ज्ञान के द्वारा उसी आत्मतत्त्व का बोध होता है, जो कभी अज्ञात नहीं, किन्तु भ्रम-से अन्य प्रतीत होता है।

अर्थ–बोध होने पर वही परमात्म तत्त्व अनुभव में आता है, जो भ्रम से स्व से भिन्न प्रतीत हो रहा था। जो बन्धन में है, उसकी मुक्ति नहीं होती, मुक्त ही विमुक्त होता है, क्योंकि बन्धन तो वस्तुतः है नहीं, निवृत्त की ही निवृत्ति होता है, संक्षेप में यही श्रुत्यर्थ है।

सम्बन्ध–वैराग्यविचार।

अर्थ–मानव राग-द्वेष रूपी रज्जु से बद्ध, धर्म-अधर्म के वश में हुआ मनुष्य, देवता तिर्यङ् (पशु-पक्षी) आदि योनियों एवं नरक की परिक्रमा लगाता रहता है।

अर्थ–स्त्रियों की आराधना करने में अर्थात् उनको प्रसन्न करने में दुःख ही दुःख है, उससे भी अधिक दुःख तो उसके संरक्षण में हैं, यदि कहीं उसका परिभव, उसके कार्य में दोष की चर्चा हो तो बेचारे पतिदेव के दुःख का तो ठिकाना नहीं, अतः विचार किया जाय तो स्त्री की प्राप्ति में सुख कम और दुःख ही ज्यादा है, अतः स्त्री सम्बन्ध बातों से दूर ही रहने में कल्याण है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणानां पञ्चानां पण्डितोत्तमाः ।
अगम्यं ब्रह्म धर्मश्चाधर्मः श्रुत्यैव गम्यते ।। (सू.सं. ४/१८)

य आत्मा केवलः शुद्धो निर्विकारो निरञ्जनः ।
स एव नित्यश्चिन्मात्रः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ।। (सू.सं. ४/१९)

अनित्यता जडस्यैव........... ।
घटादिप्रत्ययस्यापि नानित्यत्वं विचारतः ।
चित्तवृत्तिनिमित्ता हि प्रतीतिः प्रत्ययस्य तु ।।
प्रत्यये तु चिदाकारो वृत्त्याकारश्च सुव्रताः । (सू.सं. ४/१९)
अविवेकादेकता भाति .... ।

सम्बन्ध–प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अगम्य धर्मादि।

अर्थ–हे श्रेष्ठ पण्डितजन! ब्रह्म, धर्म तथा अधर्म ये प्रत्यक्षादि पञ्च प्रमाणों के विषय नहीं है, इन्हें तर्क-से सिद्ध नहीं किया जा सकता। तर्क शब्द से होता है, और तर्क की वहाँ गति ही नहीं "न तत्रक वागगच्छति" इस विषय जितना भी जाना जाता है, वह श्रुति के द्वारा ही सम्भव है।

सम्बन्ध–आत्मा की नित्यता का कथन।

अर्थ–जो आत्मा शुद्ध है, अर्थात् माया के कार्य वर्ग से लिप्त नहीं, एक है, विकार रहित निरञ्जन, ज्ञानमात्र है, सर्वदा सबका साक्षी है, वही नित्य है और दृश्य वर्ग अनित्य, जड़ विकारी एवं क्लेशदायी है।

अर्थ–विचार दृष्टि-से देखा जाय तो घतादि का प्रत्यय (ज्ञान) भी अनित्य नहीं है, क्योंकि घतादि के ज्ञान की अनित्यत्व की प्रतीति चित्तवृत्ति के अनित्य होने कारण से है। चित्त की जो चेष्टा है, उसको ही यहाँ वृत्ति कहते हैं।

हे मुनि गण! घट ज्ञान में भी स्फटिकजपाकुसुमादि के समान दो भाग प्रतीति होते हैं— एक तो चेतन आत्मरूप ज्ञान एवं दूसरा चित्त की वृत्ति।

सच तो यह है, कि अनित्यता सर्वदा जड़ की है, चेतन की नहीं।

अर्थ–अज्ञान के कारण ही दोनों (चिदाकार, वृत्याकार) एक से प्रतीत होते हैं।

भावांशः करणाशश्च विद्यते प्रत्ययेऽपिच ।
भावांशस्तु चिदाकारो वृत्यंशः करणांशक ।।
वृत्यंश एव नष्टस्तु जड्त्वात्कुम्भवस्तुवत् ।
चिदंशो नैव नष्टः स्याददृष्टत्वातु केनचित् ।।
अत्रादि ज्ञप्तिमात्रस्य विनाशो नैव दृश्यते ।
वृत्तिग्रस्तस्य भावस्य खलु नाशः प्रकाशते । (सू.सं. ४/१९)
ज्ञाताज्ञातार्थजातस्य यः साक्षी भासतेस्वयम् ।
स एव साक्षाच्चिन्मात्रस्वभावात्मा न चापरः ।। (सू.सं. ४/१९)

अर्थ—प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः। प्रत्ययशब्द प्रकृति प्रत्ययात्मक होने से तदर्थ (प्रकृति प्रत्ययार्थ) भी प्रत्यय का ही अर्थ है। तात्पर्य है कि प्रत्यय-प्रतीति एवं तत्साधन दोनों का ही वाचक है। उसमें से जो भावांश (धातु वालाा भाग) वह तो चिदाकार (चेतन तत्त्व) है, एवं जो प्रत्यय वाला भाग है, वह करणांश अर्थात् अनित्य चितवृत्ति। भाव शब्द भावना, क्रिया, व्यापार इन अर्थों में आता है। करण व्युत्पत्ति से प्रत्यय साधनार्थक ही हो जाता। इसमें से वृत्ति वाला भाग हीं नष्ट होता है क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप तो हं नहीं। जैसे कि जड़ होने से घट ही नष्ट होता है, घटाकाश की अनित्यता का प्रसंग अनुभव का विषय नहीं होगा। तथा प्रत्ययांश जो चेतन वह नित्य होने के कारण नष्ट नहीं होता।

जैसे—'अयं घटः' यह ज्ञान 'अयं पटः' इस ज्ञानकाल में नहीं रहता, क्योंकि उसका नाश अनुभव किया जाता है। इस अनुभव दशा में भी भावांश (धात्वर्भभाग) ज्ञप्ति का विनाश विषय नहीं होता। मात्र वृत्ति विशिष्ट ज्ञप्ति का नाश ही तादृश प्रतीति का विषय होता है।

अर्थ—ज्ञातम्—ज्ञानेन विषयीकृतम। अज्ञातम्—अज्ञानेनक्राडीकृतम्।

ज्ञात एवं अज्ञात अर्थात् ज्ञान एवं अज्ञान के विषयिभूत पदार्थों का साक्षी वह स्वयं भासित होता है। किसी अन्य प्रकाश से वह प्रकाशित नहीं होता। वही साक्षात् चिन्मात्रस्वभाववाला है, न कि दूसरा कोई।

अर्थ—साक्ष्याकार में चाहे अनन्त भेद सिद्ध हो जाय, किन्तु साक्षी का आकार तो एक ही होता है, साक्षी में किञ्चित भी भेद की सिद्धि नहीं होती, भेद का आश्रय तो साक्ष्य (दृश्य) पदार्थ है।

चिद्रूपं साक्षिमात्रं स्यान्न चान्यत्परमार्थतः ।
जडरूपं च नास्त्येव साक्षिणः परमार्थतः ।। (सू.सं. ४/१९)
विष्णवागमांस्तथा ब्राह्मान्बुद्धाहीद्यागमानपि ।।
लोकायतं तर्कशास्त्रं बहुविस्तरसंयुतम् ।
मीमांसामतिगम्भीरां सांख्ययोगौ तथैव च ।।
अनेकभेदभिन्नानि तथा शास्त्रान्तराणि च ।
निर्ममे शंकरः साक्षात्सर्वज्ञः संग्रहेण तु ।।
अधिकारिविभेदेन नैकस्यैव सदा द्विजाः ।
तर्कैरेते हि मार्गास्तु न हन्तव्या मनीषिभिः ।।

परमार्थ दृष्टि से साक्षिमात्र ही चिद्रुप है, अन्य कुछ नहीं, साक्षिका विचार दृष्टि से जड़रूपता है ही नहीं।

सम्बन्ध–आस्तिक-नास्तिकादिकों के मत-मतान्तर के पोषक सम्पूर्ण शास्त्रों के रचयिता साक्षात् शिव है, इसका कथन

अर्थ–वैष्णवागम, ब्राह्मागम, बौद्धागम, जैनागम, चार्वाक के शास्त्र, विस्तृत तर्क शास्त्र, अतिगम्भीर मीमांसा, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा अनेक भेदों वाले भिन्न-भिन्न शास्त्र सर्वज्ञ साक्षात् शिवशंकर ने ही संक्षेप में बनाया है।

इन सब शास्त्रों के रचयिता तत्-तत् ऋषि नहीं है, ऋर्षियों ने तो महेश्वर से प्राप्तकर कोमलमति मानवों के लिए, सरल रूप से उपनिबद्ध किया है।

अधिकारी भेद-से इन शास्त्रों की उपयोगिता है, एक व्यक्ति के सम्पूर्ण विषय उपयोगी कैसे हो सकता ?

अर्थ–एक अधिकारी के लिए सम्पूर्ण मार्ग उपयोग में नहीं आता, वह अपनी प्रकृति, सामर्थ्य के अनुसार चलता है, अतः यदि वह किसी शास्त्र को पकड़कर आगे बढ़ रहा है, तो विद्वान् पुरुषों को तर्क के सहारे उनका खण्डन नहीं करना चाहिये। सर्वभक्षी को यदि शास्त्र पञ्चनखों में बाँध रहा है, तो वह उसके कल्याण का कारण है। व्यभिचार की मनोवृत्ति वाले पुरुष को भगवान् मनु यदि गान्धर्वविवाह राक्षस विवाह, पिशाच विवाह में सीमीत कर रहे हैं, तो यह शास्त्र की कितनी महान् उदारता है।

बुद्धयादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा ।
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनःस्युश्चतुर्दश ।। (न्या०सि०मु०)
सङ्ख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे ।
रुद्र प्रसादतः संसार दोषेन वैराग्यं भवति ।
विरिञ्चिप्रसादेन शान्त्यादि साधनम् ।
प्रसादाद्वैष्णवान्मुमुक्षुत्वं भवति ।
विघ्नराजप्रसादेन गुरुपादपरिग्रह ।
तेन योगाभिधं ध्यानमैश्वरं ज्ञानसाधनम् ।।
पुनः सांख्याभिघं ज्ञानं पार्वत्यास्तु प्रसादतः ।
प्रसादो जायते तेन संसारस्य विमर्दनम् ।
सांख्योत्पत्तिवेलायां मोचकस्य शिवस्य तु ।। (सू.सं. ४/२३)

सम्बन्ध—न्याय के अनुसार आत्मा के चौदह गुणों का वर्णन।

अर्थ—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न—ये बुद्ध्यादि छह हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग—ये संख्यादि पाँच है। भावनाख्यसंस्कार, धर्म, अधर्म—ये चौदह गुण जीवात्मा के हैं। अनुभव जन्य स्मृति हेतुः। **जीववृत्तिरतीन्द्रियः**—जीव की वृत्तियाँ अतिन्द्रिय होती है। सामन्यतः बाह्य इन्द्रिकों से इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

सम्बन्ध—ईश्वर के आठ गुणों के नाम।

अर्थ—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न आठ गुण ईश्वर के हैं।

अर्थ—भगवान् शिव की कृपा होने पर संसार के विषयों में दोषदृष्टि होती है, दोष दृष्टि होने पर विषयों से वैराग्य होता है, वैराग्य होने पर कर्मों का त्याग हो जाता है। ब्रह्मा जी की कृपा-से शम, दम आदि साधनों की प्राप्ति होती है। जब विष्णु जी की कृपा होती है, तो मुमुक्षुत्व की प्राप्ति होती है। गणेश की प्रसन्नता प्राप्त होने पर गुरु चरणों का लाभ होता है, उससे ज्ञान का साधनभूत योगसंज्ञक ईश्वर विषयक ध्यान की प्राप्ति होती है। जब पार्वती की दया होती है, तो सांख्य नामक ज्ञान मिलता है, जिससे संसार का मर्दन करने वाला चित्त की प्रसन्नता मिलती है। सांख्योत्पत्ति के समय अर्थात् तद्विषयक ज्ञान जब होता है, तब शिव की कृपा-से वह ज्ञान मिलता है, जो संसार का मोचन करने वाला होता है।

प्रसादहेतुभूतेषु प्रणवाख्यो महामनुः ।
वरिष्ठः कथितः प्राजैर्देवतासु विशेषतः ।।
विष्णुर्मुख्यः .... ।

खरोष्ट्रतरवोऽपीशप्रसादेनैव केवलम् ।
अयत्नेन विमुच्यन्ते नात्र संदेहकारणम् ।।

प्रसादलाभाय हि धर्मसंचयः
प्रसादलाभाय हि देवतार्चनम् ।
प्रसादलाभ हि देवतास्मृतिः
प्रसाद लाभाय हि सर्वमीरितम् ।। (सू.सं. ४/२३)

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्चभिक्षुकः ।
सदोंनमः शिवायेति शिवमन्त्रं समाश्रयेत् ।
पञ्चाक्षरः सप्रणवो द्विजराज्ञोर्विधीयते ।।

अर्थ–प्रसाद (प्रसन्नता या कृपा) प्राति के कारणों में प्रणवाख्य (ओंकार नामक) महामन्त्र सबसे बड़ा है। विशेषकर के देवताओं में विष्णु की कृपाप्राप्ति के हेतु भूत में विद्वानों ने मुख्यतया स्वीकार किया है।

अर्थ–यदि भगवान् शिव की कृपा हो जाय, तो, गधा, ऊँट तथा पेड भी विना साधन या प्रयत्न के ही मुक्त हो जाते हैं, इस विषय संदेह का कोई कारण नहीं। फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है।

अर्थ–भगवान् शिव की कृपा पाने के लिए ही धर्म संचय किया जाता है। देवताओं की अर्चना भी उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के लिए ही होती है। देवताओं का स्मरण करने का उद्देश्य भी, केवल शिव के प्रसाद लाभ के लिए है, अन्य जितने भी श्रवणादि, भक्त्यादि कर्म हैं, ये सब उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के लिए ही कहे गये हैं।

सम्बन्ध–सबके लिए अधिकार के अनुसार सबीज एवं निर्बीज पञ्चाक्षरी जप का विधान।

अर्थ–ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक सर्वदा 'ॐ नमः शिवाय' इस मन्त्र का जप करे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिए यह मन्त्र प्रणव सहित विहित है, और वैश्य शूद्र तथा स्त्री के प्रणव रहित। चाहे कोई बुरे आचरणों वाला हो आचार हीन हो या फिर पतित या अत्यज ही क्यों

विटशूद्रजन्मनां वाऽपि स्त्रीणां निर्बीज एव हि।
दुवतो वृत्तहीनो वा पतितोऽप्यन्त्यजोऽपिवा।
जपेत्पञ्चाक्षरीं विद्यां जपेनैवाऽऽप्नुयाच्छिवम्।। (वसिष्ठः)

भक्तिः शंकरसायुज्यश्रद्धासारतरापरा।।
ब्रह्मा, विष्णुः, रुद्रः परतत्त्वविभूतयः।
त्रयाणामधिकः सर्वकारणभीश्वरः।

ततोऽधिकं परं तत्वं ज्ञानमानन्दमद्वयम्।
इयमेव हि सर्वेषां काष्ठा प्रोक्ता श्रुतौ।।

स्कन्धशाखादिभेदेन यथा वृक्षो व्यवस्थितिः।
तथारुद्रादिभेदेव शिव एको व्यवस्थितः।।

शिव एव स्वयं लिङ्गं लिङ्गं गमकमेव हि।
वेदान्तवाक्योत्थपरात्मविद्यां
शिवस्य लिङ्गम।।

न हो, उसे अवश्य ही इस पञ्चाक्षरी विद्या का जप करना चाहिए, इसके जप मात्र से ही वे शिव की प्राप्ति कर लेते हैं। (वसिष्ठः)

अर्थ–शंकर के सायुज्य में श्रद्धा, सारतरापरा (सारिष्ठ) भक्ति है। शिवतादात्म्यम्-अर्थात् शिव के साथ तादात्म्य होना। ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र परमतत्व की विभूतियाँ हैं। सबका कारण ईश्वर इन तीनों से श्रेष्ठ हैं।

अर्थ–उससे भी उत्कृष्ट ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप अद्वितीय परम तत्त्व है, यही निश्चय सबकी काष्ठा (अन्तिम सीमा) है, सबकी गति है—"सा काष्ठा सा परा गतिः" (सू.सं. ४/२७)

सम्बन्ध–शिव तत्व (अभेद) का कथन एवं 'लिङ्ग' शब्द की व्युपत्ति।

अर्थ–जैसे—तना, शाखा आदि के भेद से एक ही वृक्ष रहता है, तद्वत् एक ही शिव, ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र के भेद से स्थित है।

(लिगि-गतौ) धातु से लिङ्ग बना है। गति के ज्ञान, गमन, प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं।

अर्थ–शिव ही स्वयं लिङ्ग है। गमक (ज्ञापक) को ही लिङ्ग कहते हैं। अन्य लोग वेदान्त-

शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति मायाम् ।।
वदन्ति केचिज्जनचित्तमन्ये
त्वहंकृतिं चापि मनश्च बुद्धिम् ।।१६।।

प्राणं, शरीरं लिङ्गम्, त्वगादिखानि,
शब्दादि भूतानि, लोकाः ।
विशुद्धविद्याः परयोगिणोऽस्य
स्वयं प्रभस्यैव न लिङ्गमूचुः ।।१९।।

यद्यल्लिङ्गतया शिवस्य कथितं तत्तज्जडं वस्तुतः,
लिङ्गं नैव भवेद्विशुद्धमतयो,
ज्ञानं हि लिङ्ग भवेत् ।। (सू.सं. ४/२८)

आलयं लिङ्गमित्याहुरपरे वेदवित्तमाः ।
आलयो नाम चाऽऽधारः सर्वाधारः शिवः खलु ।

वाक्यों से जन्य परात्मविद्या को शिव का लिङ्गं (बोधक) कहते हैं। कुछ लोग शिव के आश्रित रहने वाली माया को शिव का लिङ्ग कहते हैं। दूसरे विद्वान् जीवों के चित्तों को अथवा अहंकारादि वृत्तियों को, कार्यभेद से स्थित अन्तःकरण रूप मन या फिर बुद्धि को शिव का ज्ञापक (लिङ्ग) बताते हैं ।।१६।।

कुछ वि...क प्राण को, तो कुछ शरीर को, कतिपय त्वगादि इन्द्रियों को, बहुत-से सूक्ष्म भूतों को अन्य लोग स्थूल महाभूतों को, अन्यान्य विचक्षण पातालादि लोकों को। किन्तु विशुद्धविद्यावाले तत्वदर्शी योगी जन कहते हैं कि स्वयं प्रकाशस्वरूप शिव का कोई लिङ्ग नहीं है ।।१९।।

लीङ् संश्लेषणे–लीयतेऽस्मिल्लिँङ्गम्। लीङ् धातु संश्लेषण अर्थ में है—जिसमें सब लीन होता हो वह लिङ्ग है।

अर्थ–कुछ अन्द वैदिक विद्वान् आलय (लिङ्ग मूर्ति) को शिव का लिङ्ग कहते हैं। आलय का अर्थ आधार होता है, चूँकि शिवलिङ्ग में शिव का आवाहन किया जाता है, अतः आलय को शिवलिङ्ग ऐसा कहते हैं। वस्तुतः उस आलय का भी आलय तो साक्षात् परमेश्वर शिव ही हैं। इस

अतः सत्यचिदानन्दलक्षणः परमेश्वरः ।
स्वयमेव सदा लिङ्ग न लिङ्ग तस्य विद्यते ।।
लीयते हि शिवादन्यदशेषमशिवं शिवे ।
ब्रह्मरन्ध्रे—साक्षिरूपं लिङ्गमुपासनीयम् ।
आज्ञाचक्रे—तमोगुणोपाधिकं संहारव्यापारं रुद्रसंज्ञितम् ।
अनाहते—तदेव तत्त्वं जगत्पालनव्यापारं विष्णुरूपं लिङ्गम् ।
मणिपूरे—जगत्सर्ग व्यापारं ब्रह्मसंज्ञं लिङ्गम् ।
मूलाधारे—गुणसामान्योपाधिकं परतत्त्वंगणेश लिङ्गम् ।
मध्यमस्थमहामन्त्रैरर्चनीयन्तुयोगिभिः । (सू.सं. २८)
नाभिस्थाने, प्रणवावयवैः, ह्रींकारावयवैः । (टीका)
निस्तरङ्गशिवे परमात्मनि प्रत्ययस्य लयः परयोगिणः ।
(सू.सं. ४/२८)

दृष्टि से सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर स्वयं ही लिङ्ग है, उनका कोई लिंग नहीं है। शिव-से अन्य जो कुछ अशिव है, वह सम्पूर्ण शिव में लीन हो जाता है।

अर्थ—ब्रह्मरन्ध में—साक्षिरूप लिङ्ग की उपासना करनी चाहिये।

अर्थ—आज्ञाचक्र में तमोगुण की उपाधिवाले संहार व्यापार युक्त रुद्र संज्ञक शिव की उपासना करनी चाहिये।

अर्थ—अनाहत् चक्र में वही तत्व जगत्पालन पालनरूपी व्यापार से युक्त विष्णुरूप में उपासनीय है।

अर्थ—मणिपूर चक्र में जगत्सृष्टि व्यापार वाले स्वरूप में ब्रह्म संज्ञक लिङ्ग नाम वाले उस तत्व की उपासना करनी चाहिये।

अर्थ—मूलाधार में उसी परम तत्त्व का गणेशलिङ्ग के रूप में उपासना करनी चाहिये।

अर्थ—उदर के मध्य में नाभिस्थान में स्थित मणिपूर वाले चक्र को मध्यम कहते हैं, उसमें स्थित महामन्त्र 'ओंकार' उसका प्रथम अवयव अकार, ह्रींकार, उसके अवयव के द्वारा उस महाशिव की पूजा योगिजनों को करनी चाहिये।

पुण्डरीकपुरमुत्तमं मम स्थानम् ...... ।
स्वराट् समाख्यस्य हृदिस्थितम् ।
सदा परानन्दविकासकारणम् ।
अत्र नृत्तमतिशोभनं परं, सत्यबोधसुखवस्तु बोधकम् ।
भक्तचित्तहृदयस्थिम् अन्तरङ्गजनमप्यतिप्रियं,
नृत्तमत्र परिपश्यति स्वयम् ।।
शब्दजालपरिमोहिता जनास्तर्कजालपरिमोहिता अपि ।
अत्र नैव ददृशुश्च नर्तनं भक्तिहीनजनताऽप्यघोक्षज ।।
(सू.सं. ४/२९)

अर्थ–निरस्त (निर्विशेष) परमात्मा शिव के विद्यमान रहते चित्तवृत्ति का लय हो जाना परम योगियों की शिव अर्चना है।

सम्बन्ध–भगवान् शिव स्वयं अपने मुख-से अपने स्थान को (स्वयं के रहने के स्थान को) बता रहे हैं—मम स्थानानि वक्ष्यामि महामोहनिवृत्तये ब्रह्मरन्ध्रं (स्थानं) योगिध्येयं च मुक्तिदम् ।

अर्थ–भगवान् ईश्वर ने कहा—हे पुरुषोत्तम ! में अपने स्थान के बारे में बता रहा हूँ। श्रद्धा के साथ उसका श्रवण करो।

योगियों के द्वारा सेवित ब्रह्म रन्ध्र मुक्ति को देने वाला मेरा श्रेष्ठ स्थान है। पुण्डरीकपुर मेरा अति उत्तम स्थान है। (सूक्ष्म शरीर में मनका स्थान जो है, वह पुण्डरीक पुर है) अर्थात् स्वराट् नामक हृदयस्थ जो स्थान है वह पुण्डरीकपुर है।

वह स्थान सर्वदा परमानन्द को बढ़ाने का कारण है। वहाँ में अत्यन्त सुन्दर नृत्त की अभिव्यक्ति करता हूँ, जो कि सच्चिानन्दस्वरूप सत्य वस्तु का ज्ञापक है। वह नृत्त भक्तों के चित्तों के मध्य ही व्यक्त होता है। मेरे जो अन्तरङ्ग भक्त हैं, जैसे—शिवा, गणेश, स्कन्द रुद्र–ये ही उस नृत्त का दर्शन कर पाते हैं। जो शब्द जाल से चारों और से घिरे हैं, तर्कजाल-से मोहित हैं, जो भक्ति-से शून्य हैं, उन्हें उस परम नृत्त के दर्शन नहीं होते।

।। श्रीविष्णुकृत मातृकारूपशिवस्तोत्रम् ।।

(श्रीविष्णुर्ऋषिः, अनुष्टुपछन्दः, श्रीशिवोदेवता, मातृकाशक्तिः)

(मातृका पञ्चाशदक्षररूपमन्त्रतादात्म्येन शिवोऽनुसंध्येयः)

अकाराय नमः साक्षादनन्तानन्दमूर्तये ।
आत्मभूताय सर्वेषामतिशुद्धायशूलिने ।।१।।
आकारायातिशुद्धाय साक्षिणे सर्ववस्तुनः ।
अम्बिकापतये तुभ्यमसङ्गाय नमोनमः ।।२।।
इकारायेश्वराख्याय सर्वसिद्धिकराय च ।
इन्द्रादिलोकपालानामियत्ताकारिणे नमः ।।३।।
ईकारायवरिष्ठाय वाञ्छितार्थप्रदाय च ।
वञ्चकानामलभ्याय वसुदाय नमो नमः ।।४।।
उकारायोग्रजन्तूनामुग्ररूपाय शूलिने ।
उत्तमानां तु जन्तूनामुपास्याय नमो नमः ।।५।।

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियों (जीवों) के आत्मस्वरूप अतीव निर्मल, शूल आदि आयुध धारण करने वाले, आदनन्द मूर्ति (स्वरूप) (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इतिश्रुतेः) ऐसे साक्षात् अकार (वर्णरूप), परमात्मा शिव के लिए, नमस्कार है ।।१।।

सम्पूर्ण वस्तुओं के साक्षी, मायाविद्या उपाधि रूप सम्बन्ध के परित्याग से अतिशुद्ध अम्बिका के पति होते हुए भी असंग (असंगो ह्ययं पुरुषः) आकाररूप आपको बारम्बार नमस्कार है ।।२।।

'ईश्वर' इस नाम वाले सम्पूर्ण सिद्धियों को प्रदान करने वाले। इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपालों को सीमित सामर्थ्य प्रदान करने वाले इकार रूप शिव को नमन है ।।३।।

अत्यन्त वरिष्ठ (सबसे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ) इच्छित वस्तुओं को देनेवाले, वञ्चना करनेवालों के लिए अलभ्य तथा अपने अथार्थी भक्तों को वसु (धन) प्रदान करने वाले, ईकार रूप देव को पुनः-पुनः नमस्कार है ।।४।।

उग्र जन्तुओं को दण्ड देने के लिए, हाथ में शूल धारण करने के कारण उग्रस्वरूप वाले उत्तम जन्तुओं (प्राणियों) के द्वारा पूजित होने वाले 'उकार' रूप आपको मुहूर्मुहुः नमस्कार है ।।५।।

ऊकारायोपवीताय ह्यूर्जितायोत्तमात्मने ।
उत्तमज्ञानगम्याय नमस्ते परमात्मने ।।६।।
ऋकारायाऽऽदिभूताय रामपूर्वार्चिताय च ।
ऋचामथस्वरूपाय नमः सत्यपरमात्मने ।।७।।
ॠकाराय निसर्गाय नित्यतृप्तायशंभवे ।
रसादिभूतरूपाय नमः शुद्धचिदात्मने ।।८।।
ऌकाराय लसद्गण्डमण्डिताभरणाय च ।
लिङ्गलिङ्ग्यादिहीनाय लिङ्गरूपाय तेनमः ।।९।।
ॡकाराय लयस्थाय ध्वंसकायाऽऽदिहेतवे ।
लाक्षारुणशरीराय लाभस्थानाय वै नमः ।।१०।।
एकाराय नमः शश्वदिदंतासाक्षिणे तथा ।
अहंतासाक्षिणे साक्षात्प्रत्यगद्वयवस्तुने ।।११।।

उपवीताय–भोगमोक्षार्थिभिः सकललौकेरुपगगताय। भोग तथा मोक्ष की याचना करने वाले सभी व्यक्ति आपके पास ही उपगत होते है (आते हैं) अत्यन्त सामर्थ्यवान् आत्मस्वरूप श्रेष्ठ ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप में जो गम्य है, ऐसे 'ऊँकार' रूप आपको नमस्कार है ॥६॥

सबके कारणस्वरूप, पूर्वकाल में राम के द्वारा अर्चित, सम्पूर्ण ऋग्वेद के ऋचाओं के अर्थरूप, सत्यात्मक आत्मरूप से स्थित, ऋकाररूप शिव के लिए नमस्कार है ॥७॥

निसर्गायसमस्तवस्तूनां स्वाभाविकरूपाय–समस्त वस्तुओं के स्वाभाविक रूपवाले, नित्यतृप्त, शुद्ध चिदात्मा होते हुए भी जलादि महाभूतों का रूप धारण करने वाले ॠकार रूप शम्भु को नमस्कार है ॥८॥

हे शिव! कुण्डलादि आभरणों से शोभायमान् कपोल वाले, ज्ञानस्वरूप, प्रमाण, प्रमेय के विभाग से रहित, ऌकारस्वरूप वाले आपको नमस्कार है ॥९॥

प्रलयकाल में भी स्थित रहनेवाले, सबके आदिकारण, ध्वसकर्ता, लाक्षा की तरह अरुण गात्रवाले, सम्पूर्ण जीवों के कर्मफल के दाता, ॡकार वर्णरूप वाले के लिए नमस्कार है ॥१०॥

शश्वद् अर्थात् सनातन (सदा रहने वाले) 'इदंता' (यह) एवं 'अहंता' (मैं) रूप से भासने वाले के साक्षीस्वरूप, साक्षात् प्रत्यग (अपरोक्ष), अद्वितीय एवं यथार्थ वस्तुरूप में प्रतीत होनेवाले आप 'एकार' रूप परमात्मा को नमस्कार है ॥११॥

ऐकारायामलज्ञानप्रभावपरिशीलिनाम ।
आत्मरूपतया नित्यं प्रतीताय नमो नमः ।।१२।।
ओकाराय विरिञ्चाय विष्णवे रुद्रमूर्तये ।
वाच्यवाचकहीनाय स्वयंभानाय वै नमः ।।१३।।
औकाराय महेशाय महामन्त्रार्थरूपिणे ।
महादेवाय मात्रादिप्रपञ्चाय नमो नमः ।।१४।।
बिन्दुरूपाय बीजाय बीजाधिष्ठानरूपिणे ।
बीजनाशकरज्ञानस्वरूपाय नमो नमः ।।१५।।
विसर्जनीयरूपाय विस्मयाय महात्मने ।
विसर्जनीयनिष्ठानां विशेषार्थाय वैनमः ।।१६।।
ककाराय कपूर्वादिदेवतापूजिताय च ।
करणग्रामसंहर्त्रे कालावीताय वैनमः ।।१७।।

अमल (निर्मल) ज्ञान के प्रभाव का परिशीलन करने वाले आत्मस्वरूप नित्य, प्रत्यक्, रूप से प्रतीत होने वाले आप 'ऐकार' रूप ईश्वर को नमस्कार है ।।१२।।

ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रमूर्तिवाले, वाच्य एवं वाचक से रहित (शब्दशक्ति-से असम्बद्ध) स्वयं स्वप्रकाश से होने वाले, ओकाररूप महादेव को नमस्कार है ।।१३।।

हे भगवान् ! आप ओंकार रूप महामन्त्र के अर्थरूप हैं। महान् ईश्वर हैं, अर्थात् सब पर आपका शासन चलता है। महान् दिव्यगुणों से युक्त, पञ्चमहाभूत, तन्मात्रावाले हैं, आपको बार-बार नमस्कार है ।।१४।।

आप बिन्दु (अनुस्वार) रूप परमात्मा के लिए नमस्कार है। जगत् के बीज (मूल कारण अविद्या के अधिष्ठानरूप) माया का नाश करने वाले ज्ञानस्वरूप आप को नमस्कार है ।।१५।।

परमाश्चर्य[illegible], महानात्मा, विसर्जनीयनीष्ठ (संसार का त्याग करनेवाले महात्माओं के द्वारा) विशेषतया प्रार्थनीय (ज्ञानमिच्छेच्छकराद्) आप विसर्ग रूप परमात्मा के लिए नमस्कार है ।।१६।।

ककार [illegible]प-से स्थित आपके लिए नमस्कार है। जिनके नाम का आदि अक्षर 'क' है अर्थात् ब्रह्मा आदि देवताओं के लिए पूजनीय (इनके द्वारा पूजित) लिङ्ग शरीर के नाशक आप काल की सीमा से भी परे हैं ।।१७।।

खकाराय खपूर्वादिभूत पञ्चकहेतवे।
खमूर्ताय खलप्रज्ञागोचराय नमोनमः ।।१८।।
गकाराय गणेशाय गणवृन्दार्चिताय च।
गङ्गाधराय गुह्याय गुणातीताय तेनमः ।।१९।।
घकाराय घनाकार घातकाय घनात्मने।
घटादिजगदाकाररहिताय नमो नमः ।।२०।।
ङकाराय ङमन्त्रार्थस्वरूपाय शिवात्मने।
ङाङीङूसंजितार्थनामगम्याय नमो नमः ।।२१।।
चकाराय चमन्त्रार्थस्वरूपायामितात्मने।
चमन्त्रार्थनिषण्णानाममृताय नमोनमः ।।२२।।

आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के कारण, आकाश मूर्तिवाले, दुष्टों की प्रज्ञा के द्वारा न समझे जाने वाले, आप खकार वर्ण रूप परमात्मा को नमस्कार है ।।१८।।

सम्पूर्ण गणों के ईश्वर, स्वगणों सेवित (अर्चित), अपनी जटओं में ज्ञान गंगा को या गंगादेवी को धारण करनेवाले, सबके हृदय गुफा में छुपे हुए सत्त्वादिगुणों से परे गष्कार रूपी ईश्वर के लिए नमस्कार है ।।१९।।

घन अर्थात् (ठोस) जो पोला नहीं हो ऐसे मूर्त प्रपञ्च का रूप धारण करने वाले, बादल के आकार की तरह आच्छादक, अज्ञान के घातक, घतादि समस्त जगत् के आकार से रहित 'घकार' रूपी प्रभु के नमस्कार है ।।२०।।

कल्याणस्वरूप, ङमन्त्रार्थरूप अर्थात् ङवर्ण मन्त्र के अर्थ रूप में प्रसिद्ध शिव, रूप वाले, ङा, ङी, ङू संज्ञा वाले पार्वती के भी द्वारा जो गम्य नहीं, ऐसे ङकार रूप परमात्मा के लिए नमन है ।।२१।।

ङमन्त्रार्थः—एकरुद्र आर्द्राद्युपलक्षितः।

ङमन्त्र का अर्थ—एक रुद्र आद्रादि से उपलक्षित (द्योतित) होते हैं।

'च' मन्त्र के अर्थरूप, अमितात्मा (अनन्त) रूपवाले, 'च' मन्त्र के अर्थ में निष्ठा रखने वालों को अपने अमृतस्वरूप का बोध करनेवाले आप 'चकार' स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है ।।२२।।

चमन्त्रार्थः—आत्मशक्तिः कुर्मेशः।

'च'कार अर्थ—आत्म शक्ति वाले कुर्मेश।

छकारायच्छलालस्यच्छादनादिविशेषतः ।
छादनच्छन्दनच्छन्नविभागाय नमो नमः ।।२३।।
जकाराय जगच्छक्तिस्वरूपाय जयार्थिनाम् ।
जयप्रदाय देवाय जम्भमोहाय ते नमः ।।२४।।
झकाराय झमन्त्रार्थस्वरूपायामृतात्मने ।
झमध्यचन्द्रबिम्बाय नमः साम्बाय शंभवे ।।२५।।
ञकाराय ञमन्त्रर्थस्वरूपाय ज्ञमूर्तये ।
ज्ञप्तिमात्रैकनिष्ठानां मुक्तिदाय नमो नमः ।।२६।।

आप 'छ' रूप वर्ण वाले परमात्मा को नमस्कार है। सम्पूर्ण जीवों के हृदयगुहा में निहित जीवों के मोक्ष की इच्छा को जगाने वाले, छल, आलस्य, माया आदि छादकों आवरणों को छिन्न-भिन्न करनेवाले, 'छकार' रूप धारण कर स्थित आपका बारम्बार नमस्कार है ॥२३॥

जगत् की उत्पत्तिस्थितिसंहारविषयक जो शक्ति वह आपका ही स्वरूप है। जय की अभिलाषा रखने वालों को आप ही जय प्रदान करते हैं। आप स्तुत्य है, क्योंकि सारे दिव्य गुण, परिपूर्ण रूप-से आप में ही रहते हैं। 'जम्भयतीति जम्भो मोहः' मूल अज्ञान के भी अधिष्ठान स्वरूप आप ही हैं, ऐसे जकार रूप आपको नमस्कार है ॥२४॥

अमृतस्वरूप परमात्मा आप ही 'झ' मन्त्र के अर्थ हैं। झकार लक्षित अमृत मध्य में है, जिसके ऐसे झमध्यचन्द्र वह बिम्ब (मूर्ति) जिसका स्वरूप है, ऐसा अमृत से परिपूर्ण चन्द्रमा का मण्डल आपका ही स्वरूप है, साम्ब मूर्ति परमात्मा जो झकार रूप से विराजमान हैं, उनके लिए नमस्कार है ॥२५॥

झमन्त्रार्थः—श्रीकण्ठादौ द्रापिणीशक्तियुक्तः ।

झमन्त्र का अर्थ—श्रीकण्ठादि में द्राविणीशक्ति युक्त।

ज्ञानमूर्ति 'ञ' मन्त्र के अर्थरूप, ज्ञप्तिमात्र स्वरूप में स्थित परमहंसों को मूक्ति प्रदान करने वाले 'ञ'कार स्वरूप, परमात्मा को नमस्कार है ॥२६॥

ञमन्त्रार्थः—नागरीशक्तिसहितः शर्वः ।

ञमन्त्र का अर्थ—नागरीशक्ति के साथ शर्व।

टकाराय टटाटीटूपूर्वकैस्तु महारवैः ।
अर्चिताय सुरश्रेष्ठैरसुरैश्च नमो नमः ।।२७।।
ठकाराय ठमन्त्रार्थस्वरूपाय ठमन्त्रतः ।
ठठादिगणपूज्याय ठमध्याय नमो नमः ।।२८।।
डकाराय डडाडीडूडेडोडैश्च महारवैः ।
डामरैरभि पूज्याय नमो नृत्य प्रियाय च ।।२९।।
ढकाराय ढमन्त्रार्थपरिज्ञानवतां नृणाम् ।
ढसंज्ञितमहानन्दप्रदाय सततं नमः ।।३०।।
णकाराय णणाणीणूणेणोणौरवैः सदा ।
णाकिनींगणपूज्याय णसंज्ञाय नमो नमः ।।३१।।

सुर श्रेष्ठ इन्द्रादि देवताओं एवं अन्धकादि असुरों के द्वारा ट, टा, टी, टू आदि ध्वनियों से महान् कोलाहल पूर्वक अर्चित 'टकार' रूप आप महेश्वर को नमस्कार है ॥२७॥

ठकार रूप-से स्थित आप शिव को नमस्कार है। हे प्रभु ! आप 'ठ' मन्त्र के अर्थस्वरूप है। ठ, ठा आदि शब्द करनेवाले पार्षदगण ठ–मन्त्र से आपकी अर्चना करते हैं। चन्द्र के अधिष्ठा आप को नमस्कार है ॥२८॥

ठमन्त्रार्थः—मञ्जरीशक्तिसहितलांगली ।

ठमन्त्र का अर्थ—मञ्जरीशक्ति सहित लांगली ।

डकार रूप 'वर्ण' वाले आपको नमस्कार है। भयङ्कर कोलाहल करने वाले ड, डा, डी, डू, डे, डो, डै इन शब्दों का उच्चारण कर बहुत अधिक काताहल करते हुए आपकी पूजा करते हैं, वस्तुतः आपको नृत्य प्रिय भी है ॥२९॥

ढ़मन्त्र का परिज्ञान रखने वाले लोगों को ढ–संज्ञक महान् आनन्द देनेवाले, ढकार रूप आप परमात्मा को निरन्तर प्रणाम है ॥३०॥

ढमन्त्रार्थः—वीरिणीशक्तिसहित अर्धनारीश्वरः ।

ढमन्त्र का अर्थ—वीरिणीशक्ति के साथ अर्धनारीश्वर शिव ।

णाकिनी शब्द का अनुकार्य छण्ट ध्वनि की तरह शब्द करने वाले पार्षद गण ण, णा, णी, णू, णे, णै, णै, णौ आदि शब्द से आपकी पूजा करते है। 'ण' अभिद्यान धारण करने वाले 'ण' रूप परमात्मा को बारम्बार नमस्कार है ॥३१॥

णमन्त्रार्थः—कोटरीशक्तिसहित उमाकान्तः ।

णमन्त्र का अर्थ—कोटरीशक्ति सहित उमाकान्त ।

तकाराय तमन्त्रार्थस्वरूपाय तताय च।
तत्त्वमित्यभिपूज्याय तत्त्वभूताय वैनमः ॥३२॥
थकाराय थमन्त्रार्थस्वरूपाय थसंज्ञितैः।
महागणैश्च पूज्याय थमध्याय नमो नमः ॥३३॥
दकाराय दयारूपमहाशक्तिमयाय च।
देशजातिविहीनाय दिवारात्राय वै नमः ॥३४॥
धकाराय धरण्यादिमहाभूतस्वरूपिणी।
धराधरहृदिस्थाय धमध्याय नमो नमः ॥३५॥
नकाराय नगेन्द्राय नामजात्यादिहेतवे।
नमः शिवाय नम्यायनानारूपाय शूलिने ॥३६॥

सबसे अधिक विस्तृत यानी व्यापक 'तमन्त्र' के वाच्यरूप, वास्तविक रूप से सर्वदा स्थित 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से अभिपूजित, 'त'काररूप आप ईश्वर को नमस्कार है ॥३२॥

णमन्त्रार्थः—कोटरीशक्तिसहित आषाढीशः।

णमन्त्र का अर्थ—कोटरीशक्तिसहि आषाढीश।

'थकार' रूप धारण करने वाले आपको नमस्कार है। आप 'थ' मन्त्र के अर्थस्वरूप हैं। थथा संज्ञक महागणों द्वारा आप पूज्य है, ये आपकी पूजा किया करते हैं। 'थ' वर्ण आपके 'प्रमथेश्वर' नाम के मध्य में आता है ॥३३॥

'दकार' रूप वाले आपको नमन है। आप दयारूप महती शक्ति से परिपूर्ण है, दयासागर आदि अभिधानों से कहे जाते हैं। न तो आपका कोई एक देश है, और न जाति, आप दिवारात स्वरूप हैं, आप ही दिन हैं, आप ही निशा हैं ॥३४॥

धरती, जल, वायु आदि महाभूत आपके स्वरूप हैं। धरा को धारण करने वाले कैलास पर्वत के हृदयस्थान (मध्य भाग) में आप निवास करते हैं। ध मध्य नामवाले अर्थात् 'मेघाप्रद' नाम के मध्य धकार है। ऐसे 'ध' रूप वर्ण या नाम वाले आपको नमस्कार है ॥३५॥

'नकार' रूप वर्ण वाले आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण पर्वत राजों के भी आप राजा हैं। जितने भी नाम या जातियाँ हैं, सबके कारण आप ही हैं। कल्याणरूप वाले आपको नमस्कार है, वस्तुतः नमन के योग्य आप ही है। नानारूप से युक्त शूलधारण करने वाले आप 'न' कार रूप परमात्मा को नमन है ॥३६॥

पकाराय परानन्दस्वरूपाय परात्मने ।
परापरविहीनाय पावनाय नमोनमः ।।३७।।
फकाराय फलाख्याय फलाख्यगणयोनये ।
फलाख्यगणपूज्याय नमः पूर्णस्वरूपिणे ।।३८।।
बकाराय बकाराख्यमहाबीजैकजापिनाम् ।
बन्धनागारनाशैकहेतवे वेधसे नमः ।।३९।।
भकाराय भवाब्धेस्तु तारकाय भवायते ।
भवशब्दैकवेद्याय भवानीपतये नमः ।।४०।।
मकाराय महामायापाशनाशैकहेतवे ।
ममकार विहीनानां महानन्दाय वैनमः ।।४१।।

'पकार' रूप परमात्मा आपको पुनः पुनः प्रणाम है। आप परम आनन्दस्वरूप परमात्मा हैं। पर-अपर आदि भेदों से आप रहित हैं। सबको पवित्र करने के कारण आप पावन हैं ।।३७।।

'फकार' रूप धारण करने वाले आपको प्रणाम है। कर्मों के फल नाम वाले अर्थात् राजयोग जनित प्राप्तव्य फल नाम वाले आप ही हैं। नाना प्रकार के शास्त्रीय शुभ अनुष्ठानों के फलस्वरूप से सम्पन्न आपके गण फल नामक गण कहे जाते हैं। उन्हें भी फल प्रदान करनेवाले आप ही हैं। वे नित्य आपकी पूजा करते हैं। पूर्ण स्वरूप वाले आपको नमस्कार है ।।३८।।

'बकार' रूप वाले परमात्मा आपको बारम्बार वन्दन करता हूँ। बकार संज्ञक महाबीज मन्त्र का जप करने वालों के बन्धन रूपी कारागार के नाश के कारण रूप आप ही हैं। सम्पूर्ण कर्मों के विधान करनेवाले भी आप ही हैं।।३९।।

जन्म-मृत्यु रूप संसार सागर-से तारनेवाले भव (सद्रुप) भवानी के पालन करने वाले 'भव' शब्द के ज्ञान द्वारा जाने जानेवाले 'भकार' रूप आपको भूयो-भूयो नमस्कार है ।।४०।।

'मकार' रूप से संसार में प्रसिद्ध आपको नमस्कार है। महामाया के पाश को नाश करने के कारण रूप आप ही हैं। निश्चय ही अहंता-ममता से शून्य साधु पुरुषों के लिए आप परम आनन्द-स्वरूप हैं ।।४१।।

यकाराय यथार्याय यथार्थज्ञानिनां नृणाम् ।
यथार्थप्रत्यगद्वैत ब्रह्मणे सततं नमः ।।४२।।
रकाराय रतिप्रीतिप्रियायरतिहेतवे ।
रशब्दवपुषे रोगभवनाशाय वै नमः ।।४३।।
लकाराय लतासोमस्वरूपाय लतात्मने ।
लाभालाभविहीनाय लब्धरूपाय वै नमः ।।४४।।
वकाराय वरिष्ठाय वासुदेवादिहेतवे ।
वाञ्छावागुरविच्छित्तिहेतुभूताय वैनामः ।।४५।।
शकाराय शरण्याय शंभवे शरणार्थिनाम् ।
शरणाय शरच्चन्द्रधवलाय नमो नमः ।।४६।।
षकाराय षडाधारषट्चक्रादिस्वरूपिणे ।
षडक्षर निषण्णाय नमः षण्मुख हेतवे ।।४७।।

'यकार' रूप वाले यज्ञपति को नमस्कार है। यथार्थ ज्ञानियों के लिए आप ही तत्त्व हैं। यथार्थ को जानने वाले आपको सत्य एवं प्रत्यक् अद्वैत ब्रह्म ऐसा मानते हैं ।।४२।।

'र' शब्द ही जिनका वपु (शरीर) है, ऐसा 'रकार' रूप परमात्मा का नमस्कार है। रति में प्रीति रखनेवालों के प्रिय, रति के कारण, रोग रूप संसार के नाशक भी आप ही हैं ।।४३।।

'लकार' रूप वाले आपको नमस्कार है। सोमलता के स्वरूप में आप ही हैं। लताओं की आत्मा, उसके पोषक तत्त्व चन्द्र आप हैं। आपको न किसी प्रकार का लाभ है, और न हानि। सब-कुछ सर्वदा आपको प्राप्त ही है ।।४४।।

'वकार' वर्ण रूप वाले आपको नमन है। आप सबसे वरिष्ठ (श्रेष्ठ) हैं। वासुदेव आदि स्वरूप के कारण आप हैं। वाञ्छा नामक पिंजड़े के विच्छित्ति (नाश) के कारण निश्चय आप ही हैं ।।४५।।

हे भगवान् आप ही शरण लेने योग्य हैं। शरणार्थियों का कल्याण करने वाले भी आप हैं। सम्पूर्ण प्राणियो के रक्षक शरच्चन्द के समान श्वेत वर्ण वाले आप 'शकार' रूप परमात्मा को प्रणाम है ।।४६।।

हे षकार रूप देव! आपको प्रणाम करता हूँ। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध आज्ञा तथा सहस्रासार ये षट्आधार शरीर में है, इनमें स्थित देवतादि आपके ही स्वरूप हैं। षडक्षर के द्वारा आप प्राप्त करने योग्य हैं। षण्मुख वाले देवों के सेनापति कार्तिकेय जी के जनक आपको नमन है ।।४७।।

सकाराय सशब्दार्थस्वरूपाय सदात्मने ।
साक्षिणेऽसाक्षिरूपाणां नमः साधूपकारिणे ।।४८।।
हकारायाहमर्थाय सदाऽहंकार साक्षिणे ।
हाहाहूहूकगीताय हंसरूपाय वै नमः ।।४९।।
लकाराय लकाराख्यमहामन्त्राप्रियाय च ।
लोलाचञ्चलसंसारनाशनाय नमो नमः ।।५०।।
क्षकाराय क्षमन्त्रार्थस्वरूपाय क्षमावताम् ।
क्षेमदाय मम क्षेमस्वरूपाय नमो नमः ।।५१।।
मातृकावपुषे मातृमानमेयादिसाक्षिणे ।
मातृकामन्त्रलभ्याय महसे च नमो नमः ।।५२।।

'स' शब्द के अर्थ रूप, सदात्मा, विषयासक्त संसारी लोगों में आसक्ति रहित, साधुओं के उपकारी सकाररूप आपके लिए नमस्कार है ।।४८।।

'हकार' रूप वाले परमात्मा आपको नमस्कार है। सर्वदा अहंकार के साक्षी रूप से स्थित, अहं शब्द के शक्यार्थ, हाहा, हूहू संज्ञक गन्धर्वो के द्वारा गाये जानेवाले, आप अजपा (हंस) मन्त्र रूप हैं ।।४९।।

'लकार' नामक महामन्त्र के अतिप्रिय, अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते के सदृश सर्वदा चञ्चल संसार के नाश करने वाले लकार रूप आपको बार-बार प्रणाम है ।।५०।।

विशेष–लकार मन्त्र दो बार आया है। पहले लकार को अन्तःस्थ में माना गया है, दूसरा लकार वर्ण वर्णसमाम्नाथ के क्रम के अनुसार है।

'क्षकार' रूप आप परमात्मा को बारम्बार नमस्कार है। आप 'क्ष' मन्त्र के अर्थ स्वरूप हैं। क्षमादान करनेवालों के आप क्षेम का वहन करते हैं। मुझ विष्णु के क्षेमका भी वहन करने वाले या रक्षक आप हैं ।।५१।।

क्षमन्त्रार्थः–मायाशक्तिसहित संवर्तकेयः ।

क्षमन्त्र का अर्थ–मायाशक्तिसहित संवर्तकेय ।

मातृका वपु धारण करने वाले आपको प्रणाम है। अ-से क्ष तक सम्पूर्ण वर्णों को मातृका कहते हैं। सम्पूर्ण अक्षर उनके अवयवस्वरूप हैं। प्रमाण-प्रमेय एवं प्रमाता के भी आप साक्षी हैं। मातृका मन्त्र के द्वारा आप लभ्य हैं। आप सबसे महान् हैं ।।५२।।

मातृकाधारभूताय मातृकामूलरूपिणे ।
महामन्त्रैकवाच्याय महसे ब्रह्मणे नमः ।।५३।।
अष्टधा चाष्टवर्गैस्तु विभक्तायामलात्मने ।
अशेषशब्दभूताय तत्तदर्थाय वै नमः ।।५४।।

।। सर्वोपाधिविहीनाय स्वयंभानाम वै नमः ॐ ।।

महाभस्म महादेवो महामायावभासकः ।
भर्त्सनात्सर्वपापानां भासनं तस्य विद्यया ।। (सू.सं. ४/३०)

मातृका वर्णों के भी आप आधार हैं। मातृका वर्णों का मूल रूप जो शब्द ब्रह्म वह आप ही हैं। हे महान् ब्रह्म आपको नमस्कार है ।।५३।।

यद्यपि आप निराकार हैं तथापि आठ वर्गों में आठ प्रकार-से विभक्त हैं। १. स्वरवर्ग, २.क वर्ग, ३. च वर्ग, ४. तवर्ग, ५. तवर्ग, ६. पवर्ग, ७. म वर्ग और ८. शवर्ग। सम्पूर्ण शब्द एवं उनके अर्थ आप ही हैं। ऐसे स्वरूप वाले आपको नमस्कार है ।।५४।।

सम्पूर्ण उपाधियों से रहित स्वयं प्रकाश-
स्वरूप आपको नमस्कार है ।।ॐ।।

सम्बन्ध–महाभस्म का स्वरूप उसकी महिमा।

अर्थ–तत्त्व की मीमांसा करने वाले धार्मिकों ने भस्म के नानाप्रकार बताये हैं। एक महाभस्म तथा दूसरा स्वल्प भस्म।

महादेव स्वयं साक्षात् महाभस्म हैं, वे महामाया एवं तत्कार्य के साक्षित्वेन प्रकाशक होने से, तत्वज्ञान प्रदान कर सम्पूर्ण पापों का क्षयतया (नाश करने के द्वारा) भर्त्सन (निन्दा या धमकाना) करते हैं। महाभस्म के स्वरूप को जानने वाले के लिए तप-दान, यज्ञ आदि की कोई उपयोगिता नहीं। न तो फिर लौकिक भस्म, जटा, वस्त्र आदि का ही प्रयोजन रह जाता है। उसके लिए वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी कोई कर्तव्य भी शेष नहीं रह जाते, और न ही उसे शास्त्र-से कोई प्रयोजन होता है।

स्वल्प भस्म के अनेक भेद हैं। पहला श्रौत भस्म, दूसरा स्मार्त, लौकिक भस्म। श्रौतभस्म प्रधान, स्मार्त गौण है। श्रौति एवं स्मार्त भस्म में द्विजों का ही अधिकार है, अन्य लोगों के लिए लौकिक भस्म हैं।

त्रिपुण्ड्रधृग्विप्रवरो यो रुद्राक्षधरः शुचिः।
स हन्ति रोगदुरितव्याधिदुर्भिक्षतस्करान्॥ (टी०)

हकारो हुं फडग्रस्तो हार्दो हृत्पावनोऽवछिः। (सू.सं. ४/३३)

(श्रुतिविहीत यज्ञादि से प्राप्त भस्म श्रौत एवं स्मार्त तथा पुराणों (शिवपुराणदि) में बताये गए नियम के अनुसार निर्मित स्मार्त भस्म है, इन दोनों विधियों के अनुसार जिसका निर्माण न हुआ हो वह लौकिक भस्म है। द्विजों को मन्त्र सहित भस्म धारण करना चाहिए एवं अन्य लोगों को बिना मंत्र के लगना चाहिये।

द्विजजनों को 'त्र्यायुषम्' इस मन्त्र-से त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये। ब्रह्मचारी 'मेधावी' इस मन्त्र से प्रतिदिन त्रिपुण्ड्र धारण कर सकता है।

मन्त्र-ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तथा मामद्य मेघयाग्ने मिधाविनं कुरु स्वाहा। (यजु.वे. ३२/१४)

गृहस्थ तथा वानप्रस्थ 'त्र्यम्बकम्' मन्त्र-से 'प्रणव'-से या 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र-से त्रिपुण्ड्र लगा सकता है।

सन्यासी को ओङ्कार तथा हंस मंत्र-से त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये।

त्रिपुण्ड्र भोग एवं मोक्ष को प्रदान करनेवाला है, इसका ललाट, भुजाओं तथा वक्षस्थल पर धारण अवश्य करना चाहिये। कैवल्य शाखा में भस्म को ज्ञान का अंग माना है।

अर्थ–त्रिपुण्ड्र धारण किया हुआ विप्र एवं जिसने रुद्राक्ष धारण कर रखा है, ऐसा व्यक्ति अत्यन्त ही पवित्र है। उसके दर्शन, संलाप से रोग, पाप, व्याधि दुभिक्ष तथा तस्करादि निवृत्त हो जाते हैं।

सम्बन्ध–शिव के हकारादि नामों का अर्थ।

हकारः = कारणम्, हुं = तेजोवाची।

तेजसा देहो गृह्यते कवचं ततः (प्र.प.)

आग्नेयन्तेजः फट् ताभ्यामनिष्टमाक्षिप्य चालयेत्फट् पदाग्निना॥ (प्र.प. सू.सं.टी.)

हकार को जगत् का मूलकारण, मङ्गलस्वरूप माना गया है। हुँ–तेजोरूप है। फट्–राक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच से रक्षा करनेवाला तेजस्वरूप है। अग्रस्त–अधर्षणीय है। हार्द–हृदय में स्थित। हृत्पावन–हृदय को पवित्र करने वाला। अवधि–जिसका बाध नहीं हो सकता। तेज के द्वारा देह को ग्रहण किया जाता है, जिससे वह कवच हो जाता है। फट् एवं तेज मन्त्र के द्वारा अनिष्ट को दुर कर अग्नि द्वारा फट् पद को चलाना चाहिये।

कुण्डमण्डपादि निरपेक्षा चाक्षुषी दीक्षा ।
तत्सापेक्षा क्रियावती दीक्षा ।
("कुर्यात्पाशस्य छेदनम्" निवार्ण दीक्षायाम्)
ग्रन्थि छेदे कृते गुरुणा, महादेवः परां शक्तिं प्रेरयंति, शिष्यस्यात्मनि स्वयं पतति निमले, शक्ति पाते तु संजाते, माया दग्धा भवेत् ।। (सू.सं. ४/३४)
अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ ।
ज्ञानात्मिका पराशक्तिः शंभोर्यस्मिन्निपातिता ।। (आगमे)
तदा शिष्यस्य चिद्रुपे कल्पिता मोहरूपिणी ।
माया दग्धा भवेत्किंचित्तदा पतति विग्रहः ।।

अर्थ—हवनार्थ कुण्ड निर्माण, पूजनादि के लिए मण्डपादि की रचना के विना, गुरु दृष्टि मात्र से शिष्य के हृदय में ज्ञान का संचार कर देता, वह चाक्षुषी दीक्षा कहलाती है।

जिसमें कुण्डादि की अपेक्षा रहती है, वह क्रियावती दीक्षा कहलाती है। इस तरह शिष्य के मोह पाश का छेदन करना चाहिये। निर्वाण दीक्षा में जब गुरु द्वारा मोहादि ग्रन्थि का छेदन कर दिया जाता है, तब महादेव अपनी पराशक्ति को प्रेरित करते हैं। निर्मल (राग-द्वेषादिशून्य) शिष्य के हृदय में वह पराशक्ति स्वयमेव आ पड़ती है। शक्ति पात हो जाने पर मात्रा अपने आप दग्ध हो जाती है।

दीक्षा शब्द का अर्थ—दीयते ज्ञानमत्यन्तं क्षीयते पापसञ्चयः। तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।

जिससे अत्यन्त निर्मल ज्ञान की प्राप्ति एवं पापराशियों का क्षय हो जाता है, उसी को तत्वदर्शी मुनियों ने दीक्षा कहा है।

अर्थ—जब जीव के धर्म एवं अधर्म दोनों साम्य हो जाते हैं, तब ज्ञानस्वरूपा पराशक्ति भगवान् शम्भु की प्रेरणा से स्वयं शिष्य में आ पड़ती है।

अर्थ—शिष्य का अज्ञान कुछ नष्ट हो जाता है, तब चिद्रुप में अज्ञान से कल्पित मोहत्मिका माया दग्ध हो जाती है, और उसका शरीर गिर जाता है, अर्थात् उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है। फिर शरीर खड़ा रहे या पड़ा रहे उसका कुछ आग्रह नहीं रहता। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि शिष्य पर शिव की कृपा हो चुकी है।

देहपातस्तया कम्पः परमानन्दहर्षणे ।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम ।। (आगमे)

पूर्णो यं मलकर्मादि पाश बन्धेषु संवृता ।
पक्वपाकेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ।।

ईशानः सर्वविद्यानां स एवाऽऽदिगुरुर्बुधाः ।।
तस्य शिष्यो महाविष्णुः सर्वज्ञानमहोदधिः ।
तस्मादात्तपरिज्ञानो ब्रह्मा सर्वजगत्प्रभुः ।।
सनत्कुमारो भगवान्ब्रह्मणा श्रुतवेदनः ।
सनत्कुमारात्सर्वज्ञात्कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।।
तस्मादेव श्रुतं मया ।।
मत्तो लब्धपरिज्ञाना भूयम् ।। (सू.सं. ४/३५)

अर्थ—जब शिष्य में गुरु शक्ति पात करता है, तब शिष्य के अहंकार का नाश, शरीर में कम्प, परमानन्द, लोमादि खड़ा होना, पसीना, रोमाञ्च ये सब शक्ति पात के लक्षण है, इनसे शक्ति पात हुआ। या नहीं इसका अनुमान कर लेना चाहिये।

अर्थ—पाश बन्ध में आवृत, जिसके मलकर्मादि अपना समय पूर्ण कर लेते हैं अर्थात् कर्मफल (फलोन्मुखाय) अज्ञान नाश हो जाने के कारण, संचित क्रियमाणदि नष्ट हो, प्रारब्ध क्षय होने के लिए उन्मुख हो जाते हैं, नष्ट होते ही, शरीर गिर गया है ऐसा औपचारिक रूप से कहा दिया जाता है।

सम्बन्ध—सम्प्रदाय परम्परा (उक्त ज्ञान परम्परा) का कथन।

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियों पर शासन करने वाले, सभी विद्याओं के अधीश्वर भगवान् शिव ही सबके आदि गुरु हैं।

सम्पूर्ण ज्ञान के महान् उदधि (सागर) महाविष्णु शिव के शिष्य हैं। अखिल सृष्टि की रचना करने वाले प्रभु ब्रह्मा ने विष्णु-से यह ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् ब्रह्माजी-से सनत्कुमार ने विद्या श्रवण की। सवर्ज्ञ सनत्कुमार व कृष्णद्वैपायन मुनि ने विद्या ग्रहण की। उनसे मैंने और मुझसे आप लोगों ने ज्ञान प्राप्त किया।

मुर्खशिष्योपदेशेन विद्यागर्वेण सुव्रताः ।
गुरुद्रोहेण सर्वज्ञोऽप्यन्धकूपे पतत्यधः ।। (सू.सं. ४/३५)
परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः ।। (टीका)
आप्रलभं यस्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायिभूतानाम् ।
तप्तत्त्वमितिप्रोक्तं न घटादि शरीरं तत्वमतः ।। (टी०)
यस्य सत्ता जगत्सत्तारूपेणैवावभासते ।
यं विना न जगतस्मै सदा साक्षात्मते नमः ।।

सम्बन्ध—सम्पूर्ण विद्याओं को जानने वाले का भी पतन सम्भव है।

अर्थ—अहंकारी मुर्ख शिष्य को उपदेश देने-से विद्या का गर्व करने-से, गुरु के प्रतिद्रोह करने-से सर्वज्ञ पुरुष का भी घोर अज्ञान रूपी अन्ध कूप में अधः पतन होता है।

अर्थ—जो शिष्य परिपक्व हो चुके हैं। जिनके विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि दृढ़ हो चुके है। शक्तिपात के द्वारा उसे ऊपर उठाने के लिए, आचार्य के स्वरूप में स्थित वह गुरु दीक्षा प्रदान कर परम तत्व में उसे जोड़ देता है।

परिपक्वमला का तात्पर्य—तपसा ब्रह्मचर्येण मलकर्मादि पाश जाल हीना।

तपस्या के द्वारा, ब्रह्मचर्य के पालन से राग-द्वेष, अहंकार, दुष्कर्मादि पाश बन्धन, उस पाश बन्धन रूपी जाल से जो मुक्त हो चुका है, ऐसा शिष्य परिपक्वमल वाला है।

अर्थ—सम्पूर्ण भोगदायि भूतों के कर्मफल के दान के लिए प्रलय पर्यन्त जो सगुण रूप-से स्थित रहते हैं, एवं महाप्रलय के पश्चात् स्वस्वरूप में स्थित हो जाते हैं, योगीजन उसी को तत्त्व कहते हैं। घटादिशरीर तत्व नहीं कहलाता, क्योंकि तत्व संज्ञा उसकी ही होती है, जिसका किसी काल विशेष-से बाध नहीं होता और किसी घटशरीर की उपलब्धि तीनों कालों सर्वदा होती हो, ऐसा देखा नहीं जाता।

सम्बन्ध—शिव-स्तुति।

अर्थ—जिसकी सत्ता ही जगत् की सत्ता के रूपसे अवभासित होता है। जिनके विना जगत् की स्थिति ही सम्भव नहीं उन् साक्षात् सता रूप भगवान् शिव को नमस्कार है।

उस भानस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है, जिनके भान होने के कारण ही जगत् भानस्वरूप (होने के स्वरूप) में विभासित (प्रतीत) होता है। जिसके विना जगत् का भान कथमपि शक्य नहीं।

यस्य भानं जगद्भानस्वरूपेण विभासते।
यमृते न जगद्भानं तस्मै भानात्मने नमः।।
यदानन्दोऽखिलानन्दो विभाति स्वयमेव तु।
तं नुमः परमानन्दं परापर विवर्जितम्।।
यद्देशकालदिग्भागैर्न भिन्नं सर्वदाऽद्वयम्।
यदेव विश्वं तद् ब्रह्म यथार्थं प्रणमाम्यहम्।। (सु.सं. ४/३८)

ज्ञानलम्या परानान्या मुक्तिः सायुज्यरूपिणी।
सारूप्य सामीप्य सालोक्या मुक्तयः कर्मजामताः।। (सू.सं. ४/३८)

अध्यस्तं हि सदाद्वैतं दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत्।
अद्वैतं सर्वदासत्यं भेदाभावात्कथञ्चन।।
द्वैतन्तु कल्पितन्तत्र.................. ।
प्रत्यक्षाद्यगम्येहि, अद्वैतेऽर्थवतीश्रुतिः।
द्वैततु लोकसिद्धं हि नात्र चार्थवतीश्रुतिः।।

पर एवं अपर के भेद-से रहित परमानन्द स्वरूप शिव को नमस्कार है, जिनका आनन्दस्वरूप ही सम्पूर्ण विषयानन्दो के रूप में भास रहा है। जो देश (गौड़-द्रविड़-पाञ्चाल) काल (भूत-भविष्य-वर्तमान) दिशा (पूर्वोत्तरादि) रूपों में अविभाजित है, सर्वदा अद्वितीय जो विश्व है वही ब्रह्म है, उस (अनन्त) यथार्थ ब्रह्म को मैं प्रणाम करता हूँ।

अर्थ—सायुज्यरूपिणी मुक्ति ज्ञान से ही लभ्य वही सर्वोत्तमा है, अन्य नहीं। सारूप्य, सामीप्य, सालोक्यादि मुक्तियाँ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है, साभुज्य नहीं।

सम्बन्ध—अद्वैत ही सत्य है। इसका युक्ति-से प्रतिपादन।

अर्थ—शुक्ति में रजत् की भाँति दृश्य होने-से निश्चित रूप-से द्वैत सर्वदा अध्यस्त (आरोपित) ही है।

अद्वैत तत्त्व सर्वदा सत्य है, उसमें किसी प्रकार का भेद सम्भव ही नहीं, उस अद्वैत में द्वैत तु कल्पितमात्र हैं।

स्वतः प्रमाणभूत श्रुति प्रत्यक्षादिप्रमाणों के द्वारा अगम्य अद्वैत तत्व के प्रतिपादन में ही सार्थकता रखती है। द्वैत तु लोक-से ही सिद्ध है उसको सिद्ध करना श्रुति को अभिष्ट नहीं है, और नहि उसमें उसकी सार्थकता ही है।

अतः प्रयोजनाभावाद्वैतं न प्रतिपाद्यते ।
अनूद्यद्वैतमद्वैतं प्रतिपादयति श्रुतिः ।।
अद्वैतं परमानन्दं चास्ति तत्र प्रयोजनम् ।।
तस्माज्जीवः स्वतः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ।
स्वाज्ञानं तत्प्रसूतञ्च संसारं विद्ययाग्रसम ।
स्वपूर्ण शिवरूपेण, स्वयमेवावशिष्यते ।। (सू.सं. ४/३९)
जगन्न भावो नाभावो भावाभावविलक्षणम् ।
तस्मादध्यस्तबाधस्तु न भावोऽभाव एव न ।।
अधिष्ठानावशेषेहि बाधः कल्पित वस्तुनः ।।
अधिष्ठानं शिवः सत्यः तदन्यमखिल भ्रमः ।।
जगदध्यस्तं दृश्यत्वात् शुक्ति रूप्यवत् । (सू.सं. ३/३९)

अतः प्रयोजन न होने के कारण श्रुति द्वैत का प्रतिपादन नहीं करती। लौकिक प्रमाणों से सिद्ध द्वैत का श्रुति अनुवाद मात्र करती है, वस्तुतः उसका परम प्रयोजन तो अद्वैत के प्रतिपादन में ही हैं क्योंकि अद्वैत परमानन्द स्वरूप है, लौकिक विषयानन्द की तुलना इसके साथ नहीं की जा सकती है।

सम्बन्ध–जीव शिव होता नहीं, वह साक्षात् शिव है, इसका कथन।

अर्थ–'कृतकस्य न नित्यत्वमिति' जगत में यह बात निश्चित है कि जो कुछ भी कृतिसाध्य है—वह नित्य नहीं हो सकता है। जैसे की पारे की सहायता-से लोहा सोना की तरह प्रतीत होने लगता है, वस्तुतः लोहा तो लोहा ही रहता है, सोना कभी नहीं बन जाता, पारे के प्रभाव-से भले ही उसमें स्वर्ण की आभा आ जाती हो।

अतः जीव स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप साक्षात् शिव है। स्वयं के आरोपित अज्ञान से प्रसूत संसार को स्वात्मा के द्वारा विलीन कर स्वयं के पूर्ण आत्मस्वरूप से शिवस्वरूप-से अवशिष्ट रह जाता है।

अर्थ–जगद् न भावरूप है, और न हि अभावरूप बल्कि भाव एवं अभाव से विलक्षण है, अतः जब इसका बाध कर दिया जाता है, तब अधिष्ठान स्वरूप परमात्मा ही शेष रह जाते हैं। भाव, अभाव रूप कुछ शेष नहीं रहता। अधिष्ठान शिव है, वही सत्य हैं, उनके अतिरिक्त निखिल प्रपञ्च भ्रममात्र है। जगद् अध्यस्त हैं क्योंकि यह दृश्य है जैसे–की शुक्ति में रजत अध्यस्त है।

पातकानि समासेन दश प्रोक्तानि सूरिभिः। (सू.सं. ४/४१)

१. महापातकम् ब्रह्महत्यादि पञ्च।

२. अतिपापम्–असाक्षान्मातृगमनं, स्वपुत्रगमनं, स्नुषा गमनं, भगिनी गमनं शिवस्य मूर्तिचलन विष्णोश्च, ब्रह्मणस्तथा।

३. प्रासङ्गिकम्–राजन्यवैश्ययोर्हिंसा यज्ञसम्बन्धिस्तथा। गर्भिण्यादिवधः, कौटसाक्ष्यं, सुहृद्धिसां, ब्राह्मणस्य पृथिवीहरणाम्।

४. पातकम्–त्रिपुण्ड्रधारणाभावः, अङ्कनं-विग्रहे।

५. मुख्यउपपातकम्–पाषण्डेषु च निष्ठानां संबन्धः, स्वशरणागतायां गमनं, स्वगोत्रायां तथैव च।

सम्बन्ध–दशविध पातकों का परिचय।

अर्थ–विद्वानों ने संक्षेप में दस प्रकार के पाप बताये हैं। जिन्हें जानकर व्यक्ति इनसे बचने का प्रयास करे, ताकि परलोक में नरकादि एवं यहीं इस स्थूल शरीर से नाना प्रकार के नरकतुल्य कष्ट न भोगने पड़े।

अर्थ–महापातक पाँच है—क. सुरापान, ख. ब्राह्मणवध, ग. स्वर्ण स्तेय, छ. माता-से सम्भोग करना, ङ. इनमें से किसी का संग करना।

अर्थ–अतिपाप–जो अपनी माता नहीं है, किन्तु माता के समान लगती हो, उससे संभोग करना, अपनी पुत्री, पुत्रवधू, बहन से संभोग करना, शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा की प्रतिष्ठित मूर्ति का चालन, उन्हें उनके स्थान से हटाना।

अर्थ–प्रासङ्गिक पाप–क्षत्रियराजा तथा वैश्य की हिंसा, यज्ञदीक्षित पुरुष की हिंसा, रजस्वला, गर्भिणी, तथा दुःखी स्त्री की हिंसा, झूठी गवाही, मित्र की हिंसा, ब्राह्मण की जमीन हड़प लेना ये सभी प्रासङ्गिक पाप के अन्तर्गत आते हैं।

अर्थ–पातक–त्रिपुण्ड्र धारण न करना, पाश अङ्कुश गदा, दण्ड, शंखादि-से अपना शरीर दगवाना।

अर्थ–मुख्य उपपातक–पाखण्डियों में निष्ठा रखने वाले पुरुषों-से सम्बन्ध। शरणागतास्त्री का उपभोग, स्व गोत्र की स्त्री का भोग।

गौण उपपातकम्—असत्यभाषणं, राजगामिपैशून्यं, अधीतायाः श्रुतेस्त्यागः, पितृमातृस्वसृत्यागः, स्वभार्यात्यागः, परार्थग्रहणं, भृतकाध्यापनं, भृताध्ययनम्। अभिचारक्रिया, स्वस्यैव पचनं, अनाहिताग्निता, पुत्रानुत्पादनन्तथा।

६. जातिभ्रशंकरः—आघ्रेयघ्रातिः, जैह्म्यं पशौ पुंसि च मैथुनम्।

७. संकीर्णकरणम्—ग्राम्यारण्य पशूनां तु हिंसनम्।

८. अपात्रीकरणम्—निन्दितेभ्यो धनादानं, कुसीदजीवनं, वाणिज्यमनृतोक्तिता, शूद्रस्य याजनम्।

९. मलावहम्—जलस्थलनिवासिनां पक्षिणां घातनं, मद्यस्पृष्टस्य मुक्तिश्च।

१०. अनुक्तानि समस्तानि प्रकीर्णानि।।

अदण्ड्यदण्डनञ्चैव युद्धे भीत्या पलायनम्।।
क्षत्रियस्य विशेषेण महापातकमुच्यते।
वञ्चनं च तुलामाने महापापं विशो भवेत्।।

अर्थ—गौण उपपातक—असत्य बोलना, राजा की भी चुगली करना, अधीत श्रुति का विस्मरण होना (अभ्यास न करना), माता, पिता, बहिन का त्याग, अपनी भार्या का त्याग, दूसरे की सम्पत्ति हड़प लेना, वेतन लेकर पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना, अभिचार क्रिया करना, केवल अपने लिए ही पकाना, ब्रह्मचर्य समाप्त कर गार्हस्थ्य अग्नि का ग्रहण न करना, गृहस्थ होकर पुत्र उत्पन्न न करना।

अर्थ—जातिभ्रशंकर—लहसुन, प्याज, विष्ठा आदि नहीं सूँघने योग्य वस्तुएँ सूँघना, कुटिलता, पशु में तथा पुरुष में मैथुन करना।

अर्थ—संकीर्णकरण—गाँव के एवं जंगली, पशुओं की हिंसा करने का नाम संकीर्णकरण है।

अर्थ—अपात्रीकरण—निन्दित पुरुषों-से धनादि का दान लेना, व्याज से जीविका चलाना, (सूदखोरी), व्यापार में असत्य बोलना, शूद्र का यज्ञ करना, कराना।

अर्थ—मलावह—जलचर, थलचर निवासी पक्षियों का मारना, मद्य से स्पृष्ट वस्तु को खाना।

अर्थ—ऊपर कहे पापों से अतिरिक्त अन्य सब पाप प्रकीर्ण के अन्तर्गत जानने चाहिये। क्षत्रियों के लिए विशेषतया महापातक दो हैं—१. अदण्ड को दण्डित करना, २. युद्ध से डरकर भाग

मांसस्य विक्रय चैव सुराविक्रयणन्तथा।
ब्राह्मणीगमनं चापि पयः पानं तु कापिलम्।।
महापापं मया प्रोक्तं शूद्राणाञ्च विशेषता।
संकराणां द्विजद्वेषो महापातकमुच्यते।।
पुरुपाणां तथा स्त्रीणां समानं पातकं स्मृतम्।
नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम्।
भर्तुः शिष्यस्य गमनं मत्या भर्तुगुरोरपि।
विशेषेण स्त्रियाः पातकं........।। (सू.सं. ४/४२)

प्रयिश्चित्तम्

वेदान्तवाक्यजं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्नि वत्।। (सू.सं. ४३)
देहेन्द्रियादि संघातसाक्षिणं तमसःपरम्।
सच्चिदानन्दसंपुर्ण कथ बन्धनमापतेत्।। (सू.सं. ४/४२)
अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्नकर्मणा।
श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो बध्यते कथम्।। (सू.सं. ४/४२)

जाना। वैश्यो के लिए विशेषतया महापाप है, तराजू से तोलने के समय धोखा करना (कम तोलना) शूद्र के लिए महापाप है—मांस का विक्रय करना, सुरा बेचना, ब्राह्मणी से सम्भोग करना, कपिला गाय का दूध पीना। संकर जाति के लिए महापाप है, ब्राह्मणों-से द्वेष करना। उपर्युक्त सभी पाप पुरुष एवं स्त्री दोनों के लिए समान रूप से निषिद्ध है।

स्त्री के विशेष पातक हैं—नीच पुरुष के साथ सम्भोग करना, अपना गर्भगिरा देना, पति की हिंसा करना, पति के शिष्य-से, पति के गुरु से जान-बूझ कर संभोग करना।

अर्थ—वेदान्त वाक्यों से जन्य ब्रह्म और जीवकी एकता को विषय करने वाला अपरोक्ष ज्ञान बुद्धिपूर्वक किए गए पापों को वैसे ही जला डालती है, जैसे—अग्नि तिनके को।

अर्थ—अज्ञान से परे देह, इन्द्रिय आदि के संघात रूप शरीर का साक्षी, सच्चिदानन्द लक्षण वाला परिपूर्ण चेतनस्वरूप आत्मा को ऐसा जाननेवाले के लिए बन्धन कहाँ से आ सकता है।

अर्थ—अज्ञान-से जन्य कर्ता आदि कारकों से सम्पन्न जड़ कर्म के द्वारा चेतन आत्मा का बन्धन सम्भव कैसे है ? जिसे की श्रुति द्वारा उत्पन्न आत्मविज्ञान रूपी प्रदीप की प्राप्ति हो गई हो।

यथैव ब्रह्मात्मविज्ञानं तथैव ब्रह्मभावनम् ।
दिनार्धं सकलं ब्रह्म भावयन्मुच्यते ह्यघात् । (४/२४)

नृत्यमानं महादेवं साम्बमूर्तिधरं तु वा ।
दिनार्धं चिन्तयन्पापात्प्रसिद्धान्मुच्यतेऽखिलात् ।। (४/४२)

चैतन्यस्य दशसहस्रजपः महापापतकनाशकः ।

जपित्वा लक्षमेकन्तु प्रणवं ब्रह्मवाचकम् ।
महापातक संघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ।। (४/२४)

सव्याहृतिसप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ।। (४/२४)

उपवासत्रयं कृत्वा कण्ठमात्रोदके स्थितः ।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिजपित्वाऽघमर्षणम् ।। (४/२४)

अर्थ–जैसे–आत्मा और ब्रह्म की एकता का विज्ञान समस्त पापों का प्रायश्चित्त है, वैसे ही ब्रह्मात्म भावना भी सम्पूर्ण पापों का प्रायश्चित्त है। 'सब ब्रह्म हैं' ऐसी भावना यदि एक घड़ी भी करे तो वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। आधे दिन पर्यन्त यदि ब्रह्मात्मभावना बनी रहे तो फिर ज्ञात सम्पूर्ण पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

अर्थ–साम्बमूर्ति धारण किए नृत्य करते हुए महादेव को जो आधे दिन तक चिन्तन करता है, वह उन प्रसिद्ध पातकों से मुक्त हो जाता हो सबके सामने किया हुआ है।

अर्थ–चैतन्य मन्त्र (भुवनेश्वरीमन्त्र) का दस हजार जप करने से महापातकों का नाश हो जाता है।

अर्थ–ब्रह्मवाची ओंकार मन्त्र का करने-से मनुष्य महापातकों एवं अन्य भी जो उपपातकादि हैं, उन सबसे मुक्त हो जाता है।

अर्थ–व्याहृतियों सहित प्रणव मन्त्र का नित्य षोडश (सोलह बार) प्राणायाम करने से व्यक्ति एक मास में भ्रूण हत्या जनित पाप-से मुक्त हो जाता है।

अर्थ–तीन दिन उपवास पूर्वक कण्ठ पर्यन्त जल में खड़ा रहकर तीन बार अघमर्षण सुक्त का जप करने-से व्यक्ति सम्पूर्ण पापों-से छूट जाता है।

द्रुपदा नाम गायत्री वेदे वाजसननेयके ।
पञ्च जत्वा जले मग्नो मुच्यते सर्वपातकैः ।। (४/२४)

द्रुपदागायत्री

ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ।। (२०/२०)
महादेवेतियो ब्रूयात्प्रातरुत्थाय नित्यशः ।
जन्मान्तर सहस्त्रेषु कृत पापं विनश्यति ।। (४/२४)
शिवो वेदःपुरीकाशी गंगा चैव त्रिपुण्ड्रकम् ।
पञ्चपुण्यानि प्रातस्तु वदन्मुच्येत पातकैः ।। (४/२४)
सकृद्गङ्गाजले स्नात्वा वाराणस्यां महेश्वरम् ।
दृष्ट्वा विश्वेश्वराख्यन्तु मुच्यते सर्वपातकैः ।। (४/२४)
गोदावर्यां सकृत्स्नानात्सिंहयुक्ते बृहस्पतौ ।
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ।। (४/२४)

अर्थ—जल में डुबकी लगाये हुए ही वाजसनेयसहिता (यजुर्वेद) के द्रुपदा नामक गायत्री को जो पाँच बार जप करता है, वह सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है। (४/२४)

अर्थ—जैसे-चलते-चलते गन्तव्यस्थल पर पहुँचने पर व्यक्ति पादुका को उतार देता है, एवं उसमें लग दोषों से भी वह मुक्त हो जाता है, और जैसे—पसीने से लीप्त मनुष्य स्नान कर उस मल-से छूट जाता है; तथा छानने से जैसे-धृत शुद्ध हो जाता है, उसमें विद्यमान कीटादि अपगत हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जल मुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दे। (२०/२०)

अर्थ—प्रातःकाल उठकर नित्य जो 'महादेव' इस प्रकार बोलता है, उसके पूर्व के सहस्त्रों जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं।

अर्थ—प्रातःकाल उठकर पाँच पुण्यों (प्रण्यप्रद) का कीर्तन करनेवाला सम्पूर्ण पातकों से मुक्त हो जाता है, वह पाँच पुण्य हैं—शिव, वेद, काशीपुरी (वाराणसी), भागीरथी गंगा, त्रिपुण्ड्र ।

अर्थ—एक बार (सकृद) वाराणसी में गङ्गाजल में स्नानकर, महेश्वर विश्वनाथ का दर्शन करके मनुष्य सम्पूर्ण पातकों से मुक्त हो जाता है।

अर्थ—बृहस्पति जिस समय सिंह राशि में हों, उस समय एक बार भी यदि कोई गोदावरी में स्नान करता हो तो, वह ब्रह्महत्यादि सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्दभ्रसभामध्ये नृत्यन्तं देवनायकम्।
दृष्ट्वा दिने-दिने पापैर्मुच्यते दशभिर्दिनैः।। (४/२४)
संन्यासश्चापि पापानां प्रायश्चित प्रकीर्तितम्। (४/२४)
कुटीचकाख्यः संन्यासी तथैव च बहूदकः।
गोवालरज्जुसंबन्धं त्रिदण्डं च कमण्डलुम्।।
कुण्डिकां चोपवीतञ्च हंसस्यापि समं बुधाः।।
तथा काषायं चैव धारयेत्।
हंसः परमहंसश्च सत्त्वचं सौम्यमव्रणम्।
एकं तु वैष्णवं दण्डं काषायं चैवधारयेत्।। (सू. ४/४२)
पापिष्ठः कर्मसंन्यास कृत्वा शास्त्रोक्तवर्त्मना।
प्राणत्याग पुनः कुयार्त् पापनां च विशुद्धये।। (४/२४)
योगीसंन्यासमापन्नः प्राणत्यागंकदाचन।
न कुर्यात्मोहतो वाऽपि ज्ञानमेव सदाऽभ्यसेत्।।

अर्थ–दस दिन पर्यन्त लगातार चिदम्बर में नटराज मूर्ति का दर्शन कर व्यक्ति सम्पूर्ण पापों-से मुक्त हो जाता है।

अर्थ–संन्यास भी सम्पूर्ण पापों का श्रेष्ठ प्रायश्चित कहा गया है।

अर्थ–कुटीचक तथा बहुदक नामक संन्यासी गोवाल की रस्सी से वेष्टित (बंधा) त्रिदण्ड, कमण्डलु (जलपात्र), भोजनपात्र, पानी छानने के लिए वस्त्र, काषाय वस्त्र, शिखा यज्ञोपवीत एवं पवित्री धारण करे।

अर्थ–हंस तथा परमहंस को त्वचा (छिलका) सहित, देखने में सौम्य (उद्वेगका अजनक) विना छेदवाला ऐसा एक वैष्णव दण्ड को धारण करे उन्हें साथ ही गैरिक वस्त्र भी धारण करना चाहिये।

अर्थ–पापी व्यक्ति पापों से मुक्ति पाने के लिए, पहले शास्त्रोक्त मार्ग से कर्मों का संन्यास करे, तब जाकर अपने प्राणो का विसर्जन करे, इस तरह वह पापों से छूट जाता है एवं शुद्ध हो जाता है।

अर्थ–इसके विपरीत जिसने संन्यास ग्रहण कर लिया ऐसा योगी भूलकर भी अपने प्राणों का त्याग न करे, वह सदा ज्ञान का ही अभ्यास करता रहे, वही उसके पापों का प्रायश्चित्त है, अलग से प्रायश्चित्त के लिए वह अपनी आत्मा को पीड़ित न करे।

सोऽश्नुते सकलान्कामानक्रमेण सुरर्षभाः ।
विदितब्रह्मरूपेण जीवन्मुक्तो न संशयः ।।
प्रत्यगज्ञानविज्ञानमायाशक्तेस्तु साक्षिणम् ।
एकं ब्रह्म च संपश्यन्साक्षाद् ब्रह्मविदुत्तमः ।।
भलन्दश्चैव वन्द्यश्च संकृतिश्चैव ते त्रयः ।
ते वे मन्त्रकृतो ज्ञेया वैश्यानां प्रवराः सदा ।।
आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थ दर्शनम् ।
निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधाकुल लक्षणम् ।। (कुलदीपिका)
जातिभेदस्तु देवेषु ईश्वरेच्छा निबन्धनः ।
ब्रह्मवर्णपतिर्ब्रह्मा नारदो देवलोऽसितः ।।
बृहस्पपतिर्भृगुर्वह्नि मरीच्याद्याः सनादयः ।
ऋषयः पितरः सर्वे ब्रह्मवर्णाः प्रकीर्तिताः ।।

सम्बन्ध–उत्तम जीवन मुक्त (ब्रह्मवेता) की महिमा।

अर्थ–माया, अज्ञान, गुहा आदि शब्दों के द्वारा जिस अव्यक्त संसार का कथन किया जाता है, वह परमव्योम है उसमें स्थित परब्रह्म को जो पुरुष जान लेता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। हे देवश्रेष्ठ ! इसमें कोई क्रम नहीं है, उसके संकल्प से सब पुर्ण हो जाता है। स्वयं को ब्रह्मरूप से विदित हो जाने पर वह जीवन मुक्त है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

अर्थ–प्रत्यगात्मा के ब्रह्मरूपत्व का आच्छादक अज्ञान, विविधं ज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानमन्तः-करणं, विविध प्रकार के जगत् को जिसके द्वारा जाना जाता है, वह अन्तःकरण तथा इन दोनों रूपों से स्थित सत्वरजतमोगुणात्मिका मायाशक्ति–इन तीनों का साक्षी एवं सत्यादिलक्षण ब्रह्म एक ही है ऐसा सात्क्षात् अनुभव जिसे है, वह उत्तम ब्रह्मवेता है।

सम्बन्ध–वैश्यों के प्रवर का कथन।

अर्थ–भलन्द, वन्द्य एवं संस्कृति इन तीन मन्त्र कृत् ऋषियों को वैश्यों का प्रवर जानना चाहिये।

सम्बन्ध–कुल लक्षण।

अर्थ–आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन निष्ठा, वृत्ति, तपस्या तथा दान ये नौ प्रकार के कुल के लक्षण हैं। जिस कुल में ये नौ लक्षण देखे जाते हैं, वही कुल, कुल है।

सम्बन्ध–जातिभेद केवल मनुष्यों में ही नहीं, बल्कि देवताओं में भी है, इसका सप्रमाण कथन।

अर्थ–जातिभेद केवल मनुष्यों में ही नहीं बल्कि देवताओं में भी है, इसमें मुख्यरूप से परमेश्वर की ही इच्छा कारण है। ब्राह्मण वर्ण के पति ब्रह्माजी हैं। नारद, देवल, असित, बृहस्पति, भृगु, वहिन, मरीच्चादि, सनकादि, ऋषिगण, सभी पितर ये सब ब्राह्मण कहे गये हैं।

आप्रलयं यस्तिष्ठनि, सर्वेषां भोग दायिभूतानाम्।
तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं, न घटादिशरीरं तत्वमतः ।। (सू.सं.टी.)
सच्चिदानन्दरूपात्मा नित्यशुद्धः स्वयं स्वतः।
अनात्मरूपं यद् द्रव्यमशुद्धं तत्स्वभावतः।
वेदोदिताच्च संस्काराच्छिवभावनयाऽपि च।
तथा हिंसादिराहित्याद्देहशुद्धिर्द्विजा भवेत् ।।
इन्द्रियाणामधिष्ठातृदेवतास्मरणादपि।
शिवभावनया चापि विशुद्धिर्द्विजपुंगवाः ।।
प्राणायामादधिष्ठातृदेवतास्मरणादपि।
शिवभावनया शुद्धिर्भवेत्प्राणस्य सुव्रताः ।।

सम्बन्ध–तत्त्व का स्वरूप। उसके शुद्धि के विषय में कथन।

अर्थ–सम्पूर्ण भोगदायि भूतों के प्रलय पर्यन्त जो रहता है, वही तत्त्व कहा गया है, अर्थात् जो भूतों के अव्यक्तावस्था-से पूर्व, बाद में एवं भूतों के व्यक्तिकाल में भी जो रहे वह तत्त्व है, घटादि शरीर तत्त्व नहीं क्योंकि सर्वदा इनकी सत्ता नहीं रहती है।

अर्थ–सच्चिादस्वरूप आत्मा अपने आप स्वाभाविक रूप से नित्यशुद्ध है। उसका जीवपना औपाधिक है, जब ईश्वर एवं जीव की एकता का ज्ञान होता है, तव वही आत्मा की परमशुद्धि कही जाती है, कर्मों के द्वारा जीव की परम शुद्धि तो सम्भव ही नहीं है।

अर्थ–जो द्रव्य अनात्मरूप से हैं, वे तो स्वाभाविक रूप से ही अशुद्ध हैं।

सम्बन्ध–देहादि की शुद्धि का कथन।

अर्थ–वेदोक्त संस्कारों के द्वारा सर्वत्रशिव की भावना-से या फिर उनका ध्यान करने-से, हिंसा आदि के परित्याग करने-से, हे द्विजगण! इस पाञ्चभौतिक देह की शुद्धि होती है।

ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के स्मरण तथा शिव की भावना से हे द्विजपुंगव! इन्द्रियों की विशुद्धि होती है।

प्राणादि के अधिष्ठाता देवताओं के स्मरण-से प्राणायाम-से तथा शिव की भावना करने-से प्राण शुद्ध होते हैं।

निषिद्धचिन्तनाभावच्छिवभावनयाऽपि च ।
मन आदेस्तु शुद्धिः स्यात् समाधौ विलयादपि ।। (सू.सं. ४/४४)
ब्रह्मभावनया सर्वं विशुद्धं इति निश्चयः ।
कल्याणे तीर्थयात्रायां राष्ट्रक्षोभे च विभ्रमे ।
देवोत्सवे च दादिद्रये स्पृष्टिदोषो न विद्यते ।।
ब्रह्मरूपेण संग्राह्यं सर्वंशुद्धं सदा भवेत् ।
नित्यशुद्धं हि तद्ब्रह्म तद्दृष्टिः शुद्धतापरा ।। (४/४४)
अभक्ष्यभक्षणाच्चित्तमशुद्धं भवति स्वतः ।
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैवदेहिनः ।
अहमन्नं तथाऽनाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ।।
जगदात्मतया भाति भक्षितं सकलं तदा ।

निषिद्ध चिन्तन के परित्याग-से तथा शिव की भावना-से मन, बुद्धि आदि की विशुद्धि होती है। समाधि दश में मन का लय भी उसकी शुद्धि कही गई है।

अर्थ–ब्रह्मभावना के द्वारा जो ऐसा समझता है कि सब ब्रह्म का स्वरूप अतः, परम विशुद्ध है। यही सर्वशास्त्र का निश्चय है।

अर्थ–विवाह एवं यज्ञादि जनसंकुल कार्यों में तीर्थयात्रा के समय, राष्ट्र में विप्लव होने पर, देवताओं के उत्सव, यात्रादि में भ्रम होने-से तथा दारिद्रयावस्या में स्पर्श दोष नहीं होता है।

सम्पूर्ण वस्तुएँ उसके लिए सदा ही शुद्ध है, जो सबमें ब्रह्म की भावना रखता हो, ब्रह्म रूप-से वह सब उसके ग्रहण के योग्य हो जाता है। यह दृष्टि की सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है।

अर्थ–अभक्ष्य (लहसुन, प्याज, छत्राकादि) के भक्षण-से चित्त अपने आप अशुद्ध हो जाता है, अशुद्ध चित्त-से व्यक्ति तत्त्व की बातें तो दूर, सामान्य आचार सम्बन्धी बातों को भी नहीं समझ सकता है।

अर्थ–भक्ष्याभक्ष्य का विचार ब्रह्मज्ञान-से रहित पुरुषों के लिए ही है, जिस ब्रह्मवेत्ता को यह अनुभव है कि—अन्न एवं अन्नाद (अन्न का अदन करने वाला, खाने वाला) साक्षात् ब्रह्म है, उसके लिए क्या विधि और क्या निषेध।

अर्थ–जिस समय योगी सम्पूर्ण जगत् को आत्म रूप से जान लेता है, उस समय यह जान लेना चाहिए की उसने वह सब कुछ खा लिया जो जगत् में है।

अस्तितालक्षणा सत्ता सदा ब्रह्म न चापरा।
नास्ति सत्ताऽतिरेकेण किञ्चिदप्यास्तिोकोत्तमाः ।।
योगिनामात्मनिष्ठानां माया साक्षिणि कल्पिता। (सू.सं. ४/४५)

वागुद्भूता पराशक्तिर्या चिद्रुपा पराभिधा।
वन्दे तामनिशं भक्त्या श्रीकण्ठार्धशरीरिणीम्।।

शिरसि निपतिता या विन्दुधारा सुधारा।
भवति लिपिमयी सा ताभिरङ्ग मुखाद्यम्।।

मूलाधारात् स्फुरिततडिदाभाप्रभा सूक्ष्मरूपोद-
गच्छन्त्या मस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता।

सौषुम्नाध्वाचरणनिपुणा सा सावित्राऽनुबद्धाध्याता-
सद्योऽमृतमय रवेः सावयेत्सार्धसोमात्।। (टीका)

अर्थ–सत्ता का स्वरूप 'अस्तितालक्षणा' है। अस्तिता– है पने का होना ही उसका लक्षण–स्वरूप है और वह 'अस्तिता ब्रह्म व्यतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। सत्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न होने के कारण उसे अन्य रूप कहा ही नहीं जा सकता, ऐसा श्रेष्ठ ऋषिगण! आप लोग समझ लें। योगियों की अर्थात् ब्रह्म ज्ञानियों की तत्व ज्ञान के द्वारा बाधित माया जो वास्तविक रूप से कल्पित ही है सक्षीरूप–से साक्षी में ही प्रतीत होती है। अतः साक्षी की वास्तविकता के साथ-साथ कल्पितरूप भी दिखती रहती है। जैसे–रामादि के रूप में सज्जित व्यक्ति के वास्तविक रूप के साथ आरोपित स्वरूप रामादि की भी प्रतीत युगपत् होती रहती है।

अर्थ–चिद्रपिणी नामक जो पराशक्ति कही गई है, वही परा वाणी के रूप में उदभूत, विवर्तित होती है। "मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः"। श्रीकण्ठ के अर्धशरीर के रूप में विराजित (अर्धाङ्गिनी) देवीकों 'मैं' निरन्तर श्रद्धा, विश्वास एवं भक्ति के साथ वन्दना करता हूँ।

अर्थ–मूलाधार से स्फुरित विजली की आभा (चमक) के सदृश प्रभा सूक्ष्मरूप से निकलती हुई मस्तक की ओर अत्यत ही सूक्ष्म जो तेज की मूलभूता प्रकृति है, सुषुम्ना मार्ग में विचरण करने में अत्यन्त निपुण सरलतया गमनशीला वह सावित्री मन्त्र से अनुबद्ध युक्त हो ध्यान करने पर तत्काल रवि से तथा अर्ध सोम से अमृत स्रावित करने लगती है। मस्तक में गिरती हुई वही अमृत बिन्दुधारा अमृतमयी लिपि होकर उच्चारण कर्ता के मुख के विभिन्न स्थानों से प्रस्फुटीत होती है।

।। वाक्शक्तिस्तोत्रम् ।।

वागुद्भूता परा शक्तिर्या चिद्रूपा पराभिधा ।
वन्दे तामनिशं भक्त्या श्रीकण्ठार्धशरीरिणीम् ।।१।।
इच्छासंज्ञा च या शक्तिः परिपूर्णशिवोदरा ।
वन्दे तामादरेणैव ममेष्टफलदायिनीम् ।।२।।
शक्तिर्या परमा साक्षादबीजभूताखिलस्य च ।
वन्दे तामनिशं भक्त्या नकुलीशशिवान्विताम् ।।३।।
ऊर्ध्वरूपाऽप्यधोरूपा तथाऽधस्याऽपि मध्यगा ।
मध्यरूपाऽपि चान्तःस्था या तां वन्दे वरप्रदाम् ।।४।।
विन्यासैर्वर्णसंक्लृप्तैर्विश्वविद्यालयात्मना ।
विद्योतमाना या वाचि वन्दे तामादरेण तु ।।५।।

अर्थ—संविद्रूपिणी यो परामाशक्ति वही शब्दरूप से विवर्त होती हुई, सर्वप्रथम पराख्या नाम से आविर्भूत होकर बिन्दु के रूप में अत्यन्त सूक्ष्म भाव-से स्फुटित (स्फोट् रूप से) उद्भूत हो सर्वत्र वही शक्ति शब्दों में अनुस्यूत होती हुई प्राणियों के अर्थविवक्षा के हेतुक प्रयत्न जनित वायु के सम्बन्ध के कारण मूलाधार में अभिव्यक्त जो निस्पन्द वह परा कहलाती है। ऐसी परा वाक् रूप से विवर्तित होती हुई चिद्रूपिणी शक्ति, जो श्रीकण्ठ की अर्धाङ्गिनी है, उस भगवती अम्बा की मैं श्रद्धा एवं भक्ति के साथ निरन्तर वन्दना करता हूँ॥१॥

पूर्व वर्णित जो पराशक्ति है, वही इच्छा शक्ति के रूप में भी अवस्थित है। परिपूर्ण अनन्त कल्याण, सत्य, ज्ञानादि स्वस्वरूप महेश्वर के साथ जो एक उदर रूपसे विराजमाना है, (अर्धनारीश्वर होने के कारण) मुझे अभीष्ट फल प्रदान करने वाली उस माहेश्वरी देवी की मैं आदरपूर्वक वन्दना करता हूँ॥२॥

वही परमा शक्ति जो साक्षात अखिल जगत् की कारणभूता है, नकुलीश रूपधारी शिव के साथ उस शक्ति की मैं भक्ति के साथ निरन्तर वन्दना करता हूँ॥३॥

ऊर्ध्व अर्थात् कार्य से पहले (प्रपञ्च से पहले) कार्य प्रपञ्च के उत्पत्ति काल में कार्य प्रपञ्च के बाद तथा कार्य में उपादानकारण रूप से वर्तमान, वर प्रदान करने वाली उस परमा देवती की मैं वन्दना करता हूँ॥४॥

अकारादिहकारान्त वर्ण के रूप में परिकल्पित वर्ण विन्यासों से निर्मित गद्य-पद्य आकारों में विश्व की समस्त विद्याओं के आश्रयस्वरूपा वाक् रूप से जो विद्योतमाना (प्रकाशित) होने वाली है, उस परमाशक्ति की मैं आदर सहित वन्दना करता हूँ॥५॥

एकधा च द्विधा चैव, तथा षोडशधा स्थिता।
द्वात्रिंशद्भेदभिन्ना च या तां वन्दे परात्मदाम्।।६।।

अकारादि क्षकारान्तैर्वर्णैरत्यन्तनिर्मलैः।
अशेषशब्दैर्या भाति तामानन्दप्रदां नुमः।।७।।

लक्ष्मीवागादिरूपेण नर्तकीव विभाति या।
तामाद्यन्तविनिर्मुक्तामहं वन्दे वराननाम्।।८।।

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च यस्या एव समुद्गताः।
यस्यामेव विलीयन्ते तस्यै नित्यं नमो नमः।।९।।

महदादिविशेषान्तं जगद्यस्याः समुद्गतम्।
यस्यामेव लयं याति वन्दे तामम्बिकामहम्।।१०।।

ताल्वोष्ट के संश्लेषण से अभिव्यक्त वैखरीवाक् सर्वप्रथम आत्मस्वरूप-से स्थित रहती है, पुनः स्वर एवं व्यञ्जन के भेद से दो भागों में विभक्त होती है, पुनः अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त इन सोलह रूपों में विभक्त हो जाता है। तत्श्चात् व्यञ्जन पुनः 'क' से 'स' तक बत्तीस भागों विभक्त होती है, उस परमात्मस्वरूप बोधिका शक्ति की मैं वन्दना करता हूँ।।६।।

अकार-से लेकर क्षकार पर्यन्त अति निर्मल वर्णों के रूप में तथा तद्वर्ण घटित सम्पूर्ण शब्दों के रूप में जो प्रकाशित होती है, उस परमानन्द प्रदान करने वाली देवी की मैं वन्दना करता हूँ।।७।।

जैसे–कोई नर्तकी एक होती हुई भी साज-सज्जाओं से विभूषित हो भिन्न-भिन्न स्वरूपों में प्रतीत होती है, या दिखाती है, तद्वत् एक ही परा शक्ति लक्ष्मी, सरस्वती आदि नाना रूपों में प्रतीत होती है, उस आदि-अन्त से रहित (वरानना) स्मितमुखी देवी की मैं वन्दना करता हूँ।।८।।

ब्रह्मा-से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक विश्व जिससे ही निकलता है, और जिसमें विलीन हो जाता है, उस कारणत्मिका देवी को मैं नित्य ही बारम्बार प्रणाम करता हूँ।।९।।

जिस परमा देवी-से महत् तत्वादि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, और जिसमें विलीन हो जाता है, उस अम्बिका देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।।१०।।

गुरुमूर्तिधरां गुह्यां गुह्यविज्ञानदायिनीम् ।
गुह्यभक्तजनप्रीतां गुहायां निहितां नुमः ।।११।।
य इदं पठते स्तोत्रं सन्ध्ययोरुभयोरपि ।
सर्वविद्यालयो भूत्वा स याति परमां गतिम् ।।१२।।

केचन शब्दं कारणमाहुः—वैयाकरणाः ।

तप्यतापकरूपेण विभातिमखिलं जगत् ।
प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।। (सू.सं. ब्रह्मगीता ३)

गुरु के स्वरूप को धारण करने वाली, गोपनीया, रहस्यभूत विज्ञान का उपदेश करने वाली, जो भक्त रहस्य में (एकान्त में) छुपकर देवी की उपासना करते हैं, उनपर प्रसन्न होने वाली, हृदय रूपी गुहा में निहित (स्थित) महादेवी को मैं नमस्कार करता हूँ।।११।।

जो साधक दोनों सन्ध्यायाओं में (प्रातः सायं) इस स्तोत्र का पाठ करता है, वह सम्पूर्ण विद्याओं का आलय बन जाता है, तथा परमागति को प्राप्त कर लेता है।।१२।।

अर्थ—कुछ वैयाकरण शब्द को कारण ऐसा मानते हैं।

सम्बन्ध—अच्छे-बुरे कर्मों एवं उसके फलों से कौन नहीं भयभीत होता ? इसका वर्णन।

अर्थ—जिसने अपने गुरु के उपदेश-से यह जान लिया कि आनन्दस्वरूप, अद्वितीय, निर्विशेष स्वरूप शिव मैं हूँ, फिर वह साधु या असाधु कर्मों एवं उसके फल-से भयभीत नहीं होता, क्योंकि नाना प्रकार के कर्म एवं उसके फल इन दोनों रूपों से युक्त संसार वेदान्त वाक्य जनित बोध से प्रत्यगात्मरूप ही प्रकाशित होता है। फिर तो तप्य एवं तापक का भेद ही सिद्ध नहीं होता।

सम्बन्ध—वेदान्त में अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पञ्चकोश हैं। जिस प्रकार कोश में खजाने छुपे रहते हैं तथा जैसे म्यान में तलवार छुपा रहता है, तद्वत् ये पञ्चकोश आत्मा को आच्छादित कर स्थित है। विवेक द्वारा आत्मा-से इसको पृथक् कर लेने पर आत्मा की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है।

अन्नरस के परिणाम स्वरूप निर्मित चर्म, रुधिर मांस, अस्थिमय स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। अज्ञानी इस शरीर को ही आत्मा कहते हैं। दूसरा प्राणमय कोश है। कर्मेन्द्रिय और प्राण इस कोश का स्वरूप है। यह शरीर के अन्दर है, तथा सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत आता है, विवेक द्वारा इसके आत्मत्व का भी निषेध कर दिया जाता है।

प्राणेनान्यमयः पुर्णः प्राणमयो मनोमयेन,
स विज्ञानमयेन, विज्ञानमय आनन्दमयेन।
तथाऽऽनन्दमयश्चापि ब्रह्मणाऽन्येनसाक्षिणा।
सर्वान्तरेण सम्पूर्णो ब्रह्म नान्येन केनचित्।। (सू.सं. ब.गी.)
यदिदं ब्रह्म पुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम्।
स रसः सर्वदा साक्षात् ....।।
एतमेव रसं लब्ध्वा सुखी भवति देहवान्।
लौकिकेष्वपि गानेषु प्रसादं कुरुते शिवः।
गीतिगानेन योगः स्याद्योगादेव शिवैक्यता।।

ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमयकोश कहते हैं, ज्ञानेन्द्रिय एवं बुद्धि को मिलाकर विज्ञानमय कहलाता है, तथा कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहते हैं।

कोशों को अलग-अलग कर समझाने का यही तात्पर्य है, कि ये पाँचों आत्मा नहीं है।

अर्थ—अन्नमयकोश प्राणमय कोश से पूर्ण है। प्राणमय मनोमय से पूर्ण है। मनोमय विज्ञानमय कोश-से पूर्ण है, तथा विज्ञानमय आनन्दमय कोश-से भरा हुआ है।

अर्थ—तथा आनन्दमय कोश भी स्व-से भिन्न स्व के साक्षी ब्रह्म से पूर्ण है, ब्रह्म में अध्यस्त है। सबसे भीतर ब्रह्म है, उसके भीतर कुछ नहीं अर्थात् वह किसी में अध्यस्त नहीं वह तो सबका अधिष्ठान है।

अर्थ—जो यह सत्य, ज्ञान एवं अद्वय स्वरूप पुच्छाख्य ब्रह्म है (पुच्छ कहते हैं आधार को अधिष्ठान को यथा-पक्षिणां पुच्छमाधारः एवं आनन्दमयस्य ब्रह्म आधारः जैसे पक्षियों का पूच्छ उसका आधार होता है, वैसे ही आनन्दमय कोश का भी ब्रह्म अधिष्ठान है।) वह सर्वदा साक्षात् रस स्वरूप, अपरोक्षानन्दस्वरूप है। इसी रस (ब्रह्म) को प्राप्तकर देही सुखी होता है, विषयों को प्राप्तकर उसके सेवन से यह देही कभी भी शाश्वत् सुख को नहीं प्राप्त कर सकता।

सम्बन्ध—संगीत विद्या के द्वारा भी भगवान् शिव को प्राप्ति हो सकती है, इसका कथन।

अर्थ—भगवान् शिव लौकिक गानों से भी प्रसन्न हो जाते है, फिर वैदिक गीतों से प्रसन्न हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या ? संगीत के ज्ञान-से भी योग सम्पन्न होता है और योग से शिव के साथ एकता, लेकिन केवल लौकिक (विषय सम्बन्धि लौकिक) गीत तो भूलकर भी नहीं गाना चाहिये। यदि कोई सांसारिक गीत गाता है, तो उसे अवश्य प्रायश्चित्त करना चाहिये।

केवलं लौकिकं गानं न कुर्यान्मोहतोऽपि वा। (सू.सं. ब्र.गी. ३)

सुज्ञातमिति चेद्ब्रह्म कर्मकर्तृ स्वरूपतः।
ज्ञातं तदा दभ्रमेव साक्षिवेद्यं कथं भवेत्॥
यस्य स्वात्मतया ब्रह्मविदितं कर्मतांविना।
तस्य तज्ज्ञानकर्तृत्वविहीनस्य मत हितत्॥ (सू.सं. ब्र. ४)

अकर्त्रविषय प्रत्यक्प्रकाशः स्वात्मनैव तु।
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्मयो वेद वेद सः॥ (ब्र.गी. ४)

प्रत्यगात्मा परं ज्योतिर्माया सा तु महत्तमः।
तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि॥

प्रातः स्मरणीय स्वामीजी श्रीलक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज ने संगीत में रूचि रखने वाले भक्तों के लिए अपनी दैनन्दिनी (डायरी) में अनेक भजनों का संग्रह भी इस शास्त्र वाक्य को प्रमाण मानकर ही किया, साथ ही डायरियों में वेदान्त सम्बन्धि भी अनेक अत्युत्तम भजन विद्यमान है उसका गान भी साधक के जीवन लक्ष्य का पाथेय अवश्य होगा इसमें संशय का अवकाश नहीं।

सम्बन्ध–यथार्थ तत्त्वज्ञ कौन ? इस प्रश्न के उत्तर का दो श्लोकों द्वारा कथन।

अर्थ–हे देवगण ! कर्ता कर्म या स्वरूप से यदि आप ऐसा मानते है कि 'ब्रह्म' हम लोगों द्वारा अच्छी तरह से जान लिया गया है, तो आप लोगों का यह जानना तुच्छ (अल्प) ही है क्योंकि ब्रह्म तो साक्षी है, वह साक्ष्य नहीं हो सकता है।

वस्तुतः चाहे ब्रह्मज्ञान हो, घटज्ञान हो या फिर भ्रान्ति ज्ञान हो, किसी भी ज्ञान में वह न तो कभी कर्ता होता है, और नहीं कर्म; ब्रह्म तो चिन्मात्र केवल है। जिसको निश्चय ही वह ब्रह्म विषय नहीं अपितु स्वात्मतया अर्थात् प्रत्यक् साक्षिरूप से ज्ञात होते हुए, स्वरूपप्रकाश द्वारा ही प्रकाशित होता है, वह प्रकाश नित्य है, ऐसा होने-से उसमें कर्तृत्त्व का भी निषेध हो जाता है। ऐसा जानने वाले उस विद्वान् को कर्तृत्व कर्मत्व, से रहित समस्तोपाधि-शून्य ब्रह्म ज्ञात ही है।

अर्थ–जो प्रत्यक् रूप प्रकाश है, उसको जिसने न तो कर्ता रूप-से और नहीं विषय रूप से बल्कि स्वात्मना (स्वप्रकाशरूप से) ब्रह्म रूप में जाना वह भी तर्क अथवा प्रमाणादि के विना ही उसी ने उस ब्रह्म को जाना।

अर्थ–प्रत्यगात्मा परं ज्योतिस्वरूप है और माया अंधकार (अज्ञान या विपरीत ज्ञान रूप) है। जब स्थिति एतादृशी है, तो फिर प्रत्यगात्मा में माया हो यह सम्भव ही कैसे है।

तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या न चिदघने।
स्वप्रकाशैकसंसिद्धेर्नास्ति माया परात्मनिः ।। (ब्र.गी. ४)
नैशं तयः सूर्यं नाश्रयती न विषयी करोति ।। (टीका)
व्यावहारिक दृष्टेयं विद्यामाया न चान्यथा।
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्तिकेवलम् ।। (ब्र.गी. ४)
जलजौ वनजौ खर्वा रामौ रामः कृपोऽकृपः ।
अवतारादशैते स्युः ।
दुइवनचर दुइवारिचर चार विप्र दो राउ।
तुलसी दस जस गाइके भवसागर तरि जाउ ।।

इस कारण से तर्क, प्रमाण एवं तत्त्वदर्शियों के स्वानुभव-से यह बात सिद्ध हो जाती है कि स्वप्रकाश मात्र से संसिद्ध होने के कारण चिद्धन परमात्मा में माया हो ही नहीं सकती।

जैसे कि रात्रि का अन्धकार न तो सूर्य को कभी आश्रय करता है, और न हि विषय।

अर्थ—व्यावहारिक दृष्टि से हि यह विद्या और माया है, तात्विक दृष्टि से तो इन दोनों की सत्ता ही नहीं बस एकमात्र तत्त्व है।

सम्बन्ध—भगवान् के दस अवतार।

अर्थ—मत्स्य तथा कच्छप, वराह एवं नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि।

अर्थ—**दो वनचर**—वराह एवं नरसिंह।

दो वारिचर—मत्स्य तथा कच्छव।

चार विप्र—वामन, परशुराम, कल्कि, दतात्रेय।

दो राजा—राम एवं कृष्ण।

भगवान् के अवतारों में विप्र रूप से कई अवतार हैं। भगवान् के इस दस अवतारों का सुयश गाकर, जन्म-मृत्यु रूपी सागर से तर जाओ। लोगों को संसार-सागर से पार होने के लिए भगवान् के जिस अवतार में निष्ठा है, उनके गुणों का गान करते रहना चाहिये।

राजयोगाङ्गानि

१. विवेकः, २. वैराग्यम्, ३. षट्सम्पत्तिः,
४. मुमुक्षुता, ५. श्रवणम्, ६. मननम्,
७. निदिध्यासनम्, ८. तत्त्वपदार्थशोधनम् ।

---

१. विवेकः – नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ।
एवं यो निश्चय सम्यग्विवेको वस्तुनः सवै ॥ (अपरोक्ष.)

२. वैराग्यम् – ब्रह्मादिस्थावशन्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु ।
यथैव काकविष्ठाया वैराग्यं तद्धि निर्मलम ॥ (अपरोक्षा.)

३. षट्सम्पत्तिः – "शान्तो क्षन्त उपरतिस्तितिक्षुः समाहितोभूत्त्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्" (बृहदारण्यक०)

क. शमः (शान्तिः) – सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः । (अपरोक्ष.)

ख. दमः – निग्रहो बाह्य वृत्तीना दम इत्यभिधीयते । (अपरोक्ष.)

ग. उपरतिः – ब्राह्मानालम्बनं वृत्तेरेषोपपरितरूत्तमा । (विवेक. चू.)

घ. तितिक्षा – सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभामता । (अपरोक्ष.)

ङ. श्रद्धा – शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥ (वि.चू.)

च. समाधानम् – सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।
तत्समाधानमुक्तं .... ॥

४. मुमुक्षुता – अहङ्कारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥ (वि.चू.)

५. श्रवणम् – श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि
तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया ।

६. मननम् – मनन्तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवत मनुचिन्तम । (वे.प०)

७. निदिध्यासनम् – विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीय वस्तु सजातीय प्रत्यय प्रवाहो निदिध्यासनम । (वे.सा.)

८. तत्त्वम्पदशोधनम् – "यत्तत् तत्सत् भत्सत् तत्तत्"

सम्बन्ध–योग, सांख्य वेदान्तादि शास्त्रों के अनुसार योग की परिभाषा, साधन, स्वरूप अलग-अलग हैं, सम्प्रति वेदान्त के अनुसार राजयोग का वर्णन किया जा रहा है। सम्पूर्ण योगों का राजा होने के कारण इसे राजयोग कहते हैं।

१. आत्मा स्वरूपतः नित्य है और दृश्य (सम्पूर्ण दृश्यमान् पदार्थ) उससे विपरीत जाने वाला अर्थात् अनित्य इस प्रकार का जो सम्यक् (दृढ़) निश्चय है, वह निश्चित रूप से आत्म वस्तु का विवेक है।

२. ब्रह्मा से लेकर स्थावर (वृक्ष, तृणादिपर्यन्त) सम्पूर्ण विषयों में वैराग्य (आसक्ति का अभाव, या इनमें इच्छा, चाह का अभाव) होना चाहिये। इन विषयों में कैसी बुद्धि होनी चाहिये? कहते हैं, जैसे–काक विष्ठा में हेय बुद्धि होती है वैसी त्याज्य बुद्धि यदि सम्पूर्ण विषयों में हो जाय तो निश्चय ही वह निर्मल वैराग्य है।

३. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान, इन षट्सम्पत्तिः से युक्त होकर आत्मा में ही आत्मा को देखें।

क.–सदा ही वासनाओं का त्याग करना 'शम' इस शब्द से कहा जाता है। विवेक चूड़ामणि में भगवत्पाद ने कहा है—बारम्बार विषयों में दोष-दर्शन करने-से चित्तका उन विषयों से हटकर, विरक्त होकर स्वलक्ष्य में जो नियत (स्थिर) हो जाना है वह मनकी शमावस्था है।

ख.–कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को उनके अपने-अपने विषयों लौटाकर अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना 'दम' कहलाता है।

ग. कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का उनके विषयों के साथ संयोग न होने देना, अर्थात् विषयों का आलम्बन न लैन देना ही सर्वश्रेष्ठ उपरति है।

घ. सम्पूर्ण दुःखों को सहना ही उत्तम तितिक्षा मानी गयी है। भगवान् श्री शङ्करार्च जी ने विवेक चूड़ामणि में कहा है—चिन्ता एवं विलाप से रहित होकर विना प्रतिकार किए सम्पूर्ण दुःखों को सहना शुभ तितिक्षा है।

ङ. सद्गुरु एवं वेदान्तादि शास्त्रों में सत्यत्व बुद्धि की जो अवधारणा (निश्चय) करना– इसी को सत्पुरुषों से 'श्रद्धा' कहा है, जिससे कि सत्यवस्तु (ब्रह्म) की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है।

च. सर्वदा अपनी बुद्धि को शुद्ध ब्रह्म में ही सर्वप्रकार से स्थिर रखना 'समाधान' कहा गया है। तात्पर्य है कि साधक के मन में मनोराज्य न हो।

४. अहङ्कार से आरम्भ कर स्थूल देह पर्यन्त जितने भी अज्ञान कल्पित बन्धन हैं, उन सबको स्वस्वरूप के ज्ञान से त्यागने की जो इच्छा है, उसे 'मुमुक्षुता' कहते हैं।

५. **श्रवण का अर्थ**–सम्पूर्ण अद्वैत वेदान्त का अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में ही तात्पर्य है—एतादृश अवधारण (निश्चय) की उत्पन्न करने वाली मानसी क्रिया 'श्रवण' पद का वाच्यार्थ है।

६. आचार्य मुख से वेदान्त वाक्यों के द्वारा सुने उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्त के अनुकुल युक्तियों के द्वारा अनवरत (निरन्तर) चिन्तन करना मनन है। अभेद का साधक एवं भेद-बाधक युक्तियों से ब्रह्म का अनुचिन्तन करना।

७. अद्वितीय ब्रह्म के विजातीय (विपरीत) देहादि के विषय में होने वाले विचारों से रहित उस (ब्रह्म) के सजातीय (सदृश) विचारों को चित्त में प्रवाहित करना निदिध्यासन कहलाता है।

वेदान्त परिभाषा में कहते है—'निदिध्यासनं नाम अनादि-दुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाण चित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयक स्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः।

अनादि दुर्वासना के कारण विषयों में (उनकी ओर) आकृष्ट होनेवाले चित्त को उन विषयों से अपकर्षणकर (लींचकर) आत्मा में स्थिर करने के अनुकुल मानसिक व्यापार (भावना) 'निदिध्यासन' कहा जाता है।

८. **श्रुति का उद्घोष है**–जो 'तत्' का वाच्यार्थ है, वही सत् का है, और जो सत् का अर्थ है वही तत् का अर्थात् ब्रह्म। तथा 'त्वम्' पद का तात्पर्य है, द्रष्टता। यह 'अहम्' का शोधन अपरिछिन्न अखण्ड अद्वितीय वस्तु के रूप में स्थिर होता है। भाग त्याग लक्षणा के द्वारा सर्वज्ञत्व, अल्पजत्व आदि उपाधियों का त्याग कर 'तत्वमसि' महावाक्य अखण्डैकरस ब्रह्म में स्थिर होता है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के असि पद का जो अर्थ है, 'अहं ब्रह्मास्मि में 'अस्मि' का जो तात्पर्य है, "अयमात्मा ब्रह्म" एवं प्रज्ञानं ब्रह्म में छुपे 'अस्ति' पद का वही अर्थ है—'ऐक्य' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'।

यह 'तत्त्वं पदशोधन' एक प्रक्रिया है, एक साधन है, जो कि अन्तरङ्ग साधन के अन्तर्गत आता है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन 'तत्त्वं' पदार्थ के शोधन के लिए ही हैं।

वेदान्त में करणशोधक साधन के अन्तर्गत, विवेक वैराग्य, षट् सम्पत्ति एवं मुमुक्षा है—जिन्हें साधन चतुष्टय भी कहा गया है, ये श्रवणादि की अपेक्षा से बहिरङ्ग माने गये हैं।

त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद–

देहेन्दियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ।
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।।१।।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ।
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।।२।।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहाररस्तु सत्तम् ।
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।।३।।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यान मुच्यते ।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते ।।४।।

अर्थ–देह, इन्द्रिय एवं इनके विषयों में पूर्ण रूप से वैराग्य हो जाना 'यम' है, ऐसा बुधजन कहते हैं। परमात्मतत्त्व में सतल अनुरक्ति (प्रेम) रखना ही 'नियम' कहा गया है। सम्पूर्ण भौतिक वस्तुओं में उदासीन भाव रखना श्रेष्ठ आसन कहा है। तथा यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, ऐसी प्रतीति (समझ लेना) प्राणों का संयम अर्थात् प्राणायाम् है ॥१–४॥

भगवान् शंकराचार्य जी न अपरोक्षानुभूति में प्राणायाम के साथ-साथ पूर्वक कुम्भक एवं रेचक को भी परिभाषित किया है।

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।।
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ।।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।

अर्थ–चित्त आदि के साथ, इनके सम्पूर्ण वृत्तियों में ब्रह्म भाव रखना, कि ये सम्पूर्ण ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार की भावना के द्वारा सभी वृत्तियों का जो निरोध है, वह प्राणायाम कहा जाता है।

अर्थ–प्रपञ्च का निषेध करना 'रेचक' नामक प्राणायाम कहलाता है और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की जो वृत्ति है, वह पूरक-प्राणायाम कहि गई है।

अर्थ–'ब्रह्मैवास्मि'' इस वृत्ति की भावना के अनन्तर जो इसकी निश्चलता है, वही कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है।

प्रत्याहारः— चिस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ।
विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ।। (अ.भू.)

धारणा— यत्र यत्र मनोयाति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ।। (अ.भू.)

सरस्वतीरहयोपनिषद् देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र-यत्र मनोयाति तत्र तत्र परामृतम् ।।

अमृतनादोषनिषद् मनः संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।
[illegible]यित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ।।
दहेद् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
किल्विषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत् ।।

अर्थ—हे श्रेष्ठ त्रिशिखि ! चित्तका अन्तर्मुखी भाव ही प्रत्याहार कहलाता है।

अर्थ—विषयों में आत्मभाव करके अर्थात् विषय आत्मस्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान-दृष्टि से देखकर मन का चिदात्मा में डूब जाना श्रेष्ठ प्रत्याहार है, ऐसा जानना चाहिए, मुमुक्षु पुरुष को बारम्बार इसी का अभ्यास करना चाहिये।

धारणा—चित्त का निश्चल भाव धारण कर लेने को धारणा कहते हैं।

अर्थ—जहाँ-जहाँ मन जाता हो, वहाँ-वहाँ ब्रह्म का दर्शन करते हुए मन को उसी ब्रह्म में जो स्थिर करना है वह परा (उत्कृष्टा) धारणा मानी गई है।

अर्थ—देहाभिमान के नाश हो जाने पर जब परमात्म तत्त्व का ज्ञान हो जाता है, तब, यह मन जहाँ-जहाँ भी जाता हो वहीं वहीं परम अमृतस्वरूप ब्रह्म ही है।

योगदर्शन के अनुसार—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" चित्त की वृत्तियों को सब तरफ हटाकर किसी एक देश में स्थिर करना धारणा कहलाता है।

अमृतनादोदनिषद् के अनुसार धारण का स्वरूप है—बुद्धिमान साधक मन को संकल्प के रूप में विचारकर उसको बुद्धि में लीन कर दे, उसके बाद बुद्धि को आत्मा में स्थिर कर दे। इस तरह की प्रक्रिया को धारणा कहा गया है। साधक धारणा के द्वारा अपने पापों को जलाकर भस्म कर दे, तदनन्तर अत्यन्त रुचिर (सुन्दर) आत्मा का ध्यान करे।

ध्यान—मैं चिन्मात्रस्वरूप हूँ यही चिन्तन ध्यान कहा जाता है।

ध्यान — ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यान शब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ।। (अपरोक्षा)

पूज्यपाद भगवान् – निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ।। (अपरोक्षा.)

निरालम्बोपनिषद् – ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो
यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः ।
''सविकल्पो निर्विकल्प इति द्वेधा निगद्यते''

अर्थ–'मैं ही ब्रह्म हूँ'' इस सद्‌वृत्ति के द्वारा जो एक निरालम्ब स्थिति की प्राप्ति होती है, जो की परमानन्द को प्रदान करने वाली है, ध्यान शब्द से विख्यात है।

समाधि–'मैं ब्रह्म हूँ' इस ध्यान का भी पूर्ण रूप से विस्मरण हो जाना सम्यक् समाधि ऐसा कहा गया है।

अर्थ–वृत्ति विषयानुसन्धान से शून्य होकर पुनः अच्छी प्रकार प्रपञ्च के संस्कार से रहित ध्याता ध्येयाकार वृत्ति से रहित, ब्रह्माकार वृत्ति का भी विस्मरण हो जाना ही ज्ञान समाधि कहलाती है। (अपरो०)

निरालम्बोपनिषद् में आया है—

अर्थ–जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इस निश्चय से युक्त होकर, निर्विकल्प समाधि के कारण स्वतन्त्र यति स्वच्छन्दरूप पृथिवी में या पुनः अपने स्वरूप में रमता रहता है, वही संन्यासी है और वही मुक्त है।

समाधि को हठयोग प्रदीपिका में इस रूप-से परिभाषित किया गया है—**सलिले सैन्धवं यदद्यत् साम्यं भजति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरमिधीयते ।।**

यथा जल में नमक मिलने पर जल के समान हो जाता है, वैसे ही जब चित्त आत्मा के साथ मिलकर आत्मा से पृथक रूप में न होकर तद्रुप ही हो जाता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह में समाधि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

अर्थ–सविकल्प एवं निर्विकल्प भेद-से समाधि दो प्रकार की होती है, ऐसा स्पष्ट शास्त्रकार कहते हैं।

अर्थ–ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के विलय हुए विना ही केवल ज्ञेय ब्रह्म में उसके आकार को धारण करनेवाली चित्त वृत्ति कि जो स्थिति है, उसको ही सविकल्प समाधि कहते हैं, ऐसा सत्पुरुषां के द्वारा साधकों को जानना चाहिये। जैसे—मणमय हाथी में मृत्तिका हाथी के भान के सदृश सन्मात्र वस्तु का भान होते हुए भी सन्मयी त्रिपुटी की प्रतीति होती रहती है। इस कारण से यह सविकल्प समाधि ही है, इस प्रकार अनुभवी पुरुषों के द्वारा कहा जाता है। क्योंकि भेद तब भी बना ही रहता है। सविकल्प शब्द का अर्थ ही प्रत्यक्षभेद है।

सविकल्प– ज्ञात्राद्यविलयेनैव ज्ञेये ब्रह्मणि केवले।
तदाकाराकारितया चित्तवृत्तेरवस्थितिः ।।
सद्भिः से एव विज्ञेयः समाधिः सविकल्पकः।
मृद एवावमानेऽपि मृण्मयद्विपभानवत् ।।
सन्मात्रवस्तुमानेऽपि त्रिपुटीमाति सन्मयी।
समाधिरत एवायं सविकल्पऽतीर्यते ।।

तत्र वैशिष्ट्यावगाहि नाम विशेष्य विशेषणयोः सम्बन्धमवगाहते विषयीकरोति इति वैशिष्ट्यावगाहि। तच्च तज्ज्ञानञ्चेति वैशिष्ट्यावगाहि। तच्च तज्ज्ञानञ्चेति वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम्। यस्मिन् ज्ञाने विशेष्यं विशेषणं तयोः सम्बन्धश्च विषयो भवति तज्ज्ञानं सविकल्पकं ज्ञानं भवति।

वेदान्त परिभाषाकार ने सविकल्प का अर्थ किया है—वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं 'सविकल्पकम्''। यथा—'घटमहं जानामि' इति ज्ञानम्।

वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान माना गया है। जैसे—'घटमहं ज्ञानामि' अर्थात् घटविषयकज्ञानवानहम्। इस ज्ञान में जाता एवं ज्ञेय का भेद बना रहता है। यहाँ विशेष्य एवं विशेषण तथा उन दोनों के सम्बन्ध ये तीनों विषय होते हैं, इनका भेद सहज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान है।

विकल्प माने जहाँ भेद कल्पना बनी रहे, 'विविधकल्पनम्' विकल्पः।

अर्थ–ज्ञाता आदि भावों का त्यागकर केवलज्ञेयमात्र में मनकी दृढ़ स्थिति योग संज्ञक निर्विकल्प समाधि है। इसमें चित्त ब्रह्म में विलीन हो जाता है, मात्र स्वस्वरूप अवशिष्ट रह जाता है।

अर्थ–जिस प्रकार जल में डाला गया लवण उसमें धुलकर जलरूप से स्थित रहता उससे पृथक् रूप में उसकी प्रतीति नहीं होती, एकमात्र जल ही अवभासित होता है, उसी प्रकार न चित्त पृथक् रूप से भासती है, और उसकी वृत्ति ही एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही अवभासित होता है।

अर्थ–इसमें ज्ञाता ज्ञेय आदि की कल्पना का अभाव होने के कारण यह (पूर्वोक्त समाधि) निर्विकल्प समाधि कही गई है। चित्त वृत्ति के सद्भाव एवं बाध के कारण ही दोनों समाधियों का भेद माना जाता है।

निर्विकल्प समाधि– ज्ञात्रादिभावमुत्सृज्य ज्ञेयमात्रस्थितिर्दृढा।
मनसो निर्विकल्पः स्यात्समाधियोगसंज्ञितः ।।

जले निक्षिप्त लवणं जलमात्रतया स्थितम्।
पृथङ् न भाति किं न्वम्भ एकमेवावभासते।।
यथा तथैव सा वृत्तिर्ब्रह्ममात्रतया स्थिता।
पृथङ् न भाति ब्रह्मैवाद्वितीयमवभासते।।
ज्ञात्रादिकल्पनाभावान्मतोऽयं निर्विकल्पकः।
वृत्तेः सद्भावबाधाभ्यामुभयो र्भेद इष्यते।।
समाधिसुप्त्योर्ज्ञानं चा ज्ञानं सुप्त्यात्रनेष्यते।
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्वाविमौ हृदि।।
मुमुक्षोर्यत्नतः कार्यौ विपरीतनिवृत्तये।
कृतेऽस्मिन्विपरीताया भावनाया निर्वतनम्।।
ज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वं सदानन्दश्च सिध्यति।

दृश्यानुविद्धः शब्दानुविद्धश्चेति द्विधामतः।
कामादिप्रत्ययैर्दृश्यैः संसर्गो यत्र दृश्यते।।
सोऽयं दृश्यानुविद्धः स्यात्समाधिः सविकल्पकः।
अहंममेदमित्यादिकामक्रोधादिवृत्तयः।।
दृश्यन्ते येन सदृष्ट्रा दृश्याः स्युरहमादयः।
कामादिसर्ववृत्तीनां द्रष्टारम्यविकारिणम्।।
साक्षिणं स्वं विजानीयाद्यस्ताः पश्यति निष्क्रियः।
कामादीनामहं साक्षी दृश्यन्ते ते मया ततः।।
इति साक्षितयात्मानं जानात्यात्मनिसाक्षिणम्।
दृश्यं कामादि सकलं स्वात्मन्येव विलापयेत्।। (स.वे.सि.)

नाहं देहो नाप्यसुर्नाक्षवर्गो नाहंकारो नो मनो नापि बुद्धिः।
अन्तस्तेषां चापि तद्विक्रियाणां साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि।।
वाचः साक्षी प्राणवृत्तेश्च साक्षी बुद्धेः साक्षी बुद्धि वृत्तेश्च साक्षी।
चक्षुः श्रोत्रादीन्द्रियाणां च साक्षी साक्षीनित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि।।
नाहं स्थूल नापि सूक्ष्मो न दीर्घो नाहं बालो नो युवा नापि वृद्धः।
नाहं काणो नापि मूको न षण्डः साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि।।
(स.वे.)

नाहं बद्धो .... न मुक्तः।
साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि।।

अर्थ–समाधि में ज्ञान और सुषुप्ति में अज्ञान रहने के कारण यहाँ सुषुप्ति को समाधि नहीं कहते है। चित्तमें स्थित विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए सविकल्प एवं निर्विकल्प दोनों ही समाधि मुमुक्षु पुरुष को यत्न पूर्वक करनी चाहिये। इन दोनों के करने पर देहादि में जो आत्मबुद्धि है, इस विपरीत भावना का निवर्तन (नाश) हो जाता है।

अर्थ–सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि के करने से मुमुक्षु पुरुष के ज्ञान की अप्रतिबद्धत्व एवं सदानन्द की सिद्धि होती है।

सविकल्प समाधि के भेद–'दश्यानुविद्ध' एवं 'शब्दानुविद्ध' के भेद-से सविकल्प समाधि दो प्रकार की मानी गई है। चित्त के एकाग्र होने पर भी जहाँ कामादि वृत्तियाँ ज्ञानरूप दृश्यों के साथ (क्योंकि ज्ञान भी पहले अनुविद्ध रूपमें, मिला हुआ ना ही प्रतीत होता हैं) संसर्ग युक्त देखा जाता है, वही यह दृश्य के साथ अनुविद्ध (अनुस्यूत) समाधि, सविकल्प समाधि होती है।

'मैं', 'मेरा', 'यह' तथा काम, क्रोध, लोभादि वृत्तियाँ जिसके द्वारा दृश्य है, वह द्रष्टा है, और अहंकारादि (में आदि) सव दृश्य कायादि वृत्तियों को आत्मा में ही विलीन कर दे।

कैसे ? विलीन करे 'भगवान्' यह बता रहे हैं।

अर्थ–मैं देह नहीं हूँ, और नहीं प्राण इन्द्रियों का समुदाय भी मैं नहीं हूँ, न मैं अहंकार हूँ, न मन और नहीं बुद्धि हूँ। इन देहादि विकारों के मध्य में भी इनका साक्षी नित्य प्रत्यगात्मस्वरूप में हूँ। (सव वे.)

अर्थ–वैखरी आदि वाणी का साक्षी प्राणवृत्तियों (इनके व्यवहारों) का साक्षी निश्चयात्मक-स्वरूप वाले बुद्धि एवं इसकी वृत्ति निश्चय का साक्षी, चक्षु, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों का जो साक्षी, नित्य प्रत्यगात्मस्वरूप वह साक्षी साक्षात् मैं ही हूँ।

सम्बन्ध–भगवान् बात को हृदय में बैठाने के लिए और भी स्पष्ट रूप कह रहे हैं—

अर्थ–न मैं स्थूल हूँ, न सूक्ष्म न दीर्घ, न ह्रस्व, न बालक, न युवा, और न वृद्ध ही हूँ। मैं काणा भी नहीं हूँ, गूँगा भी नहीं हूँ जड़ भी नहीं हूँ, इन सबका साक्षी नित्य प्रत्यगात्मस्वरूप आत्मा हूँ।

अर्थ–न तो मुझे किसी प्रकार का बन्धन है, और नहीं मैं मुक्त हूँ, सबका साक्षी नित्य प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म हूँ।

सम्बन्ध–विषय चिन्तन का त्याग कर भगवान् के हँसते हुए मुखण्डल का ध्यान करने का निर्देश।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितय विष्णो र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ।।
(भागवत ३/२८)

पातालस्याधः त्रिंशत्सहस्त्रयोजन दूरे अनन्तनाम भगवतः तामसी कला अहंकाररूपाऽस्तिण या द्रष्टदृश्ययोश्चेतनाचेतनयोर्जीवशरीरयोः भोक्तभोग्ययो सम्यक आकृष्यएकीकरोति, पाञ्चरात्रागमिका एनां संकर्षणमित वदन्ति ।
(भागवत ५/२५)

अस्यानन्तस्य सहस्त्राणि शिरांसि सन्ति ।
तेषु एकस्मिन् शिरसि एतद्भूमण्डलं सर्षप इव भाति ।

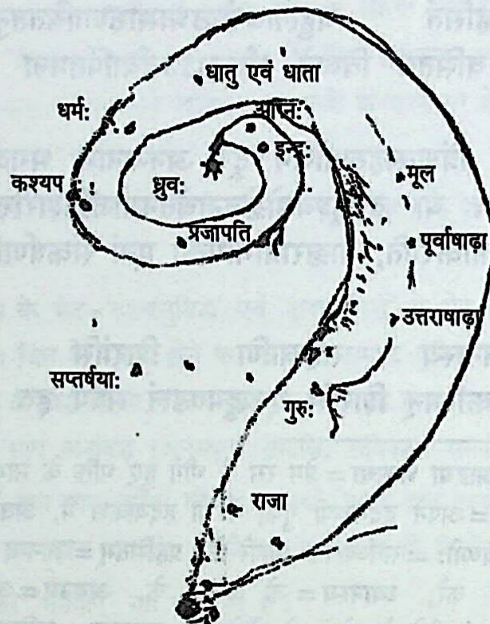
अन्वय–भक्त, आद्रया भक्त्या = प्रेम रस से भीगें हुए भक्ति के साथ अर्थात् अतिशय श्रद्धा के साथ, **स्वदेहकुहरे** = अपने हृदयरूपी गुफा में या हदयाकश में, **अवसितस्य** = प्रत्यक्षरूप से निवास करने वाले, **विष्णोः** = सर्वव्यापक श्रीहरि के, **प्रहसितम्** = आनन्द में खिलखिलाकर हँसने का, **ध्यायेत्** = ध्यान करे, **ध्यानस्य** = जो ध्यान के, **अयनम** = अवलम्बन हैं, जिसमें, **अधरोष्ठस्य** = ऊपर एवं नीचे के दोनों ही होंठों की, **बहुलया** = अतिशय, **अरुणायित** = लाल हुए, **भासा** = कान्ति के कारण, **तनुद्विजकुन्दपंक्ति** = कुन्दपुष्प की कली के सदृश श्वेत एवं छोटे-छोटे दन्त अरुण वर्ण के प्रतीत होते हैं, **अर्पितमना** = भगवान् के उस मोहक हास में मन को अर्पित कर, **पृथक्** = उससे भिन्न, **न दिदृक्षेत्** = अन्य और कुछ भी देखने की इच्छा न करे।

अर्थ–भक्त प्रेम रस में डुबकर अतिशय श्रद्धा पूर्वक अपने हृदय में भगवान् विष्णु के मधुर हास का ध्यान करे। यह ध्यान करने में अत्यन्त सरल भी है, क्योंकि इसमें चित्त अविलम्ब लग जाता है। भगवान् जब हँसते हैं, तो उनके अधरोष्ठ खुल जाते हैं, उस और उसके भीतर छोटे-छोटे श्वेत चमकते हुए दन्त ऐसे प्रतीत होते है, मानो कुन्द पुष्प की कलियाँ एक पंक्ति में स्थित है, इतना ही नहीं जब इनके होठों की लाली इनके चमकते हुए दाँतों पर पड़ती है, तो वे अरुण वर्ण के से प्रतीत होने लगते हैं। एक बार अपना मन भगवान् में लगाकर फिर भक्त को अन्य कुछ भी देखने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। (भागवत ३/२८)

सम्बन्ध–धरा को शिर पर धारण करनेवाले भगवान् संकर्षण देव का वर्णन।

अर्थ–पाताल के नीचे तीस हजार योजन की दूरी पर अनन्त नाम से भगवान् की अहंकार रूपा तामसी कला है। यह द्रष्टा-दृश्य चेतन-अचेतन, जीवन-शरीर तथा भोक्ता-भोग्य को अच्छी प्रकार खींचकर एक कर देती है, पाञ्चरात्र आगम को मानने वाले इन्हें सकर्षण कहते हैं। (भागवत ५/२५)

अर्थ–इस अनन्त भगवान् के हजारों मस्तक हैं, उनमें से एक शिर में यह भूमण्डल सरसों के दाने की तरह रखा प्रतीत होता है।

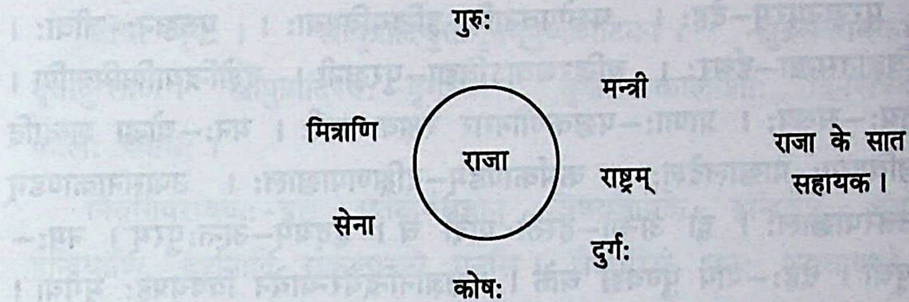


सम्बन्ध–शिशुमार चक्र (आकाशीय ज्योतिश्चक्र) का वर्णन।

अर्थ–सप्तर्षियों से तेरह लाख योजन ऊपर ध्रुवलोक स्थित है। सम्पूर्ण ग्रह नक्षादि से ध्रुवलोक का आश्रय लेकर कल्प का अन्त होने तक अव्यक्त गति भगवान् के द्वारा निरन्तर इस लोक के चारों और अपने-अपने कर्मों के फलस्वरूप वायु की प्रेरणा से विना गिरे चक्कर लगाते रहते हैं। अत्यन आदर के साथ सभी ग्रह नक्षत्र इसकी प्रदक्षिणा करते हैं, क्योंकि इस विष्णु का परम पद कहा गया है।

कुछ लोग भगवान् की योगमाया के आधार पर स्थित इस ज्योतिश्चक्र को शिशुभार (सूँस-एक प्राणी विशेष की आकृति की प्रतीत होने के कारण) की आकृती के रूप में वर्णन करते हैं।

यह सूँस (शिशुमार) कुण्डली मारकर स्थित है तथा मुख नीचे की तरफ है। शिशुमार की पूँछ के सिरे पर ध्रुव लोक स्थित है। इसके मध्य भाग में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र तथा धर्म स्थित हैं। पूँछ की जड़ में धाता एवं विधाता हैं। इसके कमर में सप्तर्षि है। यह दाहिने तरफ सिकुड़कर कुण्डली मारे स्थित है। अभिजित से लेकर पूनर्वसुपर्यन्त चौदह नक्षत्र इसके दाहिने भाग में तथा पुष्य-से लेकर उत्तराषाढ़ापर्यन्त चौदह नक्षत्र हैं, वे सब बायें भाग में स्थित हैं। इसकी पीठ में मूल पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराषाढ़ा नामक तीन नक्षत्रों का समुदाय है। इसके उदर में आकाशगङ्गा है।



शिशुमार के दाहिने एवं बायें कटितट में पुनर्वसु एवं पुष्य नक्षत्र है। दक्षिण एवं वाम नथुनों में अभिजित और उत्तराषाढा है। दाहिने एवं बायें नेत्रों में श्रवण एवं पूर्वाषाढ़ा तथा दाहिने और बायें कानों में धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघा आदि आठ नक्षत्र बायीं पसलियों में और उलटे क्रम-से मृगशिरा आदि आठ नक्षत्र दाहिनी ओर की पसलियों में है। शतभिषा तथा ज्येष्ठा नक्षत्र क्रमश: दाहिने एवं बायें कंधों पर है। नथुनी में अगस्त्य, ठोड़ी पर नक्षत्ररूप यम, मुखा में मङ्गल, लिङ्गस्थान पर शनि, ककुद में बृहस्पति, छाती में सूर्य, हृदय में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में शुक्र, स्तनों में अश्विनीकुमार, प्राण और अपान में बुध गले में राहु, समस्त अङ्गों में केतु तथा रोम कुपों में सम्पूर्ण तारागण स्थित हैं।

भगवान् नारायण का यह सर्वदेवमय स्वरूप है। रोज सायङ्काल के समय शुद्ध होकर तथा मौन धारण कर दर्शन करते हुए चिन्तन करना चाहिए तथा इस मन्त्र का जप करना चाहिए

'ॐ नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहि।

सम्पूर्ण ज्योतिर्लोकों के आधार, कालचक्ररूप, सम्पूर्णदेवताओं के अधिपति महापुरुष संज्ञक परमात्मा का नमस्कार पूर्वक चिन्तन करते हैं।

जो पुरुष तीनों समय (प्रात: मध्याह्न एवं सायं) भगवान् के इस अधिभौतिक स्वरूप का ध्यान में स्तुति करता है, उसके तत्काल कृत पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

सम्बन्ध–भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पचीसवें अध्याय-से लेकर अट्ठाईसवें तक पुरञ्जनोपाख्यान का वर्णन है। प्राचीनबर्हि नाम का एक राजा था, उसका चित्त कर्मकाण्ड में अत्यन्त आसक्त था, उसके कल्याणार्थ अध्यात्मविद्या को जानने वाले परमकृपालु नारद जी ने चार अध्यायों में विस्तृत रूप से रूपको के माध्यम-से एक कथा सुनाई यद्यपि वह परोक्ष से आत्मज्ञान का ही वर्णन था, किन्तु कर्मासक्त राजा प्राचीनबर्हि पूर्ण स्वरूप से उस कथा का तात्पर्य समझ नहीं सका और अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए उसने आग्रह किया।

पुरञ्जनपुरम्—देहः । पञ्चोपवनानि—इन्द्रियविषयाः । पुरुञ्जनः-जीवाः । अविज्ञातसखा—ईश्वरः । बुद्धिरथवाऽविद्या—पुरञ्जनी । दशेन्द्रियाणिमित्राणि । वृत्तयः—सख्यः । प्राणाः—पञ्चकणोनगर रक्षक सर्पः । मनः—योद्धा शब्दादि पञ्चविषयाः-पाञ्चालदेशः । कर्मकाण्डम्—दक्षिणपाञ्चालः । उपासनाकाण्डम् —उत्तरपाञ्चालः । द्वौ अन्धौ—हस्तौ पादौ च । हृदयम्—अन्तःपुरम् । नमः—विषूची । देहः—पापं पुण्यञ्च चक्रे । पञ्चज्ञानेन्द्रियैरन्यायेन विषयग्रहः मृगया । संवत्सर—चण्डवेगः । वृद्धा—कालकन्या । मृत्युः—यवनराजः । आधयोव्याधयः—यवनराजसैनिकाः । प्रज्वारः—ज्वरः । तेजः, जलं, अन्नञ्च—त्रिप्रकाराः । मनः पञ्चेन्द्रियाणि—वैश्यकुलानि । कर्मेन्द्रियाणि आपणाः । अस्मिन् प्रविष्टः पुरुषः अज्ञोभवन्ति ।

सम्बन्ध—तब नारद जी ने तात्पर्य के रूपकों का स्पष्टी करण किया ।

अर्थ—यह देह ही पुरञ्जनपुर है, जिसमें राजा पुरञ्जन रहता है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन्द्रियों के पाँच विषय ही पञ्च उपवन है। पुरञ्जन जीव है, और उसका अज्ञातसखा ईश्वर है। बुद्धि अथवा अविद्या पुरञ्जन की रानी पुरञ्जनी है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पञ्च कर्मेन्द्रियाँ उसके मित्र हैं। इन्द्रियों की वृत्तियाँ रानी की सखियाँ है। पञ्चप्राण ही पाँच फनों वाला सर्प है। मन एक महान् योद्धा है। शब्दादि पञ्चविषय-पाञ्चालदेश है। कर्मकाण्ड दक्षिणपाञ्चाल एवं उपासनाकाण्ड-उत्तरपाञ्चाल है। दो अन्धे हैं—दोनों हाथ एवं दोनों पैर। हृदय ही उसका अन्तः पुर है। मन विषुची नामक सेवक है। और इस देहकस पाप एवं पूण्य किया जाता है। पञ्चज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अन्यायपूर्वक विषयों का सेवन ही मृगया है। संवत्सर ही चण्वेग नाम का गन्धर्वराज है। दिन एवं रात ये क्रमशः उसके अधीन में रहने वाले तीन सौ साठ गन्धर्व एवं उतने ही गर्न्धावियाँ हैं। मृत्यु ही साक्षात् यवनराज है, जो उसकी बहिन है। आधि एवं व्याधि यवनराज के सैनिक हैं शीत एवं उष्ण ये दो प्रकार के ज्वर ही प्रज्वर है। तेज, जल एवं अन्न ये तीन प्रकार है। मन सहित पञ्चइन्द्रियाँ वैश्यकुल हैं। कर्मेन्द्रियाँ दुकान है। इसमें प्रविष्ट होकर जीव अज्ञानि से मोहित जाता है एवं अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और वह त्रिविध दुःखों से संतप्त होता हुआ जन्म-मृत्यु रूप संसार में भटकता रहता है। इसके सारे उपाय होते तो हैं, दुःख दूर करने के लिए, लेकिन दुःख दूर होने के बदले वह बढ़ता ही जाता है।

जीवः-मृगः । स्त्रीपुत्रादियुक्तगृहम्पुष्पवाटिका । क्षुद्रसकामकर्माणि दूर्वांकुराणि । स्त्रीपुत्रादिरवः—मृगरवः । वृकाः—कालांशाः दिनरात्रयाः । कालः व्याधः ।

निवृत्तिपरायणः-इष्टं पूर्तकर्मयज्ञान् विषयज्ञापके इन्द्रियेषु जुह्वति । इन्द्रियाणि, दर्शनादि संकल्परूपे मनसि । वैकारिकं मनः परावाण्यां, तां वर्णसमुदाये, तं अ, उ, म् रूपप्रणवे, एनं विन्दौ, तन्नादे, एनं सूत्रात्मरूपप्राणे । प्राणं ब्रह्मणि लीनं करोति । (श्रीमद्भा. ७/१५)

राजन् इस अनर्थ परम्परा से छुटकारा तो तभी मिल पाता है, जब जगद्गुरु श्री हरि में सुदृढ़ भक्ति हो जाय, वस्तुतः वे ही सम्पूर्ण देहधारियों की आत्मा हैं।

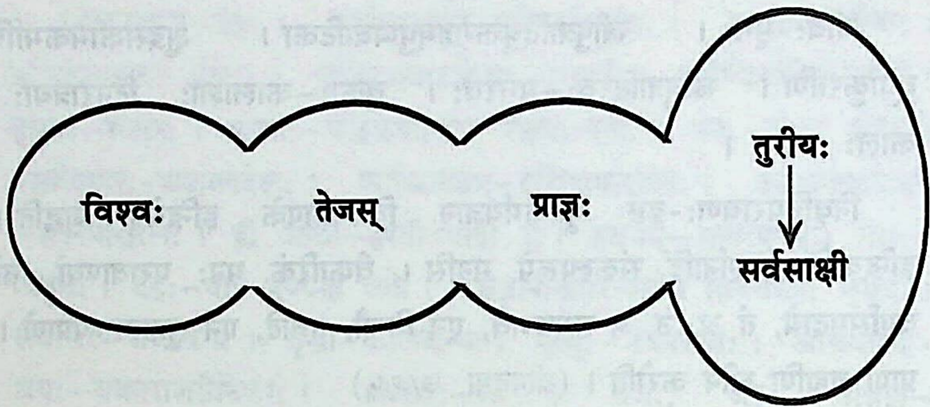
हे बर्हिष्मन्! तुम्हें इन कर्मों में कभी परमार्थ बुद्धि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये लगते हैं, बड़े सुन्दर किन्तु परमार्थ से तो इनका सम्बन्ध ही नहीं है।

इसलिए सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से मुक्त होने के लिए विश्वरूप हरि की उपासना करो।

अर्थ—यह जीव एक मृग है। स्त्रीपुत्रादि से युक्त घर ही सुन्दर प्रतीत होने वाली पुष्पवाटिका है, जिसमें यह स्वच्छन्द विचरता रहता है। तुच्छ भोगों को प्रदान करने वाले सकाम कर्म ही बहुत से दुर्वाङ्कुर है,जिसको वह अपनी मौज में भक्षण करता रहता है, अर्थात् सकाम कर्मों का अनुष्ठान करता रहता है। स्त्री पुत्रादि के पुकारने के शब्द ही मृगख है, जो उसे अती मनोहर लगते हैं, किन्तु एक तरफ एक भेडिया तो दूसरी तरफ एक व्याध अपने चंगुल में दबोचने के लिए सर्वदा सचेष्ट रहते है, यह भेडिया कोई और नही सर्वव्यापक भगवान् की कालशक्ति के ही अवयवभूत दिन और रात है, तथा व्याध स्वयं काल है। वह मृग अपनी मस्ती में ही रहने के कारण इनकी और तनिक भी ध्यान नहीं देता और एकदिन मृत्यु के मुख में सबको छोड़ते हुए अपने कर्मो के फल को भुगने के लिए नरकादि लोकों पश्चाद् अवशिष्ट कर्मफल भुगतने के लिए पुनः इसी लोक में पुनः शरीर धारण करता है।

उसकी यह जन्म-मृत्यु रूपी परम्परा तब तक खत्म नहीं होती जब तक उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता।

अर्थ—निवृत्तिपरायणपुरुष इष्ट-पूर्तदिकर्ममय यज्ञों को विषय के ज्ञापक ज्ञानेन्द्रियों में हवन कर



देते हैं, इन्द्रियों उनके कर्मों दर्शनादिकों को संकल्परूप मन में, वैकारिक मन को परावाणी में, परावाणी को वर्णसमुदाय में, वर्ण समुदाय को अ, उ, म् रूप प्रणव में, प्रणव को बिन्दु में, बिन्दु को नाद में, नाद को सूत्रात्मा रूप प्राण में एवं प्राण को ब्रह्म में लीन कर देते हैं।

भगवान् भाष्यकार ने माण्डूक्योपनिषद् भाष्य में लिखा है—"द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्यारम्भः क्रियते। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ.उ. २/४/१४) "यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्" (बृ.उ. ४/३/३१) "यत्र वास्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात् (बृ.उ. २/४/१४) इत्यादिश्रुण्टिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः।

अतः ओङ्कारनिर्णयाय प्रथमभागमप्रधानाम् आत्मतत्वप्रतिपत्युपायभूतम्। कथं ?...... ओङ्कारनिर्णय आत्मतत्वप्रतिपत्युपायत्वं प्रतिपद्यते इत्युच्यते–"ओमित्येतत्" (क.उ. १/२/१५) "एतदालम्बनम्" (क.उ. १/२/१७) एतद्वै मत्यकाम (प्र.उ. ५/२) "ओमित्यामानं युञ्जीत" (मैत्र्यु. ६/३/१४) "ओमिति ब्रह्म" (तै.उ १/८/१) "ओङ्कार एवेदं सर्वम् (छा.उ. २/२३/३) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

रज्ज्वादिषु सर्पादिविकल्पस्यास्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्यास्पदी यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओङ्कार एव। स चात्मस्वरूपमेव, तदभिधायकत्वात्। ओङ्कार विकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति। "वाचा रम्भणं विकारो नामधेयम् (छा.उ. ६/१/१४) "तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्" "सर्वं हीदं नामनि" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत आह–

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवदभविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।।१।।

पूर्वमन्त्रेण 'सर्वमोङ्कार' एव चोक्त्वा तस्य उपबृहंणं द्वितीयेन मन्त्रेण आरभ्यते सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽय मात्मा चतुष्पात्।।२।।

पूर्वेण मन्त्रेण तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं अनेन प्रत्यक्षतो विशेषेण निदिर्शति अयमात्मा......। अयमिति चतुष्पात्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयभिन-येननिर्दिशतिअयामात्मेति। सोऽयमात्मोङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थिश्च-तुष्पादकार्षापणवन्न गौरिवेति। त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिः।

कथं चतुष्पात्वमित्याह–

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।।३।।

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः।।४।।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्रस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।५।।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानानाम्।।६।।

अत्रैते श्लोका भवन्ति–भगवतो गौडपादस्य बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तुतैजसः। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः।।१।।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः। आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहव्यवस्थिति।।२।।

विश्वोहि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निवोधतः ।।३।।

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्। आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ।।४।।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः। वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ।।५।।

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याहनान्तः प्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्द-प्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति ।।६।।

नान्तः प्रज्ञं-बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं ना प्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवाहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्येमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।।७।।

अर्थ—द्वैत प्रपञ्च का कारण अविद्या है, अविद्या ही इसकी जननी है, अतः ब्रह्म विद्या से इसका उपशम हो सकता है। इस ब्रह्मविद्या के प्रकाशन के लिए ही "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं" इस उपनिषद् का आरम्भ किया जाता है। "जहाँ निश्चय हि द्वैत के समान होता है" जहाँ अन्य के समान हो वहीं पर कोई दूसरा दूसरे को जान सकता है" "जहाँ (जिस ज्ञान) में इसके लिए सब आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको देखे ? और किससे किसको जाने ? इत्यादि श्रुतियों से इस अर्थ की सिद्धि होती है।

अतः ओङ्कार के निर्णय के लिए आगम (श्रुति) प्रधान आत्म तत्त्वकी प्राप्तिका उपायभूत पहला प्रकरण हैं, जिसमें आत्मा के चतुष्पाद की कल्पना की गई है।

अतः जिज्ञासा होती है—किस प्रकार ओङ्कार का निर्णय आत्मतत्व की प्राप्ति का उपाय होता है, वह अब बताया जा रहा है—

"ॐ यही (वह पद) है", "यही आलम्बन है" "हे सत्यकाम ! यही वह ब्रह्म है", ॐ इस रूप में आत्मा का चिन्तन करे "ॐ यह ब्रह्म है", "ओङ्कार ही इदंवाच्य सर्व है" इत्यादि श्रुतियों से यह आत्मतत्त्व जाना जाता है।

सर्प रजत् आदि विकल्प (विपरीतभान) की आस्पद (अधिष्ठान) भूत रज्जु, सुक्ति आदि के सदृश प्रकार भेद रहित आत्मा वास्तविक सत्य होने पर भी प्राणादि विकल्प का आधार है वैसे ही प्राणादि विकल्प को विषय करने वाला सम्पूर्ण वाणी का प्रपञ्च उसकी अभिव्यक्ति ओंकार ही है, और आत्मा का स्वरूप ही है, क्योंकि वह उस आत्म तत्व का अभिधायक अर्थात् प्रतिपादक है। इसी प्रकार ओङ्कार के विकाररूप शब्दों का अभिधेय आत्मा का विकल्प रूप समस्त प्राणादि स्व के अभिधायक शब्दों से अलग नहीं है। जैसा कि भगवती श्रुती कहती है—विकार बस वाणी का विलास ही तो है, नाम मात्र है" उस ब्रह्म का यह समस्त संसार वाणीस्वरूप तन्तुद्वारा नामरूपी रस्सी से बन्धी है, यह सब साममय है।

'ॐ' इस नाम का यह अक्षर ही इदं पद वाच्य सब कुछ हैं। यह जो कुछ भूत (हुआ) भविष्यत् (होगा) तथा भवत् (वर्तमान) है, उस ॐ की ही व्याख्या अर्थात् विस्तार है; इस कारण यह सब 'ॐ' ही है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य त्रिकालातीत वस्तु (सत्य ब्रह्म) है, वह भी ओंकार ही हैं॥१॥

पहले मन्त्र में 'सब कुछ ओङ्कार है, ऐसा कहकर, द्वितीय मन्त्र के द्वारा उसका विस्तार-से व्याख्या कर रहे हैं। यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा भी ब्रह्म है। वही यह आत्मा चार पादों (कार्षापण की भाँति चार पादों) वाला है॥२॥

पूर्व मन्त्र में ब्रह्म का परोक्षतया वर्णन कर इस मन्त्र में विशेषता से प्रत्यक्षरूप में वर्णन करते हैं कि यह आत्मा चतुष्पादरूप से प्रकृष्ट्या विभाजन किये जानेवाले आत्मा को प्रत्यगत्मा के रूप से अभिनय पूर्वक 'अयमात्मा ब्रह्म' इस प्रकार कहकर श्रुति ज्ञापन करती है। ओङ्कार रूप अभिधान से अभिधेय एवं परापररूप से व्यवस्थित वही यह आत्मा चार अंशवाला है, वह गौ के समान चार पाद (पैरों वाला) है, ऐसा नहीं क्योंकि वह निरवयव है, अंश कल्पना साधकों के बोध के लिए है। विश्व आदि तीन पादों का क्रमेण पूर्व-पूर्व में लय करते हुए शेष में तुरीय की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होता है।

वह किस प्रकार से चार पादों वाला है, उसको कहते हैं। आत्मा का प्रथम पाद-वैश्वानर।

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः-जाग्रत-अवस्था जिसका स्थान है उसको जागरितस्थान कहा गया है। अर्थात् जाग्रदावस्था में वैश्वार का ज्ञान होता है, जो बहिष्प्रज्ञ (बाहर के विषयों का प्रकाशित करने वाला) सात अंगोंवाला पृथिवी वैश्वानर का पैर है, जल मूत्रस्थान (लिङ्ग) है, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, आकाश बीच का भाग (देह) है, सूर्य नेत्र है, तथा देवलोक मस्तक है—ये ही स्व के सात अंग है।

यह भाव जीव के सीमित दृष्टि का नाश कर एक व्यापक दृष्टि कोण प्रदान करता है, कि यह सम्पूर्ण विश्व अपने से अभिन्न है। जो विश्व के साथ-साथ नर भी है, वह विश्वानर है और विश्वानर ही वैश्वानर है। इस वैश्वानर के उन्नीस मुख हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियों, पञ्च प्राण तथा

चार अन्तःकरण। यह वैश्वानर जाग्रत्-अवस्था में विषयों का उपभोग करता है। वह वैश्वानर ओङ्कार का पहला पाद है ॥३॥

आत्मा का दूसरा पाद—तैजस (हिरण्यगर्भ) स्वप्न ही जिसका स्थान है, तथा जो अन्तः प्रज्ञ, सात अंगों उन्नीस मुखवाला एवं सूक्ष्म विषयों को भोग करनेवाला है, वह तैजस इस आत्मा का दूसरा पाद है।

तैजस के रहने का स्थान स्वप्न है। जिस प्रकार वैश्वानर बाहर के विषयों को ग्रहण करता है, तद्वत् तैजस आन्तर पदार्थों को अपना विषय बनाती है ॥४॥

आत्मा का तृतीय पाद-प्राज्ञ।

जिस काल में प्रसुप्त पुरुष किसी भी प्रकार की कामना नहीं करता और न किस प्रकार का स्वप्न ही देखता है, वह उसका जाग्रत् स्वप्न से भिन्न सुषुप्ति है। सुषुप्ति जिस आत्मा का स्थान है, तथा जिसमें (सुषुप्तावस्था में) बुद्धि एकीभूत होकर घनी भाव को प्राप्त हो गयी, जो आनन्दस्वरूप है, आनन्द का भोक्ता है, चेतन जिसका मुख है, वह प्राज्ञ आत्मा का तृतीय पाद है ॥५॥

यही सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ, अन्तर्यामी एवं सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति एवं लय की योनि (कारण) होने के कारण सर्वकारण भी है।६॥

इस विषय यहाँ भगवान् गौड़पाद की कारिकायें हैं—

विभु (व्यापक) विश्व, बहिष्प्रज्ञ एवं तैजस अन्तः प्रज्ञ है तथा यह प्राज्ञ प्रज्ञानघन है। इस तरह एक ही आत्मा तीन तरह बोधार्थ कहा जाता है ॥१॥

दाहिने नेत्र रूप मुख (द्वार) में विश्व अवस्थित रहता है, मन में तैजस, एवं प्राज्ञ की उपलब्धि का स्थान हृदयाकाश है। इस तरह से एक ही आत्मा शरीर में तीन प्रकार से विराजमान है ॥२॥

वैश्वानर सदा स्थूल पदार्थों को ही भोगता है, तैजस सूक्ष्म पदार्थों को, तथा प्राज्ञ आनन्द को भोगता है, इस तरह इसका तीन प्रकार से भोग को समझना चाहिये ॥३॥

स्थूल वस्तु विश्वानर को तृप्त करता है, सूक्ष्म से तैजस की तृप्त होती है, एवं आनन्द से प्राज्ञ की, इसकी तृप्ति भी तीन प्रकार से समझनी चाहिये ॥४॥

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति–इन तीनों धामों (स्थानों) में जो भोज्य एवं भोक्ता कहे गये हैं—इन दोनों को जो जानता है, वह विषयों को भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता है ॥५॥

क्रम प्राप्त आत्मा के चतुर्थ पाद के बारे में भी कहना चाहिए अतः, नान्तः प्रज्ञम् इत्यादि मन्त्र के द्वारा आरम्भ करते हैं।

आत्मा का वह चतुर्थ पाद सम्पूर्ण शब्द प्रवृत्ति के निमित्त से शून्य (व्यवहारकारणाभाव से युक्त) है, इस कारण शब्द के द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता है। अतः श्रुति अन्तः प्रज्ञत्वादि का निषेध करके तुरीय का निर्देश करने की इच्छा करती है।



देवाः मानवान् यत् शपन्ति, तत्तेषां प्रारब्धकर्मणाम् सूचनामात्रम् ।।

(भागवत ६/१७)

भगवस्मृतिनाशकः मोहः। यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्ण मां दूरवासिनम्। कृष्णमेतत् प्रवृद्ध मे शुद्ध्यान्नापसर्पति ।।

यह आत्मा अन्तःप्रज्ञ नहीं है, न बहिष्प्रज्ञ है, वह उभयप्रज्ञ भी नहीं है, वह 'प्रज्ञानधन' भी नहीं है, वह न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ अर्थात् वह प्रमाता नहीं है, न स्थाणु वत् अचेतन। वह तो अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त कल्याणरूप तथा अद्वैत है। वही आत्मा है, दही विज्ञेय (जाननेयोग्य) है। पूर्व-पूर्व के निषेधसे ही आत्मा तक पहुँचा जा सकता है।

अर्थ–योगी वही है, जो तप, धारणा, ध्यान, समाधि एवं ज्ञान से युक्त हो।

अर्थ–देवता मानवों को जो शाप प्रदान करते हैं वह उसके प्रारब्ध के अनुसार मिलनेवाले फल की सूचना मात्र होती है।

अर्थ–मोह ममत्व बुद्धि) ही भगवत्स्मृति का नाशक है।

अर्थ–कौरवों के द्वारा भरी सभा में सताई जाती द्रौपदी, कृष्णा ने जब हे गोविन्दे! द्वार का वासी! कृष्ण! ऐसा कहकर आक्रन्दन करती हुई पुकारी, तो उसका यह कृष्ण कहकर मेरे उपर ऋण चढ़ गया जो किसी प्रकार हट नहीं रहा कि ताकि में उसने ऋण मुक्त हो जाऊ।

सम्बन्ध–'नै श्रेयसं वनम्' यह वचन भागवत तृतीय स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय के सोलहवें श्लोक का है। इस अध्याय में जय-विजय द्वारा सनकादिकों को रोके जाने पर तद्वारा जय-विजय को शाप प्रदान करने का वर्णन हैं। दिति ने महर्षि कश्यप के तेज को सौ वर्षों तक अपने उदर में रखा जिसके कारण सभी दिशाओं में अन्धकार छा जाने-से सभी के नित्य-नैमेत्तिक कर्मों में गड़बड़ी होने लगी। ऐसा होने पर देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर उनकी स्तुति कर रक्षा की प्रार्थना की। इसपर ब्रह्माजी कहा—देवताओं! एक बार सनकादि मेरे मानस पुत्र समस्त लोकों के

जीवः—वणिक्। दुस्तरः—प्रवृत्तिमार्गः। सात्त्विकराजसतामसकर्मवने—व्यग्रः। तत्र षट् लुण्टकाः—मनः पञ्चेन्द्रियाणि। धर्मः—धनम्। नायकः—बुद्धि। वृकादयः—कुटुम्बिनः। कर्म-लता-कण्टकाः। नीचाः—दंशमसकाः। जगत्—गन्धर्वनगरम्। मृगतृष्णा—विषयाशा। राजसबुद्ध्या अग्निमलं—हेम सुखसाधनं मत्वा वाञ्छते। शीतातुरः—तापेच्छुः—अग्निवेतालमिव हेम। बवण्डरः—स्त्री। रजोगुणः—धूलिः। रात्रयः—यूकाः। कास्करःकाकतुण्डः—पापपादपौ। अन्धकूपाः—कृपणाः। कुसंग—शुष्कनदीपाखण्डः। दावाग्निः—शोकः। राजकुलं—राक्षसः। गृहकर्म—पर्वतारोहणम्। तत्रविविधा बाधाः—

ऊपर भगवान् विष्णु के शुद्ध सत्वमय लोक बैकुण्ठ पहुँचे। वहाँ सबका स्वरूप विष्णु की ही तरह होता है। जिसने निष्काम भाव से, भगवान् के चरणों की प्राप्ति के लिए अपने स्वधर्म द्वारा भगवान् की उपासना की उन्हें ही उसकी प्राप्ति होती है। भगवान् वहा शुद्धसत्वमय स्वरूप धारण कर विराजमान् रहते हैं। "यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं उस लोक में नैःश्रेयस नाम का एक वन है, जो साक्षात् कैवल्यमोक्ष स्वरूप प्रतीत होता है।

सम्बन्ध—भवाटवी का वर्णन। महात्मा जड़ भरत जी ने राजा रहू गण को इस भावटवी (संसार-कानन) के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान एक वणिक् समाज की कथा के आधार पर सुना कर कराया। शुकदेव जी द्वारा परीक्षित् को यही कथा सुनाए जाने पर जब परीक्षित् इस कथा के तात्पर्य को समझ कही पाए, तब भगवान् शुकदेव जी ने उसका स्पष्टीकरण किया।

अर्थ—(संसार कानन) इस संसार में यह देहाभिमानी जीव ही वणिक् (व्यापारी) है। जिसमें अत्यन्त कठिनता से पार करने योग्य प्रवृत्ति मार्ग है। कर्म सम्बन्धी तरह-तरह के विधान नियम बाहुल्य कर्मकाण्ड जिसे सामान्य जन तो समझ भी नहीं सकता; चाहे जितनी भी सावधानी रखी जाय न क्यों उनमें गलती की सम्भावना बनी ही रहती है। कर्म भी सात्त्विक राजस एवं तामस भेद-से तीन तरह का होता है। वह जीव इन कर्मों के करने में ही सर्वदा व्यग्र रहता है। उस दुस्तर जंगली रास्ते में छः भयङ्कर लुटेरे रहते हैं—मन सहित पाँच इन्द्रियाँ छः लुटेरे हैं, जो इस व्यापारी के धर्मरूपी धन को लुट लेते हैं। मनुष्य तरह-तरह के व्रतों का आचरण, देवदर्शन, दानादि कर्म करता है, ताकि उसे सुख मिले, किन्तु मन एवं इन्द्रियाँ अपने वश में न होने के कारण वह विषय भोगों में लग जाता है, बहुत कष्ट करके उपर्जित पुण्य को असार विषय प्राप्ति में लगाने के कारण उसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं और वह कंगाल हो जाता है, इन इन्द्रियों के द्वारा लुट लिया जाता है।

इसकी बुद्धि वणिक् दल का नेता है। उस जंगल में रहने वाले वृक इस जीव के कुटुम्ब के ही लोग हैं, जो इस जीव को हमेशा नोचते रहते हैं। कर्मों की लताएँ ही पाँव उलझाने वाले

कण्टकाः । निद्रा—अजगरः । गर्वः—दन्ताः । मार्गेविघ्नाः—रागद्वेषमदलोभ-त्सर्यक्षुधादयः । देवमाया—स्त्री । कालचक्रः—विष्णुरायुध । संस्कारशून्याः—वानशः । वृक्षाः—गृहाणि । रोगाः—गिरिगुहाः । तत्र मृत्युः—करी । आदिरन्तः—परमात्मा । निःसरणमार्गः—निवृत्तिः । ज्ञानम्—खड्गः । भक्तिः—शक्तिः । (श्रीमद्भागवत ५/१४)

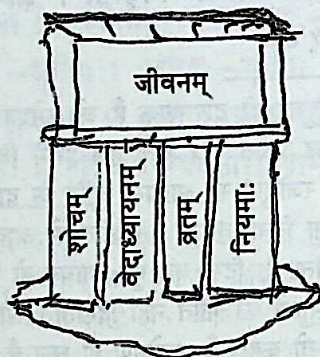
कण्टकयुक्त बेल है। इसमें नीच पुरुष ही दशमशक हैं जो हमेशा परेशान करते रहते हैं। यह जगत् गन्धर्व नगर के सदृश केवल प्रतीत मात्र होता है। इसमें विषयों की आशा ही मृगतृष्णा है, जो कभी समाप्त नहीं होती। रजोगुण से आक्रान्त बुद्धि के द्वारा सुख का साधन समझकर अग्नि मल हेम (स्वर्ण) की कामना किया करता है। शीत से आतुर तापेच्छु अगियावेताल की तरह यह हेम भी बस प्रतीत ही होता है, दिख कर पुनः गायब हो जाता है, लोग इसे छुपा देते हैं, इसका व्यवहार भी सामान्य वस्तुओं की भाँति नहीं दिखता। स्त्री ही इसमें धूल युक्त बवण्डर (उष्णचक्रवात) है, धूल क्या है ? तो कहते हैं, रजोगुण ही धूल है, जो आँखों में पड़कर सही-गलत देखने नहीं देता, स्त्री के कारण लोग माता-पिता का भी अपमान कर देते हैं, घर में अशान्ति मची रहती है। रात में ही यकादि हैं। इसमें कास्कर एवं कालतुण्ड के समान दो पाप वृक्ष हैं। कृपण व्यक्ति अन्धाकुआँ के समान है। कुसंग ही शुष्क नदी से युक्त पाखण्ड है, जो ऊपर–से नहीं दिखता। इसमें शोक ही दावाग्नि है, जो रात-दिन मनुष्य को दग्ध करता रहता है। यहाँ जो राजकुल है, वे ही मानो साक्षात् राक्षस है। घर के कर्म पर्वतारोहण के समान दुर्लध्य है। घर के कर्मों को करने में जो बाधाएँ आती है, वही उसमें कण्टक हैं। निद्रा अजगर है। गर्व ही सारे दन्त हैं। उस जंगल में और जो विघ्न हैं वे हैं—राग, द्वेष, अभिमान, लोभ, ईर्ष्या एवं क्षुधा। देवताओं की इसमें सबसे बड़ी माया है, स्त्री। देवता चाहते हैं कि वह मनुष्य इसी माया में उलझा रहे, इससे कभी निकल नहीं पा है। कालचक्र साक्षात् विष्णु भगवान् का आयुध जिससे आजतक कोई नहीं बचा। इस जंगल में जो संस्कार शून्य नर हैं, वे ही वानर हैं। सारे घर ही उस जंगल के वृक्ष हैं, जिसमें ये वानर रहते हैं अर्थात् गृहासक्त मनुष्य नर नहीं साक्षात् वानर है। नाना प्रकार के रोग पर्वत की गुफाएँ है, जिसमें मनुष्य गिरता-पड़ता रहता है। उसमें साक्षात् मृत्यु ही हाथि है। जहाँ से इस वणिक् की यात्रा प्रारम्भ हुई थी एवं इसके दुस्तर, मार्ग की जो अन्तिम सीमा है, जहाँ इसका अन्त होता है, वह साक्षात् परमात्मा है, यह जीव अनादिकाल-से इस जंगल में भटक रहा है। इस अटवी से निकलने का जो मार्ग है वह निवृत्ति मार्ग है, जो प्रवृत्ति की उल्टी दिशा में है। ज्ञानरूपी खड्ग एवं भक्ति रूपी शक्ति के द्वारा ही इस जंगल को काट कर भक्ति से परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

(श्रीमद्भागवत ५/१४)

सम्बन्ध—जडभरत के पिता के गुणों का वर्णन।

जडभरतपिता अंगिरस गोत्रम् | **शमदमतपः स्वाध्यायाध्ययनत्यागसन्तोषतितिक्षाप्रश्रय-विद्यानसूचात्मज्ञानानन्दाः इति गुणन्वितः।**

भवगच्छ्रवणं, स्मरणं, कीर्तनं कर्म बन्धनिकृन्तनः।।



स्वतः सिद्धज्ञानानन्दरूपात्मज्ञानस्य भरतस्य मानावमानजनित सुखदुःखेन देहाभिमानं न स्फुरतिस्म।। (श्रीमद्भागवत ५/९)

अर्थ–आङ्गिरसगोत्रोत्पन्न, जड़भरत के पिता शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा प्रश्रय (विनय) विद्या (कर्म सम्बन्धी), अनसूया (किसी के गुणों में दोष न निकालना) आत्मज्ञान तथा आनन्द इन नवगुणों से सम्पन्न थे।

सम्बन्ध–श्रवणदि का महत्व।

अर्थ–भगवान् के गुणों का श्रवण, उसका स्मरण एवं भक्तों के समीप कीर्तन ये जीव के कर्मबन्धनों को काटने के शस्त्र हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सहज ही अपनी देह-गेह के आसक्ति रूप बन्धन को काटकर भगवत्प्रेम को प्राप्त कर सकता है।

सम्बन्ध–'नक्तंजातां'........। मन्त्र अथर्ववेद के प्रथमकाण्ड का तेईसवाँ सूक्त है। जिसको श्वेतकुष्ठनाशक के रूप में वर्णन है। इस सूक्त के अथर्वा ऋषि, असिक्नी वनस्पति देवता एवं अनुष्टुप् छन्द है।

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्।।१।।

अर्थ–हे रामा-कृष्णा एवं असिक्नी (जरावस्था को रोकने वाली) ओषधियों! आप लोग 'नक्तं' अर्थात् रात में उत्पन्न हुई है। रंग प्रदान करने वाली ओषधियो! आप गलित एवं श्वेतकुष्ठग्रस्त मनुष्य को उसका पूर्वरूप प्रदान करने की दया करें।

८. गणसूत्रम्– यमाताराजमानस लगम्।

आदिमध्यावसानेषु, य-र-ता यान्ति लाघवम्।
भ-ज-सा गौरवं यान्ति, म-नौ तु गुरु लाघवम्।।

पद्मोऽस्त्रियाँ महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्द-कुन्द-नीलाश्च खर्वश्च निधयो नव।। (शब्दार्णव)

तपो ब्रह्मचर्यं, दमः शमो, दानं, सत्यं शौचं, यमाः नियमाः एतैः साधनैः मनोवाकदेहकृतैः पापान्मुच्यते जनाः। भगवच्छरणाः भवत्या पापान् दहति। सन्प्रायश्चित्तं तत्वज्ञानम् (श्रीमद्भागवत ६/१)

रामा-श्वेत तुलसी

कृष्णा-श्यामा तुलसी का वाचक है।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय।।२।।

अर्थ–हे ओषधियों! आप सब कोढ़, श्वेत कोढ़ एवं दाग-ध्ब्बे आदि चिह्नों को दूर करें, जिससे इन विभिन्न प्रकार के कोढ़ से नष्ट हुए तेज को मनुष्य के देह की जो रक्तिमा थी वह पुनः उसे प्राप्त हो जाये। इस कोढ़ ग्रस्त मनुष्य के शरीर के श्वेत धब्बों को हटा दें, और इसका अपना पूर्ववाला रंग प्रदान करें।

सम्बन्ध–जीवन के चार अङ्ग–शौच (पवित्रता) वेदाध्ययन, व्रतम् एवं नियमसमुदाय।

अर्थ–स्वतः सिद्ध ज्ञानानन्दरूप आत्म ज्ञान से सम्पन्न भरतजी को मान एवं अपमान जनित सुखः-दुःख के निमित्त को लेकर 'मैं देह हूँ' ऐसा अभिमान नहीं होता था।

अर्थ–यह सूत्र गणों को जानने का सरलतम् उपाय है। जो गण जानना हो, उसके लिए सूत्र के किसी अक्षर से तीन अक्षर गिनने पर वह गण बन जाता है। जैसे—य गण जानना हो तो सूत्र के प्रथम अक्षर 'य' से तीन 'मा', 'ता' तक होता है। इस प्रकार य गण में आदि लघु एवं मध्यान्त गुरु होगा।

श्लोक द्वारा भी गण इन गणों को सरलता से समझा जा सकता है—

अर्थ–य गण, र गण, एवं त गण में क्रमशः प्रथम, मध्यम एवं अन्त के वर्ण लघु होते हैं, तथा भ गण, ज, स में क्रमशः प्रथम, मध्यम और अन्त के अक्षर गुरु होते हैं। म गण में तीनों वर्ग गुरु एवं न गण में तीनों वर्ण लघु होते हैं।

भागवत्धर्मरहस्यम्–ब्रह्मा, नारदः, शिवः, सनत्कुमारः, कपिलदेवः, स्वाथम्भुवमनुः, पह्लादः, जनकः, भीष्मः, वलिः, शुकः, धर्मः, एते द्वादश एव जानन्ति।

१. सर्गः आकाशादि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चतन्मात्राणि, इन्द्रियाणि, महत्तत्त्वानां जन्म।

२. विसर्गः ब्रह्मणः चराचर जन्म विसर्गः।

य गण	र गण	त गण	भ गण
।ऽऽ	ऽ।ऽ	ऽऽ।	ऽऽऽ
म गण	ज गण	स गण	न गण
ऽ।।	।ऽ।	।।ऽ	।।।

सम्बन्ध–नौ निधि के नाम।

अर्थ–पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द नील एवं खर्व ये नौ निधियाँ हैं।

सम्बन्ध–कर्म-ज्ञान एवं भक्तियोगियों के पृथक प्रायश्चित्त।

अर्थ–कर्मयोगियों के लिये–तप (चान्द्रायणादि), ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय दमन, शम (वासना त्याग), दान, सत्य, शौच यम एवं नियम इन साधनों के द्वारा मन, वाणी एवं देहकृत सम्पूर्ण पापों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

भक्तियोगी–भगवान् के शरणागत भक्त भक्ति से अपने पापों को नष्ट कर देते हैं।

ज्ञानयोगी–ज्ञानयोगियों का प्रायश्चित तत्त्वज्ञान है, ज्ञानमात्र से सम्पूर्ण पाप दग्ध हो जाते हैं।

अर्थ–भागवतधर्म के रहस्य को ये बारह भाग भागवत भट ही जानते हैं।

सम्बन्ध–भागवत में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर ईशानुकथा, निरोध मुक्ति एवं आश्रय इन दस विषयों का वर्णन किया है, इन सबका वर्णन।

वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र।

आश्रय चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास।

ये चारों वेदरूपी रस्सी-से बाँधकर अपने-अपने कर्म में नियुक्त हैं। (भा० ६/३)

१. आकाशादि पञ्चमहाभूत, शब्दादि पञ्च तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ अहङ्कार एवं महत्तत्व की उत्पत्ति को सर्ग कहते हैं।

२. ब्रह्माजी से चराचर प्राणियों की सृष्टि विसर्ग कहलाती है।

३. स्थानम् विनाशी सर्गस्य मर्यादा स्थापनं स्थानम्।

४. पोषणम् भक्तेषु कृपा।

५. मन्वतरम् सदाचारः।

६. ऊतयः वासनाः।

७. इशकथा– भक्तानां गाथाः, अवताराणां गाथाः।

८. निरोधः जीवानां स्वशक्तिभिः सह ईशे लयः।

९. मुक्तिः अज्ञानकल्पित कर्तृत्वभोक्तृत्वादि त्यागः।

१०. कल्पनाधिष्ठानं परं ब्रह्म–आश्रयः।

नास्ति विद्या समंनेत्रं, नास्ति सत्य सम तपः।
नास्ति रागसमं शत्रु नास्ति त्यागसमं सुखम्। (महाभारत)
भोगासक्ति परित्यागी शोकसंतापवर्जितः। (महाभारत)

---

३. नाशवान् सृष्टि को मर्यादा में रखना ही स्थान है।

४. भक्तों पर भगवान् का अनुग्रह ही पोषण है।

५. शुद्ध धर्म का आचरण, मन्वतराधिपत्तियों द्वारा आचरित धर्म विशेष।

६. कर्मबन्धन में डालने वाली जीवों की वासनाएँ।

७. भक्तों एवं अवतारों की कथाएँ ही ईशकथा है।

८. जीवों का स्व-स्व उपाधियों के साथ ईश्वर में लय होना निरोध है।

९. अज्ञान से कल्पित जो कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वादि अहंकार है, उसका त्याग ही मुक्ति है।

१०. कल्पना का अधिष्ठान, सम्पूर्ण तत्त्व जिससे प्रकाशित होता है, वह आश्रय है।

अर्थ–विद्या के समान नेत्र नहीं है, सत्य से बढ़कर कोई तपस्या नहीं, आसक्ति के समान कोई शत्रु नहीं एवं त्याग के सदृश अन्य किसी में सुख नहीं। क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति की प्राप्ति होती हैं। (महाभारत)

अर्थ–जो भोग एवं आसक्ति का परित्याग कर देता है, उसे कभी शोक एवं संताप पीड़ित नहीं करते।

योविधित्सापरित्यागी यस्य चित्ते न कामना।
असंग्रही च त्यागी च स विद्वान् स च पण्डितः।।

जिसने नये-नये कर्मों के आरम्भ का (आयोजनका) त्याग कर दिया, जिसके मन में किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं होती है, ममत्त्व बुद्धि-से किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता, सम्पूर्ण वस्तुओं में जिसने ममता को उठा लिया, वही सदसद् विवेक से युक्त वेदों का ज्ञाता है।

कङ्कतो नेति सूक्तन्तु विषार्तः प्रयतो जपेत् ।।१५३।।
विषं न क्रमते चास्य सर्पाद् दृष्टिविषादपि ।
यत्कीटलूतासु विषं दंष्ट्रिवृश्चिकजं च यत् ।।१५४।।
(मूलं) मौलं च कृत्रिमं चैव जपन्सर्वं व्यपोहति । (ऋग्विधान)

पोडशर्चं सूक्तम्, अगस्त्य ऋषिः, विषनिर्हरण्युपनिषद्, सूर्यादयो देवताः, उष्णिगादि छन्दः विष प्रशमने विनियोगः ।

सूक्तम्

कङ्कतो न कङ्कतो ऽथो सतीनकङ्कतः ।
द्वाविति प्लुषी इति न्य दृष्टा अलिप्सत ॥१॥

सम्बन्ध–ऋग्वेद के पहले मण्डल के एक सौ एकानवे सूक्तका विषध्नोपनिषद् या विषनिर्हरण्युपनिषद् नाम है। गीता प्रेस से या अन्य किसी प्रेस से छपे उपनिषदों की अनुक्रमणिका में इस नाम के उपनिषद् की चर्चा नहीं मिलती। गीता प्रेस के उपनिषद् अङ्क में दो सौ बीस उपनिषदों की नामावली दी हुई है। मूल बात तो ये है कि यह उपनिषद् ब्राह्मणादि ग्रन्थों में न होकर मूल संहिता में है, अतः इसका महत्त्व अपने में पूर्ण हैं।

आचार्य शौनक विरचित 'ऋगविधानम्' के अनुसार सर्प, बिच्छू, मकड़ी आदि के विष शमनार्थ इसका प्रयोग करना चाहिये, वहाँ कहा है—

अर्थ–"कङ्कतो न" इस सूक्त का विष-से पीड़ित व्यक्ति प्रयत्न पूर्वक पाठ करे। इसके जप (पाठ) करने स सर्प का विष नहीं चढ़ता। इतना ही नहीं जो सर्प अपने दृष्टि मात्र-से विष का प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं, उसके विष का भी कोई असर नहीं होता, और भी जो अन्य विषैले जीव हैं, जैसे–मकड़ी, वृश्चिक, कनखजुरा, कुत्ते बन्दर आदि उनके विष का भी शमन मूल सूक्त अथवा कृत्रिम (मेरे समझ-से भाष्य अथवा भाषा) के पाठ (जप) से हो जाता है।

अर्थ–सोलह ऋचाओं वाले 'कङ्कतोन' सूक्त के अगस्त्य ऋषि, सूर्यादि देवता, उष्णिगादि छन्द एवं विषगमन में इसका विनियोग है।

अर्थ–अति चञ्चल के समान विष वाला जीव होता है और दूसरा विषैला जीव जल धारा के समान कुटिल गति से गमन करने वाला होता है। ये दोनों ही प्रकार के जीव देखे जाते हैं और वे दोनों काटने पर भिन्न-भिन्न प्रकार-से दाहकारी होते हैं। वे जीव प्रायः देखने में नहीं आते तो भी छुपे रूप-से अपने शिकार को पकड़ते हैं और काट लेते हैं॥१॥

अदृष्टान् हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती।
अथो अवघ्नती हन्त्यथो पिनष्टि पिंषती ॥२॥
शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत।
मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकंन्यलिप्सत ॥३॥
नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत।
निकेतवो जनानां न्यदृष्टा अलिप्सत ॥४॥
एत उत्ये प्रत्यदृश्रन् प्रदोषं तस्करा इव।
अदृष्टा विश्वदृष्टाः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥५॥

विषनाशक ओषधि कई प्रकार की होती है। जैसे ओषधि समीप आती हुई न दिखने वाले विष जन्तुओं को नाश कर देती है और दूर जाती हुई भी वह अपने पूर्व प्रभाव या मादकता से उनका नाश कर देती है और वह उनको ऐसे मारती है जैसे मानो कूट-कूट कर आघात करती है। वे उनके प्रभाव-से तड़प-तड़प कर मरते हैं। अथवा ओषधि कूटी जाती हुई भी अपने उग्र गन्धों से विषैले जन्तुओं का नाश कर देती है, और पीसी जाकर और भी सूक्ष्म होकर वह विष जन्तु को मानो पीस डालती है; उनका सर्वथा नाश कर देती है ॥२॥

शर अर्थात् सरकण्डों में रहने वाले छोटी जाति के दाभ या कुशा घास में रहने वाले, नदियों, तालाबों के तटों में उत्पन्न घासों के बीच, मूंजों में रहने वाले, वीरण नाम के तृणों में रहने वाले ये नाना प्रकार के न दिखने वाले अर्थात् छिपे हुए विषैले जन्तु सब उन-उन तृण आदि पदार्थों के साथ ही चिपटे रहते तथा उनमें छुपे रहते एवं घात लगाये रहते हैं ॥३॥

गौएं जिस प्रकार गोशाला में शान्त होकर खड़ी रहती हैं, हिंसक जन्तु जिस प्रकार वन में छुपे-छुपे घुसे रहते हैं, जिस प्रकार मनुष्यों के बीच में ज्ञान या ज्ञानी पुरुष शान्त भाव-से रहते हैं, उसी प्रकार विषैले जीव भी छुपे रहकर पड़े रहते हैं ॥४॥

ये सभी विषधारी जीव जो दिन में छुपे रहते हैं वे पूर्वोक्त सब रात्रि के प्रारम्भ समय में चोरों के समान प्रत्यक्ष रूपमें दिखा करते हैं। जो जीव प्रायः नहीं भी दीखते वे भी सबकी दृष्टि में आकर या स्वयं सब कुछ देखते हुए खूब सावधान होकर रहते हैं। अथवा रात्रि में न दीखने वाले जीव भी सबको नहीं दीखते, इसलिए हे पुरुषो ! आप सब सचेत होकर रहो ॥५॥

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥६॥
ये अंस्या ये अङ्ग्याः सूचीका ये प्रकङ्कताः।
अदृष्टाः किं चनेह वः सर्वे साकंनिजस्यत॥७॥
उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान् त्सर्वाञ्जम्भयन् त्सर्वाश्च यातुधान्यः॥८॥
उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥९॥
सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।

सूर्य या आकाश मेघादि वृष्टि द्वारा पालक होने से तुम जीवों का पालक, पिता के समान है। यह पृथिवी सबकी माता के समान है। ओषधिगण और चन्द्रमा भरण-पोषण करने वाला होने-से सबके भ्राता के समान है। ये सब उत्पन्न जीव-जन्तु सब अपने-अपने सामर्थ्य-से चलने, सरकने वाले या सुख से रहने वाले होने-से 'स्वसा' अर्थात् भगिनी के समान हैं। वे इनमें से कुछ जो कि दिख नहीं पड़ते, दूसरे जो सबको दिख पड़ते हैं वे सभी हे प्राणियों! तुम रहो और अच्छी प्रकार सुख पूर्वक विचरो॥६॥

जो कन्धों के बल सरकने वाले, जो अंग अर्थात् पावों के बल चलने वाले, सूई के समान कांटे से काटने वाले, और जो अति चञ्चल, अतितीव्र वेदना देने वाले हैं, जो कुछ भी यहाँ दिखाई नहीं पड़ते, हे सब जीवो! तुम सब एक साथ ही हमें छोड़ जाओं या नष्ट हो जावो॥७॥

सबके देखने योग्य न दीखने वाले, दोषों का भी नाश करने वाला सूर्य पूर्व की ओर उदय होता है। वह सब न दीखने वाले प्राणियों और सब प्रकार की पीड़ा देने वाली जीव जातियों को दूर करता हुआ प्रकट होता है॥८॥

जिस प्रकार सूर्य नाना विषों और सभी अन्धकारों का नाश करता हुआ ऊपर उठता है, उसी प्रकार पर्वतों से नाना प्रकार के रस ओषधियों का आदान करने वाला विषवैद्य सब प्रकार जन्तुओं और ओषधियों के गुणदोषों को प्रत्यक्ष परीक्षण से देखने वाला होकर न देखे हुए विषों और रोगों का भी नाश करने में समर्थ होता है॥९॥

सुरा अर्थात् भाप की विधि से शुद्ध जल बनाने वाले के घर में पात्र जिस प्रकार रखा रहता है और उसमें भाप बना जल बूँद-बूँद करके टपकता है, उसी में सब समाता जाता है, उसी प्रकार

सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामाऽऽरे अस्य-
योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ॥१०॥
इयत्तिका शकुन्तिका सका जघास ते विषम्।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामाऽऽरे अस्य-
योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ॥११॥
त्रिःसप्त विष्पुलिङ्गका विषस्य पुष्यमक्षन्।
ताश्चिन्नु न मरन्ति नो वयं मरामाऽऽरे
अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ॥१२॥
नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम्।
सर्वासामग्रभं नामाऽऽरे अस्य योजनं
हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार ॥१३॥

मैं भी विष को सूर्य में विलीन करता जाऊँ। इससे न तो सूर्य ही विष द्वारा मरता है और न हम ही प्राण त्याग करते हैं। इस विष को सूर्य के साथ लगाना विष को दूर करना है। विष हरने के कार्य में यह पदार्थ बड़ा उपयोगी है। हे विष! तुझको भी यह सूर्य मधुर अर्थात् सह्य कर देता है। हे रोगिन्! मधु देने वाली ओषधी या यह विष-वैद्य भी तुझे सुख दे ॥१०॥

इतनी छोटी-सी पंख वाली वह चिड़िया तेरे विष को खा जाती है। इससे वह भी नहीं मरती और हम भी नहीं मरते। इस जन्तु का योग भी विष को दूर करता है। विष के हरने वालों में उसको भी विशेष स्थान है। हे विष! विष को मधुर करने वाली यह तुझे मधुर कर देती है ॥११॥

इक्कीस प्रकार के विष को खाने वाली छोटी पक्षियों की जातियाँ हैं जो विष के अतिपुष्ट या प्रबल अंश को खा जाती हैं। वे भी विष से नहीं मरतीं। और इस प्रकार हम भी नहीं मरते। इस जन्तु का योग भी विष को दूर करता है। विष के हरने वालों में उसका भी विशेष स्थान है। हे विष! विष को मधुर करने वाली यह तुझे मधुर कर देती है ॥१२॥

निन्यानवे प्रकार के विष को हरने वाली समस्त ओषधियों का नाम और स्वरूप लूँ, उनको जानूँ, उनका अन्यों को उपदेश करूँ। (ओर अस्य भोजनम्) इत्यादि पूर्ववत्। विष के ९९ प्रकार और उनके ९९ ही प्रकार के प्रतिबन्धक उपाय हैं ॥१३॥

त्रिःसप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः ।
तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव ॥१४॥
इयत्तकः कुषुम्भकस्तकं भिनद्म्यश्मना ।
ततो विषं प्र वावृते पराचीरनु संवतः ॥१५॥
कुषुम्भकस्तदब्रवीद् गिरेः प्रवर्तमानकः ।
वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम् ॥१६॥

इक्कीस प्रकार के मयूर जाति के पक्षी हैं और सात प्रकार की स्वयं गति करने वाली नाड़ियाँ होती हैं। वे सब विशेष रूप से विष को ऐसे दूर करती है, जैसे कहारियाँ या नदियाँ जल को हर ले जाती हैं। मुर्गी की जातियों का गुदा भाग सर्प के काले विष को बार-बार लगाने-से चूस लेता है। क्रम-से एक के बाद एक लगाने से इक्कीस मुर्गियाँ के बाद विष शमन हो जाता है। ऐसे पक्षियों के इक्कीस प्रकार होना सम्भव है ॥१४॥

इतना सा कुसुम भी विष की औषध हैं। उस विष के स्थान को प्रस्तर या शस्त्र से छेद दूँ। उससे विष दूर-दूर तक जाने वाली धाराओं में फूट निकलता है ॥१५॥

छोटा-सा नेवला जो पर्वत से पला हुआ आता है वह मानो यह कहता है कि वृश्चिक का विष उससे निर्बल है। तो फिर हे काटने वाले त्रिच्छू! तेरा विष अब प्रबल नहीं है। तेरी भी औषध नकुल आदि प्राणियों में विद्यमान है। इस सूक्त के ८वें मन्त्र में सूर्य को जहाँ विष नाशक बतलाया है वहाँ सूर्यवर्ग में पठित अर्कपत्री, आदित्यभक्ता आदि ओषधियों का भी, उपदेश विष प्रयोग पर जानना चाहिये। अर्क के अनुभूत चिकित्सा सागर में नीचे लिखे गुण उपलब्ध होते हैं—

(१) सर्प का विष उतारने के लिए उसके दंश पर आकड़े का दूध टपकाता रहे जब तक शरीर में विष रहेगा तब तक दूध सूखता रहेगा जब विष का दोष शरीर में नहीं रहेगा, तब दंश पर भी दूध नहीं सुखेगा (अनु.चि. २८/७६)

(२) अर्क की तीन कोपलें गुड़ में लपेट, खिलाकर ऊपर घी पिलाने-से साँप का विष उतरता है। (अनु.चि. २८/७८)

(३) बिच्छू के दंश पर अर्क का दूध लगाने से उसका विष उतर जाता है। (अनु. २८/७९)
इसका जड़ पानी के साथ पीसकर पिलाने-से साँप का विष उतरता है। (अनु. २८/८०)

(४) अर्कपत्री–इसको घिस कर लगाने-से बिच्छू का विष उतरता है।

(५) इसको सर्पदंश पर लगाने और खिलाने से सर्प का विष उतरता है। (अनु. ३०/३, ७)

भावनोपनिषद् में–
"सदानन्दपूर्णः स्वात्मेव परदेवता ललिता"

सम्बन्ध–श्री ब्रह्माण्डपुराण के उत्तरखण्ड में भगवान् हयग्रीव महर्षि अगस्त्य संवाद में ललितोपाख्यान के अन्तर्गत श्रीललितात्रिंशतिस्तोत्र आता है।

श्रीललितात्रिंशतीस्तोत्र "श्रीविद्या" उपासना का एक प्रमुख अङ्ग है। श्रीविद्या की उपासना जैसा की श्रीचक्र को आधार बनाकर उस चक्र में भगवती ललिता-अम्बिका की उपासना की जाती है। यह उपासना अत्यन्त रहस्यमयी एवं श्रीविद्या में अच्छे अनुभवी सद्गुरु से दीक्षित होने पर ही किया जा सकता है।

"पराम्बा ललिता" भगवती अम्बिका ही है, जो सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च की अधिष्ठात्री, इसकी सृष्टि, स्थिती एवं लय की कारणभूता सच्चिदानस्वरूपा स्वात्मिका है। भगवान् व्यास ने कूर्मपुराण में 'भगवती ललिता' को नारायण की मूल-प्रकृति या श्रीविद्या कहा है।

हिन्दू संस्कृति की यह विशेषता है, कि वह अपनी छोटी-सी क्रिया में भी पूर्णत्व के बीज को छुपाये रखता है, अब उसे कोई समझता हो अथवा नहीं, वह तो उसी पर निर्भर करता है।

यहाँ तिलक लगाने से लेकर उपनिषदों के श्रवण मनन एवं निधिध्यासन तक की सम्पूर्ण उपासनाएँ उसी परम तत्त्व तक पहुँचने के सोपान हैं। अधिकारी भेद से कौन कह सकता है, कि इनकी उपयोगीता नहीं है ?।

जब व्यक्ति कर्मकाण्ड के समय "अपवित्रा:पवित्रो वा .... सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा" एवं शिखा बन्धन में "चिद्रूपिणी महामाये" कहता है तो यह ध्यान ही नहीं जाता है, कि हम किस परमतत्व का स्मरण कर रहे हैं।

भावनोपनिषद् के अनुसार जिस 'प्रत्यगात्मा ललिता' की बात कही गई है, वही शिखा बन्धन के समय "चिद्रूपिणी" के नाम-से स्मरण की जाती है।

ललितात्रिशतीस्तोत्र के तीन भाग हैं—पूर्वभाग, नामावली, एवं फलश्रुति। सम्प्रति पूर्वोत्तर भाग को छोड़कर केवल नामावली का ही अनुवाद किया जा रहा है, क्योंकि पूज्य महाराज जी (श्रीलक्ष्येश्वराश्रमजी महाराज) ने नामावली का ही अपनी डायरी में संग्रह किया है।

इसमें ललितात्रिपुरसुन्दरी के तीन सौ नाम हैं।

।। श्रीललितत्रिशतीस्तोत्ररत्नम् ।।

विनियोगः—अस्य श्रीललितात्रिशतीस्तोत्र मालामन्त्रस्य हयग्रीव-ऋषये नमः, शिरसि। अनुष्टुप्छन्दसे नमः, मुखे। श्रीललिताम्बादेवतायै नमः, हृदये। प्रथमकूटाय बीजाय गुह्ये तृतीयकूटाय शक्तये, पादयोः। द्वितीयकूटायकीलकाय, नाभौ। श्रीललिताम्बा प्रसादसिद्धये जपे विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे ।।

कूटत्रयं द्विरावृत्य बालया वा षडङ्गद्वयम्।

अथ ध्यानम्—

अतिमधुरचापहस्तामपरिमितामोद बाणसौभाग्यम्।
अरुणामतिशयकरुणामभिनवकुलसुन्दरीं वन्दे ।।

लमिति पञ्चोपचारैः संपूज्य-पठेत् ।।

ॐ ऐं ह्रीं श्रीम् ।।

ॐ ककाररूपा कल्याणी कल्याणगुणशालिनी।
कल्याणशैलनिलया कमनीया कलावती ।।१।।
कमलाक्षी कल्मषघ्नी करणामृतसागरा।
कदम्बकाननावासा कदम्बकुसुमप्रिया ।।२।।
कन्दर्पविद्या कन्दर्पजनकापाङ्गवीक्षणा।
कर्पूरवीटी—सौरभ्य-कल्लोलित-कुकुब्तटा ।।३।।
कलिदोषहरा कञ्जलोचना कम्रविग्रहा।
कर्मादिसाक्षिणी कारयित्री कर्मफलप्रदा ।।४।।
एकाररूपा चैकाक्षरी एकानेकक्षराकृतिः।
एतत्तदित्यनिर्देश्या चैकानन्दचिदाकृतिः ।।५।।
एवमित्यागमाबोध्या चैकभक्तिमदर्चिता।
एकाग्रचित्तनिर्ध्याता चैषणारहितादृता ।।६।।

एलासुगन्धिचिकुरा चैनः कूटविनाशिनी ।
एकभोगा चैकरसा चैकेश्वर्यप्रदायिनी ।।७।।
एकातपत्रसाम्राज्यप्रदा चैकान्तपूजिता ।
एधमानप्रभा चैजदनेकजगदीश्वरी ।।८।।
एकवीरादिसंसेव्या चैकप्राभवशालिनी ।
ईकाररूपिणीशित्री चेप्सितार्थप्रदाथिनी ।।९।।
ईदृगित्यविनिर्देश्या चेश्वरत्वप्रदायिनी ।
ईशानादिब्रह्ममयी चेशित्वाद्यष्टसिद्धिदा ।।१०।।
ईक्षित्रिक्षणसृष्टाण्ड - कोटिरीश्वरवल्लभा ।
ईडिता चेश्वरादर्धाङ्गशरीरेशाधिदेवता ।।११।।
ईश्वरप्रेरणकरी चेशताण्डवसाक्षिणी ।
ईश्वरोत्सङ्गनिलया चेतिबाधाविनाशिनी ।।१२।।
ईहाविरहिता चेशशक्तिरीषत्स्मितानना ।
लकाररूपा ललिता लक्ष्मीवाणीनिषेविता ।।१३।।
लाकिनी ललनारूपा लसद्दाडिमपाटला ।
ललन्तिकालसद्भाला ललाटनयनार्चिता ।।१४।।
लक्षणोज्ज्वलसर्वाङ्गी लक्षकोट्यण्डनायिका ।
लक्ष्यार्था लक्षणागम्या लब्धकामा लतातनुः ।।१५।।
ललामराजदलिका लम्बिमुक्तालताञ्चिता ।
लम्बोदर प्रसूर्लभ्या लज्जाढ्या लयवर्जिता ।।१६।।
ह्रीङ्काररूपा ह्रीङ्कारनिलया ह्रींपदप्रिया ।
ह्रीङ्कारबीजा ह्रीङ्कारमन्त्रा ह्रीङ्कारलक्षणा ।।१७।।
ह्रीङ्कारजपसुप्रीता ह्रींमति ह्रींविभूषणा ।
ह्रींशीला ह्रींपदाराध्या ह्रींगर्भा ह्रींपदाभिधा ।।१८।।
ह्रीङ्कारवाच्या ह्रीङ्कारपूज्या ह्रीङ्कारपीठिका ।

ह्रीङ्कारवेद्या ह्रीङ्कारचिन्त्या ह्रींह्रींशरीरिणी ।।१९।।
हकाररूपा हलधृक्पूजिता हरिणेक्षणा ।
हरिप्रिया हाराराध्या हरिब्रह्मेन्द्रवन्दिता ।।२०।।
हयारूढा-सेविताङ्‌घ्रि-र्हयमेधसमर्चिता ।
हर्यक्षवाहना हंसवाहना हतदानवा ।।२१।।
हत्यादिपापशमनी हरिदश्वादिसेविता ।
हस्तिकुम्भोत्तुङ्गकुचा हस्तिकृत्तिप्रियाङ्गना ।।२२।।
हरिद्राकुङ्कुमादिग्धा हर्यश्वाद्यमरार्चिता ।
हरिकेशसखी हादिविद्या हालामदालसा ।।२३।।
सकाररूपा सर्वज्ञा सर्वेशी सर्वमङ्गला ।
सर्वकर्त्री सर्वभर्त्री सर्वहर्त्री सनातनी ।।२४।।
सर्वानवद्या सर्वाङ्गसुन्दरी सर्वसाक्षिणी ।
सर्वात्मिका सर्वसौख्यदात्री सर्वविमोहिनी ।।२५।।
सर्वाधारा सर्वगता सर्वापगुणवर्जिता ।
सर्वारुणा सर्वभाता सर्वाभरणभूषिता ।।२६।।
ककारार्था कालहन्त्री कामेशी कामितार्थदा ।
कामसञ्जीवनी कल्या कठिनस्तनमण्डला ।।२७।।
करभोरुः कलानाथमुखी कचजिताम्बुदा ।
कलाक्षस्यन्दिकरुणा कपालिप्राणनायिका ।।२८।।
कारुण्यविग्रहा कान्ता कान्तिधूतजपावलिः ।
कलालपा कम्बुकण्ठी करनिर्जित पल्लवा ।।२९।।
कल्यवल्लीसमभुजा कस्तूरीतिलकोज्ज्वला ।
हकारार्था हंसगतिर्हातकामरणोज्ज्वला ।।३०।।
हारहारिकुचाभोगा हाकिनी हल्यवर्जिता ।
हरित्पतिसमाराध्या हठात्कारहतासुरा ।।३१।।

हर्षप्रदा हाविभोक्त्री हार्दसन्तमसापहा ।
हल्लीशलास्यसन्तुष्टा हंसमन्त्रार्थरूपिणी ।।३२।।
हानोपादाननिर्मुक्ता हर्षिणी हरिसोदरी ।
हाहाहूहूमुखस्तुत्या हानिवृद्धिविवर्जिता ।।३३।।
हय्यङ्गचीनहृदया हरिगोपारुणांशुका ।
लकाराख्या लतापूज्या लयस्थित्युद्भवेश्वरी ।।३४।।
लास्यदर्शनसन्तुष्टा लाभा-लाभविवर्जिता ।
लङ्घ्येतराज्ञा लावण्यशालिनी लघुसिद्धिदा ।।३५।।
लाक्षारससुवर्णाभा लक्ष्मणाग्रजपूजिता ।
लभ्येतरा लब्धभक्तिसुलभा लाङ्गलायुधा ।।३६।।
लग्नचामरहस्त - श्रीशारदापरिवीजिता ।
लज्जापदसमाराध्या लम्पटालकुलीश्वरी ।।३७।।
लब्धामाना लब्धरसा लब्धसम्पत् समुन्नतिः ।
ह्रीङ्कारिणी ह्रीङ्कारादि ह्रींमध्या ह्रींशिखामणि ।।३८।।
ह्रीङ्कारकुण्डाग्निशिखा ह्रीङ्कारशशिचन्द्रिका ।
ह्रीङ्कारभाष्कररुचिः ह्रीङ्काराम्भोदचञ्चला ।।३९।
ह्रीङ्कारकन्दाङ्कुरिका ह्रीङ्कारैकपरायणा ।
ह्रीङ्कारदीर्घिकाहंसी ह्रीङ्कारोद्यानकेकिनी ।।४०।।
ह्रीङ्कारारण्यहरिणी ह्रीङ्कारावालवल्लरी ।
ह्रीङ्कारपञ्जरशुकी ह्रीङ्काराङ्गणदीपिका ।।४१।।
ह्रीङ्कारकन्दरासिंही ह्रीङ्काराम्बुजभृङ्गिका ।
ह्रीङ्कारसुमनोमाध्वी ह्रीङ्कारतरुमञ्जरी ।।४२।।
सकाराख्या समरसा सकलागमसंस्तुता ।
सर्ववेदान्ततात्पर्यभूमिः सदसदाश्रया ।।४३।।

सकला सच्चिदानन्दा साध्वी सदगतिदायिनी ।
सनकादिमुनिध्येया सदाशिवकुटुम्बिनी ।।४४।।
सकलाधिष्ठानुरूपा सत्त्वरूपा समाकृतिः ।
सर्वप्रपञ्चनिर्मात्री समानाधिकवर्जिता ।।४५।।
सर्वोत्तुङ्गा सङ्गहीना सद्गुणा सकलेष्टदा ।
ककारिणी काव्यलोला कामेश्वरमनोहरा ।।४६।।
कामेश्वरप्राणनाड़ी कामेशोत्सङ्गवासिनी ।
कामेश्वरालिङ्गिताङ्गी कामेश्वरसुखप्रदा ।।४७।।
कामेश्वर प्रणयिनी कामेश्वर विलासिनी ।
कामेश्वरतपः सिद्धिः कामेश्वरमनः प्रिया ।।४८।।
कामेश्वरप्राणनाथा कामेश्वर विमोहिनी ।
कामेश्वरब्रह्मविद्या कामेश्वर गृहेश्वरी ।।४९।।
कामेश्वराह्लादकरी कामेश्वरमहेश्वरी ।
कामेश्वरी कामकोटिनिलया काङ्क्षितार्थदा ।।५०।।
लकारिणी लब्धरूपा लब्धधीर्लब्धवाञ्छिता ।
लब्धपापमनोदूरा लब्धाहङ्कारदुर्गमा ।।५१।।
लब्धशक्तिर्लब्धदेहा लब्धैश्वर्यसमुन्नतिः ।
लब्धवृद्धिर्लब्धलीला लब्धयौवनशालिनी ।।५२।।
लब्धातिशयसर्वाङ्गसौन्दर्या लब्धविभ्रमा ।
लब्धरागा लब्धपतिर्लब्धनानागमस्थितिः ।।५३।।
लब्धभागा लब्धसुखा लब्धहर्षाभिपूरिता ।
ह्रीङ्कारमूर्तिः ह्रीङ्कारसौध-शृङ्गकपोतिका ।।५४।।
ह्रीङ्कारदुग्धाब्धिसुधा ह्रीङ्कारकमलेन्दिरा ।
ह्रीङ्कारमणिदीपार्चिः ह्रीङ्कारतरुशारिका ।।५५।।

ह्रीङ्कारपेटकमणि ह्रीङ्कारादर्शबिम्बिता ।
ह्रीङ्कारकोशासिलता ह्रीङ्कारास्थाननर्त्तकी ।।५६।।
ह्रीङ्कारशुक्तिकामुक्तामणिर्ह्रींङ्कार बोधिता ।
ह्रीङ्कारमयसौवर्णस्तम्भविद्रुमपुत्रिका ।।५७।।
ह्रीङ्कारवेदोपनिषद् ह्रीङ्काराध्वरदक्षिणा ।
ह्रीङ्कारनन्दनाराम नवकल्पकवल्लरी ।।५८।।
ह्रीङ्कारहिमवद्‌गङ्गा ह्रीङ्कारार्णवकौस्तुभा ।
ह्रीङ्कारमन्त्रसर्वस्वा ह्रीङ्कारपरसौख्यदा ॐ ।।५९।।

॥ ॐ ऐं ह्रीं श्रीं श्रीमद्राजराजेश्वर्यै नमः ॥

सम्पूर्णम्

अर्थ—इस ललितात्रिशतीस्तोत्रमाला मन्त्र के हयग्रीव ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, श्रीललिताम्बा-देवता, प्रथमकूटबीज, तृतीय कूट शक्ति, द्वितीयकूट कीलक है। श्री ललिताम्बा देवी की प्रसन्नता के लिए जप में विनियोग है।

स्वामी जी ने "कूट द्वयं द्विरावृत्य............इस प्रकार लिखा है, किन्तु ग्रन्थ में कुटत्रयं द्विरावृत्य इस प्रकार लिखा है।

ऋष्यादिन्यासः—भगवान् हयग्रीव देवता ऋषये नमः, शिरसि। अनुष्टुप् छन्दसे नमः, मुखे। श्री ललिताम्बा देवतायै नमः हृदि। ऐं बीजाय नमः गुह्ये। सौः शक्तये नमः, पादयोः। क्लीं कीलकाय नमः नाभौ। विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे।

षडङ्गन्यासः—श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः हृदयायनमः। ह्रीं श्रीं प्रथमकूटाय नमः, शिरसे स्वाहा। शिखायै वषट्। द्वितीयकूटाय कवचाय हुम्। तृतीयकूटाय नेत्रत्रयाय वौषट्। सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं अस्त्राय फट्।

ध्यान—जिसने अतिशय मधुर धनुष एवं बाण अपने हाथों में धारण कर रखा है अथवा अतिशय मधुर स्वभाव युक्त जो देवी है, जो अपने भक्तों की रक्षा के लिए हाथों में धनुष और बाण धारण किए हुए है। अति प्रसन्नता-समन्वित, सौभाग्य प्रदान करनेवाली, जिसके अंगों की कान्ति अरुण वर्ण की है, अतिशय दया युक्त, अभिनव परिवार या वपु वाली सुन्दरी ललिताम्बा की मैं वन्दना करता हूँ।

'लम्' इस मन्त्र-से देवी का पञ्चोपार पूजन कर 'ॐ ऐं ह्रीं श्रीम्' का जप करें।

१. **ॐ ककाररूपायै नमः**–ककार अर्थात् कवर्ण 'रूप' ज्ञापक विशेषण है, जिसका कादिविद्या की मूर्तिस्वरूपा।

मेदिनीकोश के अनुसार—

को ब्रह्मणि समीरात्मयमदक्षेषु भास्करे।
कामग्रन्थौ चक्रिणि च पतत्रिणि च पार्थिवे।।१५।।
मयूरेऽग्नौ न पुंसि स्यात् सुखशीर्षजलेषुकम्।

कवर्ण–ब्रह्मा, वायु, आत्मा, यम, दक्ष, सूर्य, काम, ग्रन्थि, विष्णु, पक्षी, राजा, मयूर, अग्नि, सुख, मस्तक एवं जल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'क' वर्ण वाच्य ये सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवती ललिताम्बा के ही रूप हैं।

श्री देव्यथर्वशीषम् में आता है—सैषाष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषा ब्रह्म विष्णुरुद्ररूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतीषि। कलाकाष्ठादिकाल रूपिणी।

वही यह देवी अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादशादित्य, वही सोमपान करनेवाले एवं सोमपान न करनेवाले विश्वेदेव हैं, वही यातुधान है, असुर, राक्षस, ब्रह्म-विष्णुरुद्रस्वरूपिणी, प्रजापति (दक्ष)–इन्द्र, मनु, ग्रह, नक्षत्र तारे एवं कला-काष्ठादि कालरूपिणी है।

श्रुति कहती है—'कं ब्रह्म' भगवती पराम्बाललिता साक्षत् ब्रह्म है। ऐसी ककाररूपा देवी को नमस्कार है।

२. **ॐ कल्याण्यै नमः**–कल्याणानि सुखानि। जो सुख स्वरूपा है। कल्याण शब्द मङ्गल, शिव, शुभ, भावुक, कुशल, क्षेम इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। जो अपने उपासक का कल्याण करती हो, ऐसी कल्याणीरूपा देवी को नमन है।

३. **कल्याणगुणशालिन्यै नमः**–कल्याण का अर्थ होता है—मङ्गल, क्षेम; तो मंगल करने वाले क्षान्ति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, स्मृति दया आदि गुण सर्वतोभावेन जिसकी शोभा की वृद्धि करता है, ऐसी देवी की उपासना-से साधक को उपर्युक्त गुणों की प्राप्ति होती है। तादृश गुणों वाली देवी को मैं नमस्कार करता हूँ।

४. **कल्याणशैलनिलयाय नमः**–शिलानां विकारः शैलः शिलाधनः, कल्याणं सुखमेव शैलः धनीभूतः, तस्मिन् कल्याणशैलेस्वरूपे आनन्दघने निलयति तिष्ठतीति कल्याणशैलनिलया, तस्यै कल्याणशैलनिलयायैं नमः।

शिलाओं के विकार को शैल अर्थात् शिलाघन (जिसमें पोल नहीं हो ऐसा) कहते हैं। कल्याण माने सुख, वह सुख ही शैल, घनीभूत हो गया है जिसमें ऐसे कल्याणशैलस्वरूप में आनन्दस्वरूप में जो स्थित रहती हो, वह कल्याणशैल निलया है, उस कल्याणशैलनिलयरूपा ललिता को नमस्कार है।

५. **ॐ कमनीयायै नमः**—परमानन्दस्वरूप होने के कारण परमप्रेमास्पदरूपा।

६. **कलावत्यै नमः**—कला अर्थात् शिर, हाथ आदि अवयव समुदाय युक्ता अथवा चतुष्पष्टिकला विद्या रूपा।

७. **ॐ कमलाक्ष्यै नमः**—कमल के सदृश जिसके सुन्दर नेत्र हैं। वह देवी अपने ईक्षणमात्र-से महान् ऐश्वर्य प्रदान कर देती है।

८. **ॐ कल्मषघन्यै नमः**—(कल्मषधनी) कल्मषाणि पापानि हन्ति नाशयतीति कल्मषघ्नी, कल्मषों अर्थात् सम्पूर्ण पापों का जो नाश करती है।

९. **ॐ करुणामृतसागरायै नमः**—करुणामृतसागरा। कृपया जातं यदमृतं मोक्षरूपं तस्य सागर इव सागरा। करुणा माने कृपा अर्थात् ललिताम्बा की कृपा (दया) से प्राप्त जो अमृत माने मोक्ष उस मोक्ष की सागर की भाँति सागरा।

१०. **ॐ कदम्बकाननावासायै नमः**—कदम्बकाननावासा। कदम्बनामककल्पवृक्षयुक्त जो कानन (वन) वह वासस्थान है जिसका अर्थात् उस वन में रहने के कारण देवी का नाम कदम्ब-काननावासा पड़ा।

११. **कदम्बकुसुमप्रियायै नमः**—कदम्बकुसुमप्रिया। कदम्ब के कुसुम जिसे अति प्रिय है।

१२. **ॐ कंदर्पविद्यायै नमः**—कंदर्पविद्या। कंदर्पविद्यानिष्ठ प्रत्यग्ब्रह्मैक्य ज्ञान प्रदान कूर्त्री।

१३. **ॐ कंदर्पजनकापाङ्गवीक्षणायै नमः**—कंदर्पजनकापाङ्गवीक्षणा। कंदर्प (कामदेव) के जनक हैं श्रीमन्नारायण, वहा भी जिसके भ्रुकुटी के स्पन्दन मात्र-से, देवी की आज्ञा पालनार्थ जगद् का पालन कार्य करते रहते है।

१४. **ॐ कर्पूरवीटीसौरभ्यकल्लोलितककुप्तटायै नमः**—कर्पूरवीटीसौरम्यकल्लोलितक-कुप्तटा। कपूर युक्त ताम्बूल के सुगन्ध से अर्थात् चर्वित ताम्बूल के सौरभ से दिशाओं को सुगन्धित करने के कारण तादृश नामवाली देवी।

१५. **कलिदोषहरायै नमः**—कलिदोषहरा। कलियुग के दोषों का हरण करने वाली।

१६. **कञ्जलोचनायै नमः**—कञ्जलोचना। नीलकमल के सदृश लोचनों वाली।

१७. **कम्रविग्रहायै नमः**—कम्रविग्रहा। अतिमनोज्ञरूपा, गाम्भीर्यधैर्यामाधुर्यदि अनेकगुणयुक्त स्वरूपा।

१८. ॐ **कर्मादिसाक्षिण्यै नमः**—कर्मादिसाक्षिणी। सृष्टि, स्थिति पालनादि कर्मों की साक्षिणी रूपा या कर्म, भक्ति, ज्ञानयोगादि की द्रष्ट्री।

१९. ॐ **कारयित्र्यै नमः**—कारयित्री। स्व-स्व अधिकारानुसार तत्-तत् कर्मों में नियोग करनेवाली अथवा कृत्कर्मों के फल को भुगतवाने के लिए तादृशी मनोवृत्ति प्रदान कर वैसे कर्मों में लगाने वाली।

२०. ॐ **कर्मफलप्रदायै नमः**—कर्मफलप्रदा। जीवों के कर्मों के अनुरूप फल प्रदान करने वाली।

२१. ॐ **एकाररूपायै नमः**—एकाररूपा। मन्त्र का द्वितीय अवयव एकार स्वरूपा।

२२. ॐ **एकाक्षर्यै नमः**—एकाक्षरी, एक अर्थात् अखण्डैकरसचैतन्यस्वरूप, अक्षर जिसका नाश नहीं है अर्थात् अविनाशी परमेश्वर अर्धशरीर के रूप से जिसमें स्थित हैं, वह अम्बा देवी।

२३. ॐ **एकानेकाक्षराकृतेय नमः**—एकानेकाक्षरा कृतिः। एकानि च प्रणवाद्यानि अनेकानि च अकारादिक्षकारान्तानि अक्षराणि वर्णाः आकृतिः स्वरूपं यस्या साः, मातृकास्वरूपत्वेन वा। प्रणवों में आदि 'ॐ'कार अथवा प्रणव का अवयव भूत प्रथम अकार तथा अकादिक्षान्तसमुदाय अनेकत्वयुक्त, ये सम्पूर्ण वर्णरूप अक्षर आकृति स्वरूप ललिताम्बा है, अतः देवी एकानेकाक्षरा कृति है।

२४. ॐ **एतत्तदित्यनिर्देश्यायै नमः**—एतत्तदित्यनिर्देश्या। एतत् एवं तत् आदि पदों के द्वारा जिसका निर्देश नहीं किया जा सके।

२५. ॐ **एकानन्दाचिदाकृतये नमः**—एकानन्दाचिदाकृति। सच्चिदानन्द ब्रह्मलक्षणवती।

२६. ॐ **एवामित्यागमाबोध्यायै नमः**—एवमित्यागमाबोध्या। वह ठीक जैसा वर्णन की जा रही है, वैसी है, इन श्रुतियों के द्वारा भी, जो बोध का विषय न होती है।

२७. ॐ **एकभक्तिमदर्चितायै नमः**—एकभक्तिमदर्चिता। एक अर्थात् जीव एवं ब्रह्म के अभेद में भक्तिभजनीयबुद्धि जिन संतों की है, उनके द्वारा पूजिता होने से वह एक भक्तिमदर्चिता है।

२८. ॐ **एकाग्राचित्तनिर्ध्यातायै नमः**—एकाग्रचित्तनिर्ध्याता। एकाग्र चित्त से जो योगियों के द्वारा ध्यायी जाती हो।

२९. ॐ **एषणारहितादृतायै नमः**—एषणारहितादृता। एषणा का अर्थ है इच्छा, इससे रहित भक्तों के द्वारा समादृता।

३०. ॐ **एलासुगन्धिचिकुरायै नमः**—एला सुगन्धिचिकुरा। एला के सदृश सुगन्धित कुन्तल युक्त होने से देवी का नाम एलासुगन्धिचिकुरा पड़ा।

३१. ॐ एनः कूटविनाशिन्यै नमः—एन:कटविनाशिनी। पाप समुदायों का नाश करनेवाली।

३२. ॐ एकभोगायै नमः—एकभोगा। एकमात्र कामेश्वर शिव के ही साथ भोग (स्वस्वरूपा-नन्दानुभव) जिसका है वह एक भोगा है।

३३. ॐ एकरसायै नमः—एकरसा। एकमात्र रसस्वरूपा 'रसो वै स:' होने से एकरसा।

३४. ॐ एकैश्वर्यप्रदायिन्यै नमः—एकैश्वर्यप्रदायिनी। सविभौम सम्राट् का ऐश्वर्य जो एक मानुष का ऐश्वर्य माना है, उसको प्रदान करने वाली होने से।

३५. ॐ एकातपत्रसाम्राज्यप्रदायै नमः—एकातपत्रसाम्राज्यप्रदा। एकातपत्रसाम्राज्य चक्रवर्तित्व को प्रदान करने वाली।

३६. ॐ एकान्तपूजितायै नमः—एकान्तपूजिता। उपनिषदों के द्वारा पूजिता।

३७. ॐ एधमानप्रभायै नमः—एधमानप्रभा। जिसकी कान्ति हमेशा बढ़ती ही प्रतीत होती हो।

३८. ॐ एजदनेकजगदीश्वर्यै नमः—एजदनेकजगदीश्वरी। चेष्टाशील नाना उपाधिधारी जीवों की ईश्वरी।

३९. ॐ एकवीरादिसंसेव्यायै नमः—एकवीरादिसंसेव्या। श्रेष्ठ गुणयुक्त देवताओं की उपासना करने वाले पुरुष वीर कहलाते हैं, ऐसे काटी के प्राणियों की शक्ति के आदि में जिसकी शक्ति है, वह एकवीर है तद्द्वारा उपासना के योग्य जो देवी है, वह एकवीरादिसंसेव्या है।

४०. ॐ एकप्रभावशालिन्यै नमः—एकप्रभावशालिनी। असाधारण प्रभावशालिनी।

४१. ॐ ईकाररूपायै नमः—ईकाररूपा। ईकारवर्णरूपा अथवा जिस मन्त्र का तृतीय वर्ग ईकार है, तद्रुपा।

४२. ॐ ईशित्र्यै नमः—ईशित्री। सबकी प्रेरिका।

४३. ॐ ईप्सितार्थप्रदायिन्यै नमः—ईप्सितार्थप्रदायिनी। ईप्सित पदार्थों को देनेवाली।

४४. ॐ ईदृगित्यविनिर्देश्यायै नमः—ईदृगित्यविनिर्देश्या। वह देवी ऐसी है, इन लक्षणों वाली है, इस प्रकार निर्देश न किए जा सकने के कारण ईदृगित्यविनिर्देश्या कहलाती है।

४५. ॐ ईश्वरत्वविधायिन्यै नमः—ईश्वरत्वविधायिनी। ईश्वरत्व प्रदान करने वाली।

४६. ॐ ईशानादिब्रह्ममय्यै नमः—ईशानादि ब्रह्ममयी। ईशानादिअघोरान्त पञ्चब्रह्मस्वरूपा।

४७. ॐ ईशित्वाद्यष्टसिद्धिदायै नमः—ईशित्वाद्यष्टसिद्धिदा। ईशित्व वशित्व आदि अष्ट सिद्धियों को प्रदान करने वाली।

४८. ॐ ईक्षित्र्यै नमः—ईक्षित्री। उदासीन भाव-से सर्वसाक्षिणी।

४९. ॐ ईक्षणसृष्टाण्डकोटये नमः—ईक्षणसृष्टाण्डकोटि—ईक्षण द्वारा अर्थात् भाविकार्य को देखकर करोड़ों ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने के कारण उपर्युक्त नामवाली।

५०. ॐ ईश्वर वल्लभायै नमः—ईश्वर वल्लभा। शिव की प्रिया होने-से।

५१. ॐ ईडितायै नमः—ईडिता। ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा संस्तुता।

५२. ईश्वरार्धाङ्गशरीरायै नमः—ईश्वरार्धाङ्गशरीरा। सच्चिदानन्दस्वरूप शिव के अर्धाङ्गिनी होने से।

५३. ॐ ईशाधिदेवतायै नमः—ईशाधिदेवता। मायोपाधिक जीव के ऊपर स्थित चिन्मात्रस्वरूपा।

५४. ॐ ईश्वरप्रेरणकर्यै नमः—ईश्वरप्रेरणकारी। ब्रह्मादि ईश्वर कोटी के देवताओं को आज्ञा प्रदान करने वाली।

५५. ॐ ईशताण्डवसाक्षिण्यै नमः—ईशताण्डव साक्षिणी। ईश्वर भगवान् शिव के ताण्डव नृत्य की साक्षिणी।

५६. ॐ ईश्वरोत्संगनिलायायै नमः—ईश्वरोत्सङ्गनिलया। अपने पति भगवान् शिव का ऊरुद्वय निलय है, जिसका वह।

५७. ॐ ईतिबाधाविनाशिन्यै नमः—ईतिबाधाविनाशिनी। दैवादि उपद्रवों को दूर करने वाली।

५८. ॐ ईहाविरहितायै नमः—ॐ ईहाविरहिता। अप्राप्त की प्राप्ति विषयक जो इच्छा वह ईहा कहलाता है, उससे रहित होने के कारण वह ईहाविरहिता है।

५९. ॐ ईशशक्त्यै नमः—ईशशक्ति। ईश्वर की शक्ति सर्वज्ञत्वादि, सामर्थ्यरूपा होने से।

६०. ॐ ईषत्स्मिताननायै नमः—ईषत्स्मितानना। मन्द हास्य युक्त आनन युक्ता होने के कारण।

६१. ॐ लकाररूपायै नमः—लकाररूपा। जिस मन्त्र का चतुर्थ वर्ण लकार है, तन्मन्त्रस्वरूपा।

६२. ॐ ललितायै नमः—ललिता। अनुपमसौन्दर्यवती।

६३. ॐ लक्ष्मीवाणीनिषेवितायै नमः—लक्ष्मीवाणीनिषेचिता। लक्ष्मी-रमा, वाणी-सरस्वती इन दोनों से सेविता।

६४. ॐ लाकिन्यै नमः—लाकिनी। दुःखात्मक जगत् से भिन्न स्वरूप वाली। ॐ ललनारूपाये नमः-ललना रूपों। स्त्रोस्वरूपा (तदिशविग्रहवाली)

६५. ॐ ललनारूपायै नमः—ललनारूपा। स्त्रीस्वरूपा (तादृश विग्रह वाली)।

६६. ॐ लसद्दाडिमपाटलायै नमः—लसद्दाडिम पाटला। शोभायमानदाडिमपुष्पवत् मनोहर मूर्तिमती।

६७. ॐ ललन्तिकालसत्फालायै नमः—लम्बी माला से सुशोभित, मुक्ताफलस्वचितनवरत्न-मध्यमा से जिसका ललाट देश भूषित हो, तद्वती देवी।

६८. ॐ ललाटनयनार्चितायै नमः—ललाटनयनार्चिता। ललाट शब्द भ्रूमध्यस्थ देश का ज्ञापक, वहाँ नेत्र है जिनका अर्थात् तीसरा ज्ञान नेत्र सम्पन्न पुरुषों से पूजिता।

६९. ॐ लक्षणोज्ज्वलदिव्याङ्गायै नमः—दिव्य लक्षणों से उज्ज्वल अङ्गों वाली।

७०. लक्षकोट्यण्डनायिकायै नमः—लक्षकोट्यण्डनायिका। असंख्य ब्राह्मण्डों की नायिका।

७१. ॐ लक्ष्यार्थायै नमः—लक्ष्यार्था। जहजहद् लक्षणा के द्वारा।

७२. ॐ लक्षणागम्यायै नमः—लक्षणागम्या। लक्षणा के द्वारा जो अगम्य हो।

७३. ॐ लब्धकामायै नमः—लब्धकामा। पराम्बा से भक्तजन सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करने के कारण देवी लब्धकामा है।

७४. ॐ लतातनवे नमः—लतातनु। कल्पलता सदृश सकल मनोरथों को पूर्ण करनेवाली मूर्ति (तनु) धारण करने के कारण।

७५. ॐ ललामराजदलिकायै नमः—ललाम राजदलिका। कस्तूर्यादितिलकों द्वारा ललाट अत्यन्त शोभायमान् होने-से।

७६. लम्बिमुक्तालताञ्चितायै नमः—लम्बिमुक्तालताञ्चिता। लम्बायमान, गले से नाभीदेश प्रर्यन्त मुक्ताफल के हार से अञ्चिता पूजिता या सुशोभिता।

७७. लम्बोदरप्रसवे नमः—लम्बोरदरप्रसूः। लम्बोदर भगवान् गणेश को जन्म देने वाली।

७८. ॐ लभ्यायै नमः—लभ्या। जो प्राप्त करने योग्य हो।

७९. ॐ लज्जाढ्यायै नमः—लज्जाढ्या। लज्जा के द्वारा (यह अन्तःकरण के धर्मों का उपलक्षण है) आढ्या अर्थात् लाज्जासपृक्त आकार वती, विग्रह स्वरूपा।

८०. ॐ लयवर्जितायै नमः लयवर्जिता—जो किसी में लीन नहीं होती।

८१. ॐ ह्रींकाररूपायै नमः—ह्रींकाररूपा। जिस मन्त्र का पञ्चमाक्षर ह्रीं है तन्मन्त्रस्वरूपा।

८२. ॐ ह्रींकारनिलयायै नमः—ॐ ह्रींकारनिलया। ह्रीम् अक्षर निलय गृहवत् अवच्छेदक (व्यावर्तक) है, जिसका वह।

८३. ॐ ह्रींपदप्रियायै नमः—ॐ ह्रींपदप्रिया। ह्रींकार मन्त्र के अवयव रूप-से तद्देवताप्रकाशकत्व के रूप में शक्त होने से।

८४. ॐ ह्रींकारबीजायै नमः—ह्रींकारबीजा। ह्रींकार ही बीज स्ववाचक मन्त्र भाग है, जिसका।

८५. ॐ ह्रींकारमन्त्रायै नमः—ॐ ह्रींकार मन्त्र स्वरूपा।

८६. ॐ ह्रींकारलक्षणायै नमः—ह्रींकार लक्षणा। हकार का अर्थ है, शिव, रकार वह्निबीज का वाचक है तथा ईकार मन्मथ बीज का स्वरूप है जो तत्कारणलक्षकता के रूप से जगत् की स्थिति हेतु विष्णुस्वरूप चैतन्य को कहता है, अनुस्वार उस ई पद में अभिन्ननिमित्तोपादानपदार्थों में लय को कहता है, इस प्रकार 'ह्रीम् पद जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के कारण भूत चैतन्य शक्ति को कहता है।

८७. ॐ ह्रींकारजपसुप्रीतायै नमः—ह्रींकारजपसुप्रीता। ह्रींकार मन्त्र के जप-से तुष्ट होती वह।

८८. ॐ ह्रींमत्यै नमः—ह्रीं मती वाच्यवाचक दोनों अभेद रूपेण व्यवहार है जिसका।

८९. ॐ ह्रींविभूषणायै नमः—ह्रींविभूषणा। केवलजड़मायावाचक ह्रींकार पद है उससे रहित होकर भी मायावच्छिन्नत्वेन प्रतीति होती है जिसकी अर्थात् जड़ात्मिका अविद्या विभूषण की भाँति आच्छादित करने के कारण।

९०. ॐ ह्रींशीलायै नमः—ह्रींशीला। ह्रीं पद ब्रह्माविष्णुरुद्र को लक्षित करता है, उनका शील अर्थात् स्वभाव माने सच्चिदानन्दरूपता, पारमार्थिकस्वरूप है जिसका वह देवी।

९१. ॐ ह्रींपदाराध्यायै नमः—ह्रींपदाराध्या। ह्रीं इस एकारमन्त्रण के द्वारा जो आराधना के योग्य होने के कारण।

९२. ॐ ह्रींगर्भायै नमः—ह्रींगर्भा—ह्रींशब्द का अर्थ है सगुणमूर्तित्रय, वह गर्भ में देवी के स्वस्वरूप में अपनी-अपनी शक्तियों के सहित अविनाभाव सम्बन्ध से देवी में होने के कारण।

९३. ॐ ह्रींपदाभिधायै नमः—ह्रींपदाभिधा-ह्रींकार अभिधा अर्थात् देवी का नाम है, अतः ह्रींपदभिधा कहलाती है।

९४. ॐ ह्रींकारवाच्यायै नमः—ह्रींकार वाच्या। मायोपाधिक ब्रह्म में कल्पित धर्मों के द्वारा शब्द के व्यवहार में सगच्छित होने से वह ह्रीं पद वाच्या है।

९५. ॐ ह्रींकारपूज्यायै नमः—ह्रींकार पूज्या। साधक ह्रींकार मन्त्र के द्वारा भगवती की पूजा करते हैं, इस कारण से।

९६. ॐ ह्रींकारपीठिकायै नमः—ह्रींकारपीठिका। पीठ शब्द आधार का ज्ञापक है वाच्यार्थ वाचक शब्द का सत्ताप्रद होने के कारण आधार कहलाता है। मन्त्र एवं देवता दोनों में ही भेद का अभाव होने पर भी अर्थनिष्ठ महिमाशक्ति से अर्थ के वाचक पद में देखे न जाने के कारण कल्पिद भेद को स्वीकार ह्रींकारपीठिका ऐसा कहा।

९७. ॐ ह्रींकारवेद्यायै नमः—ह्रींकार वेद्या। ह्रींकार मन्त्र द्वारा वेद्य होने से।

९८. ॐ ह्रींकारचिन्त्यायै नमः—ह्रींकार चिन्त्या। ह्रींकार मन्त्र के रूप में चिन्तनीया।

९९. ॐ ह्रीं नमः—ह्रीं। माया का हरण करने वाली होने-से।

१००. ॐ ह्रीं शरीरिण्यैनमः—ह्रीं मन्त्र वपुवाली।

१०१. ॐ हकाररूपायै नमः—हकाररूपा। हकार है रूप मन्त्र का छठा अवयव जिसका तत्स्वरूपा।

१०२. ॐ हलधृक्पूजितायै नमः—हलधृक्पूजिता। बलराम जी के द्वारा पूजिता।

१०३. ॐ हरिणेक्षणायै नमः—हरिणेक्षणा। हरिणियों की तरह ईक्षण होने के कारण।

१०४. ॐ हरप्रियायै नमः—हरप्रिया। भगवान् शिव की प्रिया।

१०५. ॐ हराराध्यायै नमः—हराराधा। सच्चिदानन्दस्वरूपा स्वात्मा होने के कारण अपने स्वामी से आत्मरूपेण आराधना के योग्य।

१०६ ॐ हरिब्रह्मेन्द्रवन्दितायै नमः—हरिब्रह्मन्द्रवन्दिता। हरि, ब्रह्मा एवं इन्द्रादिदेवताओं के द्वारा वन्दित होने से।

१०७. ॐ हयारूढासेविताङ्घ्र्यै नमः—हयारूढासेविताङ्घ्रिः। अश्व पर आरूढ़ सैनिकों की शक्ति को स्तम्भित करने पर उनके द्वारा जिसके दोनों चरण कमल सेवित (आराधित) होने से।

१०८. ॐ हयमेधसमर्चितायैनमः—हयमेधसमर्चिता। अश्वमेध यज्ञ द्वारा पूजित होने के कारण।

१०९. ॐ हर्यक्षवाहनायै नमः—हर्यक्षवाहना। सिंह वाहन होने के कारण ललिताम्बा का हर्यक्षवाहना है, अर्थात् दुर्गास्वरूपा।

११०. ॐ हंसवाहनायै नमः—हँसवादना। हंसवाहन पर आरुढ़ होने से अर्थात् सरस्वतीरूपा।

१११. ॐ हतदानवायै नमः—हतदानवा। भण्डासुरादि दानव का विनाश करने के कारण।

११२. ॐ हत्यादिपापशमन्यै नमः—हत्यादिपापशमनी-ब्रह्महत्यादिपापों का शमन करने वाली होने-से।

११३. **ॐ हरिदश्वादिसेवितायै नमः**—हरिदश्वासेविता—हरे रंग का अश्व है जिसका ऐसे इन्द्रादि से सेवित होने से।

११४. **ॐ हस्तिकुम्भोत्तुङ्गकुचायै नमः**—हस्तिकुम्भोत्तुङ्गकुचा—हाथी के कुम्भवत् उन्नत कुच होने से।

११५. **ॐ हस्तिकृत्तिप्रियाङ्गनायै नमः**—हस्तिकृत्तिप्रियाङ्गना। भगवान् कृत्तिवास की प्रिय स्त्री होने-से।

११६. **ॐ हरिद्राकुङ्कुमादिग्धायै नमः**—हरिद्राकुङ्कुमादिग्धा। हरिद्रा एवं कुङ्कुमादि द्वारा दिग्धा (लिप्ता) इनसे अङ्ग लिप्त होने-से।

११७. **ॐ हर्यश्वाद्यमरार्चितायै नमः**—हर्यश्वाद्य मरार्चिता। हर्यश्वादि देवताओं द्वारा अर्चिता (पूजिता)

११८. **ॐ हरिकेशसख्यै नमः**—हरिकेश सखी। प्रयोजन अनपेक्ष्य उपकारण करनेवाली हरितवर्णो केशों वाली सेविका देवी की होने से।

११९. **ॐ हादिविद्यायै नमः**—हादिविद्यालोपामुद्रा द्वारा उपासना के अनुरूप होने से।

१२०. **ॐ हालामदालसायै नमः**—हालामदालसा। अमृतमन्थन-से उद्भूत वारुणी के मद-से अलसा-आरक्तनेत्रान्तर रोमाञ्चादिचिह्नवाली।

१२१. **ॐ सकाररूपायै नमः**—सकाररूपा। सकार वर्ण रूपा।

१२२. **ॐ सर्वज्ञायै नमः**—सर्वज्ञा। सब कुछ जाननेवाली।

१२३. **ॐ सर्वेश्यै**—सर्वेशी। सबको अन्तर्यामिरूप से (यामिणी रूप से) जाननेवाली, शासन करने वाली होने से।

१२४. **ॐ सर्वमङ्गलायै नमः**—सर्वमङ्गला। सभी प्रकार से परमानन्दरूपा।

१२५. **ॐ सर्वकर्त्र्यै नमः**—सर्वकर्त्री। अपनी शक्ति से सब कुछ करने वाली।

१२६. **ॐ सर्वभर्त्र्यै नमः**—सर्वमर्त्री—सबका भरण-पोषण करने वाली होने से।

१२७. **ॐ सर्वहन्त्र्यै नमः**—सर्वहन्त्री। कालरूप-से सबको हनन करने वाली।

१२८. **ॐ सनातनायै नमः**—सनातना। नित्यसिद्धिस्वरूपा।

१२९. **ॐ सर्वानवद्यायै नमः**—सर्वानवद्या। सम्पूर्ण ज्ञान, ऐश्वायि गुणों के द्वारा अनवद्या-प्रशंसा के योग्य होने-से।

१३०. **ॐ सर्वाङ्गसुन्दर्यै नमः**—सर्वाङ्ग सुन्दरी। सर्वाङ्गसुन्दरी, सामुद्रिक शास्त्रोक्त समस्त शुभ लक्षणों से युक्त।

१३१. ॐ **सर्वसाक्षिण्यै नमः**—सर्वसाक्षिणी सम्पूर्ण जीवों के अदृष्ट की साक्षिणी।

१३२. ॐ **सर्वात्मिकायै नमः**—सर्वात्मिका। सबकी आत्मरूपा।

१३३. ॐ **सर्वसौख्यदात्र्यै नमः**—सर्वसौख्यदात्री। सुखि के भाव को सौख्य कहते है, सम्पूर्ण प्रियमोद प्रमोदादि सुख को प्रदान करने वाली।

१३४. ॐ **सर्वविमोहिन्यै नमः**—सर्वविमोहिनी। सबको विमोहित करनेवाली होने-से।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

भगवतीदेवी महामाया ज्ञानियों के भी चित्त को बलात् खींचकर मोह में डाल देती है।

१३५. ॐ **सर्वाधारायै नमः**—सर्वाधारा। सम्पूर्ण जीवों की आधार भूता।

१३६. ॐ **सर्वगतायै नमः**— सर्वगता सर्वत्र गमनशालिनी।

१३७. ॐ **सर्वावगुणवर्जितायै नमः**—सर्वावगुणवर्जिता। सम्पूर्ण अवगुणों से रहित होने के कारण।

१३८. ॐ **सर्वारुणायै नमः**—सर्वारुणा। समस्त अंगों से रक्तवती।

१३९. ॐ **सर्वमात्रे नमः**—सर्वमाता। सम्पूर्ण जीवों को अभेदरूप-से जाननेवाली।

१४०. ॐ **सर्वभूषणभूषितायै नमः**—सर्वभूषणभूषिता। भक्तों के द्वारा देवोचित समस्त भूषणों से अलङ्कृत होने-से।

१४१. ॐ **ककारार्थायै नमः**—ककारार्या ककारार्थ रूपा 'क' का अर्थ ब्रह्म है, तद्रुपा।

१४२. ॐ **कालहन्त्र्यै नमः**—कालहन्त्री काल का भी हनन करने वाली।

१४३. ॐ **कामेश्यै नमः**—कामेशी समस्त भोग्य पदार्थों को कर्मानुसार प्रेरित करने वाली।

१४४. ॐ **कामितार्थदायै नमः**—कामितार्थदा। इच्छित पदार्थों को देनेवाली।

१४५. ॐ **कामसञ्जीवन्यै नमः**—कामसञ्जीवनी। कामदेव को जीवनदान देनेवाली।

१४६. ॐ **कल्यायै नमः**—कल्या। ध्यान करने के योग्य होने-से।

१४७. ॐ **कठिनस्तनमण्डलायै नमः**—कठिनस्तनमण्डला। स्तन के दोनों मण्डल कठिन होने से।

१४८. ॐ **करभोरवे नमः**—करमोरुः। करभ के समान उरु होने से। 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इति प्रमाणादिति भावः॥

१४९. **ॐ कलानाथमुख्यै नमः**—कलानाथमुखी। कलानाथ (चन्द्र) के सदृश मुख होने-से।

१५०. **ॐ कचजिताम्बुदायै नमः**—कचजिताम्बुदा। स्व कच (केश) की नीलिमा से जिसने मेघ की भी तिरस्कृत कर दिया अतः कचजिताम्बुदा।

१५१. **ॐ कटाक्षस्यन्दिकरुणायै नमः**—कटाक्षस्यन्दिकरुणा। परिपाल्यताबुद्धिरूपा होने से।

१५२. **ॐ कपालिप्राणनायिकायै नमः**—कपालिप्राणनायिका। आनन्दभैरव के प्राणों की अधिष्ठात्री देवी।

१५३. **ॐ कारुण्यविग्रहायै नमः**—कारुण्य विग्रहा। दया की मूर्ति रूपा।

१५४. **ॐ कान्तायै नमः**—कान्ता। अत्यन्तमनोहरा।

१५५. **ॐ कान्तिधूतजपावल्यै नमः**—कान्तिधूतजपावलिः। अल्पकान्ति के परित्यागपूर्वक अप्राकृतस्वच्छपरमानन्द चिद्रूपिणी, जपापुष्प के पंक्ति जन्य रक्तिम प्रभा सदृशा। वस्तुतः यह कवियों की उत्प्रेक्षा ही है।

१५६. **ॐ कलालापायै नमः**—कलालपा। चतुःषष्टिकला आलाप व्यावहारिक शब्द मात्र है जिसके लिये।

१५७. **ॐ कम्बुकण्ठ्यै नमः**—कम्बुकण्ठी। कम्बु सदृश (कम्बुनिष्ठरेखात्रययुक्त) कण्ठ होने से।

१५८. **ॐ करनिर्जितपल्लवायै नमः**—करनिर्जितपल्लवा। कर शब्द करतल का वाचक है। पल्लवशब्द हाथ में रहने वाली स्निग्धता का वाचक है, इस प्रकार एक-दूसरे के उत्कर्ष-अपकर्ष अर्थात् उक्त प्रकार से होने पर दोनों की सिद्धि होने से उक्त नाम की संगति लग जाती है, यह लक्षणा-से ही सम्भव है।

१५९. **ॐ कल्पवल्लीसमभुजायै नमः**—कल्पवल्लीसमभुजा—कल्पलता के समान भुजाओं वाली।

१६०. **ॐ कस्तूरीतिलकाञ्चितायै नमः**—कस्तूरीतिलकाञ्चिता। कस्तूरी के तिलक से भालदेश चिह्नित होने के कारण उपर्युक्त नामवाली।

१६१. **ॐ हकारार्थायै नमः**—हकारार्था। आकाशवीज की अर्थरूपा।

१६२. **ॐ हंसगत्यै नमः**—हंसगतिः—हंस का अर्थ यहाँ प्राण है, अर्थात् आदित्य। हंस के प्राण के गमनागमन में जप्यमन्त्ररूपा। अजपा मन्त्ररूपा।

१६३. **ॐ हाटकाभरणोज्ज्वलायै नमः**—हाटकाभरणोज्ज्वता। सुवर्ण की कान्ति से उज्ज्वल रूपवाली।

१६४. ॐ हारहारिकुचाभोगायै नमः—हारहारिकुचाभोगा। हर के सम्बन्ध से हारा, ईश्वरत्वादि दिव्य गुण इनका हरण कर अविद्या के आधान द्वारा उत्सादीत करने के कारण वह हाराहारि है। उभय कुचों के भोग पर्यन्त भूमि जिसकी है, एतादृशी देवी।

१६५. ॐ हाकिन्यै नमः—हाकिनी जन्म-मरण का छेदन करने वाली होने-से 'हाकच्छेदे' धातु के कारण ऐसा अर्थ किया गया है।

१६६. ॐ हल्यवर्जितायै नमः—हल्यवर्जिता। अविद्या रहित तत्त्वं पद लक्ष्यार्थ भूता होनेसे।

१६७. ॐ हरित्पतिसमाराध्यायै नमः—हरित्पतिसमाराहया—महेन्द्रादि दिग्पतियों के द्वारा आराधना की योग्या।

१६८. ॐ हठात्कारहतासुरायै नमः—हठात्कारहतासुरा। अतिशीघ्रता-से देवी के द्वारा असुरों के पराभूत होने के कारण देवी हठात्कार हतासुरा नामवाली कही जाती है।

१६९. ॐ हर्षप्रदायै नमः—हर्षप्रदा। आनन्दप्रदान करने वाली।

१७०. ॐ हविर्भोक्त्र्यै नमः—हविभोक्त्री यज्ञ में घृत (हवि) का भोग करनेवाली।

१७१. ॐ हार्दसंतमसापहायै नमः—हार्दसंतमसापहा। आत्मविषयक तत् आश्रय अज्ञान का अपहरण करने वाली।

१७२. ॐ हल्लीसलास्यसंतुष्टायै नमः—हल्लीसलास्यसंतुष्टा। चित्रदण्डों के सहारे एक ताल आदि से युक्त गीत पूर्वक नृत्य, को देखकर संतुष्ट होने से एतादृश नामवाली।

१७३. ॐ हंसमन्त्रार्थरूपिण्यै नमः—हंसमन्त्ररूपिणी। श्वास–प्रवास में जपा जाने वाला हंस मन्त्ररूपा।

१७४. ॐ हानोपादानानिर्मुक्तायै नमः—हानोपादाननिर्मुक्ता। परित्याग एवं ग्राह्य वे दोनों से मुक्त होने के कारण।

१७५. ॐ हर्षिण्यै नमः—हर्षिणी हर्ष या संतोष प्रदान करने वाली।

१७६. ॐ हरिसोदर्यै नमः—हरिसोदरी कृष्ण के सदृश एक उदर किञ्चित् अवच्छेदक। विश्व प्रपञ्चका उदर में स्थित होना।

१७७. ॐ हाहाहूहूमुखस्तुत्यायै नमः—हाहाहूहूमुखस्तुत्या। हाहा एवं हूहू नामक गन्धर्व जिनमें मुख्य (श्रेष्ठ) हैं, उनके द्वारा वन्दिता।

१७८. ॐ हानिवृद्धिविवर्जितायै नमः—हानिवृद्धिविवर्जिता। उपचय एवं अपचय धर्म रहित।

१७९. ॐ हय्यङ्गवीनहृदयायै नमः—हय्यङ्गवीनहृदया। नवनीत के सदृश कोमल हृदय-भाव वाली।

१८०. ॐ हरिगोपारुणांशुकायै नमः—हरिगोपारुणांशुका। वर्षाकाल में आठ पैरों वाला लालरङ्ग का।

१८१. ॐ लकाराख्यायै नमः—लकाराख्या। लकारयुक्त मूलमन्त्र पराम्बा का वाचक होने से वह लकाराख्या है।

१८२. ॐ लतापूज्यायै नमः—लतापूज्या। अरुन्धत्यादि ऋषि पत्नियों द्वारा आराधनीया।

१८३. ॐ लयस्थित्युद्भवेश्वर्यै नमः—लयस्थित्युद्भवेश्वरी। जगत् की सृष्टि, स्थित एवं लय की ईश्वरी, अर्थात् देवी की इच्छा (संकल्प) से ही ये सारी क्रियाएँ होती है।

१८४. ॐ लास्यदर्शनसंतुष्टायै नमः—लास्यदर्शनसंतुष्टा। देवताओं की स्त्रियों के द्वारा तालगीत आदि युक्त किया जानेवाला नृत्य विशेष लास्य है, लास्य दर्शन-से संतुष्ट होने के कारण देवी का नाम लास्यदर्शन संतुष्टा है।

१८५. ॐ लाभालाभविवर्जितायै नमः—अप्राप्त की प्राप्ति का नाम लाभ है; तथा यत्न करने पर भी इष्ट की प्राप्ति न होना अलाभ है, इन दोनों-से रहित होने के कारण ललिता देवी का नाम लाभालाभविवर्जिता है।

१८६. ॐ लङ्ध्येतराज्ञायै नमः—लङ्ध्येतराज्ञा। देवी में दासीत्वाभाव होने-से अन्य देवताओं की आज्ञा की अपेक्षा न करने के कारण 'अम्बा' लङ्ध्येतराज्ञा है।

१८७. ॐ लावण्यशालिन्यै नमः—लावण्यशालिनी। लावण्य नाम सौन्दर्य का है, सौन्दर्य का तात्पर्य भौतिक सुन्दरता नहीं अपितु परमानन्दरूपता है, परमानन्दस्वरूपस्वभाव होने से देवी का नाम लावण्यशालिनी है।

१८८. ॐ लघुसिद्धिदायै नमः—लघुसिद्धिदा। छोटे-छोटे उपायों (स्तुत्यादि) द्वारा भी इच्छित वस्तु प्रदान करने वाली होने-से वह लघुसिद्धिदा है।

१८९. ॐ लाक्षारससवर्णाभायै नमः—लाक्षारस सवर्णाभा। लाक्षारस (लाख) के समान देवी की वर्ण होने से।

१९०. ॐ लक्ष्मणाग्रजपूजितायै नमः—लक्ष्मणाग्रजपूजिता। लक्ष्मण जी के ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामजी के द्वारा आराधिता।

१९१. ॐ लभ्येतरायै नमः—लभ्येतरा। उपासना आदि से प्राप्त जो भौतिक फल उससे विलक्षण होने से।

१९२. ॐ लब्धभक्तिसुलभायै नमः—लब्धभक्तिशुलभा। प्राप्तभक्ति से अनायास देवी की प्राप्ति होने के कारण उपर्युक्त नाम वाली।

१९३. ॐ लाङ्गलायुधायै नमः–लाङ्गलायुधा–लाङ्गुल आयुधवाली।

१९४. ॐ लग्नचामरहस्तश्रीशारदापरिवीजितायै नमः–.........वीजिता। महालक्ष्मी एवं सरस्वती द्वारा हाथ में चामर धारण हवा किए जाने से।

१९५. ॐ लज्जापदसमाराध्यायै नमः–लज्जापदसमाराध्या। लज्जा का समाश्रय होने से चिन्तनीया।

१९६. ॐ लंपटायै नमः–लंपता। लम् का अर्थ है जगत् पट शब्द यहाँ अविद्या का वाचक है, अर्थात् जगत की कारणीभूता अविद्या देवी की शक्ति होने से देवी लंपटा है।

१९७. ॐ लकुलेश्वर्यै नमः–लकुलेश्वरी। 'कु' शब्द पृथ्वी का वाचक है वह, जिसमें लिन होती है वह कुल कहलाता है, अर्थात् मायोपाधिक चैतन्य को कुल कहते हैं, जो प्रलय का अधिष्ठानस्वरूप है, लीन होने वाले कुल को लकुल अर्थात् उपाधिरहित चैतन्य, वह चैतन्य, ही जो ईश्वरी है, उसे लकुलेश्वरी कहते हैं।

१९८. ॐ लब्धमानायै नमः–ॐ लब्धमाना। मान् धातु पूजार्थ में है। सुख हेतु प्राणियों के द्वारा ऐश्वर्यादि के कारण वह सम्मानार्थ पूजित होती है, अत: वह लब्धमाना है।

१९९. ॐ लब्धरसायै नमः–लब्धरसा। रस का अर्थ है परमानन्द, परमानन्द रस स्वरूप से लब्ध (प्राप्त) होने के कारण वह लब्ध रसा है।

२००. ॐ लब्ध संपत्समुन्नत्यै नमः–लब्ध संपत्समुनतिः। स्वस्वरूप के रूप में स्वत: सिद्ध प्राप्त जो सत्यकामत्व, सच्चिदानन्दादि लक्षण इनके द्वारा समुन्नति अर्थात् जिसकी सर्वोत्कृष्टता है वह देवी लब्ध समुन्नन्ति है।

२०१. ॐ ह्रींकारिण्यै नमः–ह्रींकारिणी। ह्रीं मन्त्र स्वरूपा।

२०२. ॐ ह्रींकाराद्यायै नमः–ह्रींकाराद्या। ह्रींकारशब्द से तत्कार्यभूत वेदराशिका ग्रहण होता है उनका भी कारण देवी ह्रींकाराद्या है।

२०३. ॐ ह्रीं मध्यमायै नमः–ह्रींमध्यमा ह्रींकार बीजरूप वह व्यवहारकाल में जिसका है वह देवी।

२०४. ॐ ह्रीं शिखामणये नमः–ह्रींशिखामणि। सम्पूर्ण आभूषणों में यथा चूड़ामणि अपने प्रकाशतिशय से मस्तक पर विराजमान होता है, तद्वद् यह सूक्ष्म 'ह्रीं' बीज सम्पूर्ण मन्त्रों में ऐश्वर्यादि का अत्यधिक प्रापक करनवाने के कारण श्रेष्ठ है अत: देवी ह्रीं शिखामणि रूपा है।

२०५. ॐ ह्रींकारकुण्डाग्निशिखायै नमः–ह्रींकारकुण्डाग्निशिखा। ह्रींकार ही कुण्ड अर्थात् वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से परब्रह्म का व्यावर्तकतया आहवनीय, गार्हपत्यादि के सदृश है, उस कुण्ड की अग्नि शिखा स्वरूपा।

२०६. **ॐ ह्रींकारशशिचन्द्रिकायै नमः**—ह्रींकारशशिचन्द्रिका। ह्रींकार को यहाँ चन्द्रमा माना गया है, उसका स्वरूपाभेदभूतप्रकाशचैतन्य ही चन्द्रिका है, तद्रूपा होने-से देवी ह्रींकारशशि चन्द्रिका है।

२०७. **ॐ ह्रींकारभास्कररुचये नमः**—ह्रींकारभास्कररुचिः। भास का अर्थ कान्ति होता है, उस कान्ति का लोकोपकारार्थ जो सतत प्रसार या वितरण करता है वह सूर्य है, उसका रुचि ह्रींकारभास्कररुचि कहलाता है, तद्रूपा होने-से देवी ह्रींकार भास्कररुचि है।

२०८. **ॐ ह्रींकाराम्भोदचञ्चलायै नमः**—ह्रींकाराम्भोदचञ्चला। अम्भांसि अमृतानि ददतीत्याम्भोदा:। ह्रींकार भी कामना का वर्षण (प्रदान) करने के कारण भक्तों द्वारा अनुमित होता है, क्योंकि ह्रींकार देवी का स्वरूप ही है। उनमें चञ्चला अर्थात् विद्युत लता (शक्ति) अभिरूप से प्रकाशमान होते हुए यथा वर्षोंकद्वारा सस्यादि की उत्पादकता बढ़ाती है तद्वत ह्रींकार के वाच्यरूप में प्रसिद्ध होने पर उससे अभिन्न रूप में पद-पदार्थ (वाच्य एवं वाचक) के विचारणा द्वारा शुद्ध लक्ष्यार्थ स्वरूपा होते हुए भी अनिर्वचनीय अपने वाचक मन्त्र के प्रकाशित देवता रूप में भक्तों का अभीष्ट पुरुषार्थ हेतु भूता होने से देवी ह्रींकाराम्भोदाचञ्चला कहलाती है।

२०९. **ॐ ह्रींकारकन्दाङ्कुरिकायै नमः**—ह्रींकारकन्दाङ्कुरिका। ह्रींकार ही कन्द अर्थात् दृढ़तर बीजभाव वाला है, उसका अङ्कुरिका आदि प्रसव नुतनाभिव्यक्ति होने से।

२१०. **ॐ ह्रींकारैकपरायणायै नमः**—ह्रीकारैकपरायणा। एक ह्रींकार ही अतिशय असाधारण चतुर्विध पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की साधकता के रूप में परम अयन अर्थात् ज्ञापक प्रमाण है जिसका वह ललिता पराम्बा ह्रींकारैकपरायणा है।

२११. **ॐ ह्रींकारदीर्घिकाहंस्यै नमः**—ह्रींकारदीर्घिकाहंसी। राजोद्यानवनक्रीडावापी को ह्रींकार कहते है, जो दीर्घिका शब्द का वाच्यार्थ है, उसमें रहनेवाली हंसी रूपा।

२१२. **ॐ ह्रींकारोद्यानकेकिन्यै नमः**—ह्रींकारोद्यानकेकिनी। ह्रींकार उद्यानवत् उसमें रहने वाली मयूरी।

२१३. **ॐ ह्रींकारारण्यहरिण्यै नमः**—ह्रींकारारण्यहरिणी। ह्रींकार का वाच्चार्थरूप अविद्या जो उसके एक देश रहती है, उस अविद्या के जो बन्धनादि रूप कार्य तद्वारा अति भयानक वन में भय का हेतु व्याध्रादिकों की तरह होने से वहाँ प्रवेश करना अतिकठिन है, अत: एतादृश धर्म की समानता दोनों में होने से ह्रींकार का अरण्य कहा, किन्तु जैसे—अरण्यस्थ पुरुष समीप विचरते हरिण को देखकर यह निश्चय कर लेता है कि यहाँ अभी व्याघ्रादि का भय नहीं हैं, वैसे ही देवी के उपासक उपासना रूप कानन में भी नि:शङ्क विचरण करता है।

२१४. **ॐ ह्रींकारावालवल्लर्यै नमः**—ह्रींकारावालवल्लर्यै नमः। ह्रींकारमन्त्रनिष्ठवाचकता

निरूपित वाच्यता नामक सम्बन्ध से अवच्छिन्न परम देवता के स्वरूप में मन्त्र की उपासना विषयक फल दान में समर्थ होते हुए आवाल मात्र (वल्लरी पार्श्वस्थदेशमात्र) वल्लरी के रूप में अनुमित।

२१५. **ॐ ह्रींकारपञ्जरशुक्यै नमः......शुकी**। ह्रींकार को पञ्जर कहा गया है, उसमें स्थित शुकीवत्।

२१६. **ॐ ह्रींकाराङ्गणदीपिकायै नमः....**दीपिका। यहाँ ह्रींकार को प्राङ्गण में स्थित दीपक की उपमा दी गई है। जैसे–आँगन में स्थित दीप किञ्चित् ब्राह्याभ्यन्तर को प्रकाशित करता है, तद्वत् यह मन्त्र साधक के अन्तः एवं बाह्य दोनों करणों को प्रकाशित करता है।

२१७. **ॐ ह्रींकारकन्दरासिंह्यै नमः**–ह्रींकारकन्दरासिंही ह्रींकार को कन्दरा कहा गया है, उसमें रहने वाली सिंही।

२१८. **ॐ ह्रींकाराम्भोजभृङ्गिकायै नमः**–ह्रींकाराम्भोजभृङ्गिका। रसाधिक्य के कारण जैसे भृङ्गी विशेषतया पद्मस्थ मधु का पान करता है, तद्वत सभी बीज मन्त्रों के वाच्य देवतात्मा के रूप में तत्-तत् मन्त्रों में अनुगत होते हुए भी अपनी स्वकीय वैशिष्ट्य के कारण समस्त कार्य जगत की उपादानता के रूप में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण उपर्युक्त ब्रह्म का स्वरूप एवं तटस्थलक्षण का रूप होकर तद्ब्रह्म से अभेद रूप में स्थित होता है, जिसमें साधक स्थित हो पुनः अन्य का सेवन नहीं करता।

२१९. **ॐ ह्रींकारसुमनोमाध्व्यै नमः**–ह्रींकारसुमनोमाध्वी। पुष्प से ह्रींकार मन्त्र की उपमा दी गई है। अतिसुकोमल होने के कारण जैसे पुष्प का सावधानी पूर्वक चयन की पा जाती है, तद्वत् ह्रींकार मन्त्र भी यत्नपूर्वक रक्षणीय है। पुष्पगत माध्वी (मधुरस) फलादि की जनन शक्ति को अपने निहीत रखती है, तद्वत् यह 'ह्रीं' कार मन्त्र भी निखिल सृष्टि का बीज अपने में निहित रखता है।

२२०. **ॐ ह्रींकारतरुमञ्जर्यै नमः**–ह्रींकारतरुमञ्जरी। ह्रींकार वृक्ष की मञ्जरी।

२२१. **ॐ सकाराख्यायै नमः**–सकाराख्या। सकारयुक्त श्रीविद्या नाम कि आख्या (कथा) का वाचकशब्द होने से।

२२२. **ॐ समरसायै नमः**–समरसा सर्वदा एकरसा (नित्या)।

२२३. **ॐ सकलागमसंस्तुतायै नमः**–सकलागमसंस्तुता–सम्पूर्ण आगमों द्वारा स्तुतिपूर्वक आराधिता।

२२४. **ॐ सर्ववेदान्ततात्पर्यभूमये नमः**–सर्ववेदान्तात्पर्यभूमिः। वेदों का अन्त अवसान है, तत्वमस्यादि महावाक्य, इन महावाक्यों का तात्पर्य अर्थात् समन्वय की भूमि (विषय, ज्ञाप्य)।

२२५. **ॐ सदसदाश्रयायै नमः**–सदसदाश्रया। सत् एवं असत् की आश्रयस्वरूपा।

२२६. ॐ सकलायै नमः—सकता। चतु:षष्टिकलाओं के साथ सर्वदा स्थित रहने के कारण।

२२७. ॐ सच्चिदानन्दायै नमः—सच्चिदानन्दा। सच्चिदानन्दस्वरूपा। ॐसाध्व्यै नमः-साध्वी। साध्वीरूपा।

२२८. ॐ साध्यायै नमः—साधितुं प्राप्तुं योग्या। प्राप्त करने योग्या, फलस्वरूपा।

२२९. ॐ सद्‌गतिदायिन्यै नमः—सदगतिदायिनी। सद्‌गति प्रदान करने वाली।

२३०. ॐ सनकादिमुनिध्येयायै नमः—सनकादिमुनिध्येया। सनक, सनन्दन सनातन एवं सनत् कुमारादि मुनियों द्वारा ध्यान करने योग्या।

२३१. ॐ सदाशिवकुटुम्बिन्यै नमः—सदाशिवकुटुम्बिनी। सदाशिव देवी के कुटुम्ब होने से।

२३२. ॐ सकलाधिष्ठानरूपायै नमः—सकलाधिष्ठानरूपा। सबकी अधिष्ठान रूपा।

२३३. ॐ सत्यरूपायै नमः—सत्यरूपा। तीनों कालों में विद्यमान होने से।

२३४. ॐ समाकृतये नमः—समाकृतिः। समा अर्थात् अभिन्ना सच्चिदानन्द रूप एक रसा मूर्ति होने से।

२३५. ॐ सर्वप्रपञ्चनिर्मात्र्यै नमः—सर्वप्रपञ्चनिमात्री। सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक विश्व प्रपञ्च की निर्माणकर्त्री।

२३६. ॐ समानाधिकवर्जितायै नमः—समानाधिकवर्जिता। उस देवता की तुलना नहीं जिसका यश महान् है। यहाँ कुलशीलजाति एवं गुणों के द्वारा जो तुल्य हैं, उनसे कल्याणादि गुणों में अधिक होने-से उन सबसे वर्जिता है, गुणों में समानता नहीं होने से।

२३७. ॐ सर्वोत्तुङ्गायै नमः—सर्वोत्तुङ्गा। सबसे उन्नता होने से श्रेष्ठा होने-से।

२३८. ॐ सङ्गहीनायै नमः—सङ्गहीना। आसक्ति रहित होने से।

२३९. ॐ सगुणायै नमः—सगुणा सत्यत्वादि गुण सहिता।

२४०. ॐ सकलेष्टदायै नमः—सकलेष्टदा। सम्पूर्ण शास्त्रविहीत इच्छित मनोरथों को पूर्ण करने वाली होने-से।

२४१. ॐ ककारिण्यै नमः—ककारिणी। क अर्थात् ब्रह्मा का सृजन करनेवाली होने से अथवा 'क' सुखम् 'क' का अर्थ सुख होता है, सुख प्रदान करने वाली होने-से।

२४२. ॐ काव्यलोलायै नमः—काव्यलोला। काव्यों में लोला, लक्ष्मीरूपा।

२४३. ॐ कामेश्वमनोहरायै नमः—कामेश्वर मनोहरा। काम के ईश्वर, उनके चित्त को हरने वाली।

२४४. ॐ कामेश्वरप्राणनाड्यै नमः—कामेश्वरप्राणनाड़ी। कामेश्वर की प्राण सञ्चर नाड़ी।

२४५. ॐ कामेशोत्सङ्गवासिन्यै नमः—कामेशोत्सङ्गवासिनी। भगवान् शिव के गोद में उपवेसन करने वाली।

२४६. ॐ कामेश्वरालिङ्गिताङ्ग्यै नमः—कामेश्वरालिङ्गिताङ्गि। कामेश्वर शिव के द्वार आलिङ्गित अङ्गवाली।

२४७. ॐ कामेश्वरसुखप्रदायै नमः—कामेश्वरसुखप्रदा। अपने हासविलास से शिव को आनन्द प्रदान करने के कारण।

२४८. ॐ कामेश्वरप्रणयिन्यै नमः—कामेश्वरप्रणयिनी। कामेश्वर से प्रणय (विवाह) करने वाली।

२४९. ॐ कामेश्वरविलासिन्यै नमः—कामेश्वरविलासिनी। कामेश्वर के साथ विलास करने वाली।

२५०. ॐ कामेश्वरतपःसिद्ध्यै नमः—कामेश्वरतपसिद्धिः। अपनी तपस्या की सिद्धि के रूप में जिसने कामेश्वर को प्राप्त किया।

२५१. ॐ कामेश्वर मनः प्रियायै नमः—कामेश्वर के मन को प्रिय लगने वाली।

२५२. ॐ कामेश्वरप्राणनाथायै नमः—कामेश्वर के प्राण हिरण्यगर्भ, उनके नाथ अर्थात् पालन करने वाले।

२५३. ॐ कामेश्वरविमोहिन्यै नमः—कामेश्वरविमोहिनी। रूप-माधूर्यादि गुणों से कामेश्वर की शिव को भी मोहित करने वाली।

२५४. ॐ कामेश्वरब्रह्मविद्यायायै नमः—कामेश्वर ब्रह्मविद्या। कामेश्वर की चिच्छक्ति।

२५५. ॐ कामेश्वरगृहेश्वर्यै नमः—कामेश्वरगृहेश्वरी। कामेश्वर उसके अधिपति हैं अतः कामेश्वर गृहेश्वरी।

२५६. ॐ कामेश्वराह्लादकर्यै नमः—कामेश्वरह्लादकरी। तृप्तिजन्यसुख को आह्लाद कहते हैं, भगवान् शिव की नित्य तृप्तिस्वरूपा शक्ति होने-से।

२५७. ॐ कामेश्वरमहेश्वर्यै नमः—कामेश्वरमहेश्वरी। भगवान् कामेश्वर की ऐश्वर्यरूपा शक्ति।

२५८. ॐ कामेश्वर्यै नमः—कामेश्वरी। कामदेव के द्वारा आराधिता।

२५९. ॐ कामकोटिनिलयायै नमः—ॐ कामकोटिनिलया। श्रीचक्र देवी का निलय, गृह है अतः उपर्युक्त नामवाली।

२६०. ॐ काङ्क्षितार्थदायै नमः—काङ्क्षितार्थदा। आकाङ्क्षित अर्थ प्रयोजन भूत पदार्थों को प्रदान करने वाली होने से।

२६१. ॐ लकारिण्यै नमः—लकारिणी। लकारवर्णरूपा।

२६२. ॐ लब्धरूपायै नमः—लब्धरूपा। जिसके द्वारा वह पराम्बा जानी जाती है, वह रूप धातु का वाच्यार्थ है अर्थात् लक्षण। स्वरूप एवं तटस्थ के भेद-से सगुण-निर्गुण के रूप में वह प्राप्त होती है वह लब्धरूपा है।

२६३. ॐ लब्धधिये नमः—लब्धधीः। धी शब्द के द्वारा सर्वज्ञत्वादि कहा जाता है, वह जिससे लब्ध होती है, वह।

२६४. ॐ लब्धवाञ्छितायै नमः—लब्धवाञ्छिता। आप्तकामा।

२६५. ॐ लब्धपापमनोदूरायै नमः—लब्धपापमनोदूरा। पाप चिन्तन करने वालों से दूर-दूर तक प्राप्त न किए जा सकने-से।

२६६. ॐ लब्धाहङ्कारदुर्गमायै नमः—लब्धाहङ्कारदुर्गमा। अहङ्कार युक्त व्यक्ति के द्वारा दुर्गमा, जानने में अशक्या।

२६७. ॐ लब्धशक्त्यै नमः—लब्धशक्ति। जिसने सकलसामर्थ्य हेतुभूता माया शक्ति को धारण कर रखा है।

२६८. ॐ लब्धदेहायै नमः—लब्धदेहा। जिसने भक्तों के लिए निर्गुण होते हुए भी सगुण-साकार मूर्ति धारण कर रखा है।

२६९. ॐ लब्धैश्वर्यसमुन्नत्यै नमः—लब्धैश्वर्यसमुन्नतिः। ऐश्वर्यों की समुन्नति अधिकता जिससे भक्त प्राप्त करता है, इस कारण-से।

२७०. ॐ लब्धवृद्ध्यै नमः—लब्धवृद्धिः। वृद्धिर्नाम व्याप्तिः परिपूर्णा। सर्वव्यापिका होने-से।

२७१. ॐ लब्धलीलायै नमः—लब्धलीला। लीला अभिनयादि, हर्षादि की उद्बोधिका सामर्थ्य देवी-से प्राप्त होने-से।

२७२. ॐ लब्धयौवनशालिन्यै नमः—लब्धयौवनशालिनी। प्राप्तयौवना।

२७३. ॐ लब्धातिशयसर्वाङ्गसौन्दर्यायै नमः—लब्धातिशयसर्वाङ्ग सौन्दर्या। जिससे अतिशय सर्वाङ्ग सुन्दरता की प्राप्ति हो।

२७४. ॐ लब्धविभ्रमायै नमः—लब्धविभ्रमा। विभ्रम का अर्थ बालक्रीडा होता है तादृशी बालक्रीड़ा की प्राप्ति होने से।

२७५. ॐ लब्धरागायै नमः—लब्धरागा बोध विषयक इच्छा की प्राप्ति भगवती से होने-से उपर्युक्त नामवाली।

२७६. ॐ लब्धपतये नमः—लब्धपतिः। स्वेच्छा से स्वयंवर में पति की प्राप्ति होने-से।

२७७. ॐ लब्धनानागमस्थित्यै नमः—लब्धनानागमस्थिति। नाना प्रकार के कर्म, उपासना, ज्ञानकाण्ड एवं उनके अंगों के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकाशित करने से वेद को आगम कहते हैं। उनकी स्थिति (पालन) करने से।

२७८. ॐ लब्धभोगायै नमः—लब्धभोगा। भक्तगण भगवती से नाना भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति करते हैं, अतः लब्धभोगा।

२७९. ॐ लब्धसुखायै नमः—लब्धसुखा। जिससे सुखानुकूल साधन भक्तगण प्राप्त करते हैं।

२८०. ॐ लब्धहर्षाभिपूरितायै नमः—तृप्तिनिमित्तक चिन्त का उल्लास से देवी-से प्राप्त करने के कारण विशेष हर्ष है, वह चारों ओर-से देवी-से प्राप्त करने के कारण तादृश नाम वाली।

२८१. ॐ ह्रींकारमूर्त्यै नमः—ह्रींकारमूर्ति। ह्रींकार विग्रहस्वरूपा।

२८२. ॐ ह्रींकारसौधशृङ्गकपोतिकायै नमः—.........शृङ्गकपोतिका। उपाधिरहित विश्रान्ति जन्यसुख के अनुभव में हेतु होने से ह्रींकार का सुधालिप्त अट्टालिकाशिखर से उपमा दी गई है।

२८३. ॐ ह्रींकारदुग्धाब्धिसुधायै नमः—ह्रींकारदुग्धब्धिसुधा। सम्भवतः हकार वर्ण का श्वेत वर्ण माना गया है, शास्त्र में, एवञ्च ह्रींकार मन्त्र में हकार होने से दुग्धाब्धि सुधा-से उपमा दी गई है। दुग्ध जैसे–शिशु के लिए जीवन है, तद्वत् यह ह्रींकार मन्त्र भी साधकों के लिए संजीवन है।

२८४. ॐ ह्रींकारकमलेन्दिरायै नमः—ह्रींकारकमलेन्दिरा। ह्रींकार इस बीज की अलौकिक वर्णता के कारण प्रीति का विषय होने-से नील-कमल के साथ उपमा दी गई है।

२८५. ॐ ह्रींकारमणिदीपार्चिषे नमः—ह्रींकारमणिदीपार्चिः। ह्रींकार बीज मणि या दीपवत् है, इनका अर्चि, शिखा होने से।

२८६. ॐ ह्रींकारतरुशारिकायै नमः—ह्रींकारतरुशारिका। ह्रींकार को तरु, वृक्ष कहा गया है, शारिका पक्षिविशेष का वाचक है, लोक में 'मैना' इसे कहते हैं। ह्रींकार तरु पर बैठनेवाली।

२८७. ॐ ह्रींकारपेटकमणये नमः—ह्रींकारपेटकमणिः। गूढ़ साधना का विषय होने-से ह्रींकार को पेटक के साथ उपमित किया गया है। जैसे–बहुमूल्य मणि पैतकादि में छुपा कर रखा जाता है, तद्वत् गोपन में रखने योग्य।

२८८. ॐ ह्रींकारादर्शबिम्बितायै नमः—ह्रींकारादर्शबिम्बिता। यह ह्रींकार बीज अपनी प्रामाणिकता के लिए श्रुतिवत् किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता है। उस बीज में प्रतिबिम्बत मायाप्रतिबिम्बचैतन्य का जगतकारणता के कारण सर्वत्र दर्पण में मुख की भाँति प्रतिफलित होने से।

२८९. ॐ ह्रींकारकोशासिलतायै नमः—ह्रींकारकोशासिलताया। ह्रींकार ही कोश है, उस की अखिलता अर्थात् अतिदीर्घखड्ग।

२९०. ॐ ह्रींकारास्थाननर्तक्यै नमः—ह्रींकारस्थाननर्तकी। यहाँ ह्रींकार को ही सभामण्डप कहा गया है, जैसे—सभा मण्डप अनेक विचक्षणों का आश्रय होता, वहाँ ह्रींकार वाच्य विद्या वाणी विलास के रूप में नर्तन करती है, अतः उपर्युक्त नामवाली।

२९१. ॐ ह्रींकारशुक्तिकामुक्तामण्यै नमः—ह्रींकारशुक्तिकामुक्तामणिः। ह्रींकार ही शुक्तिका है, उसका मुक्तामणि के समान मुक्ता मणि।

२९२. ॐ ह्रींकारबोधितायै नमः—ह्रींकार बोधिता। ह्रींकार बीज के द्वार जाने, जाने वाली।

२९३. ॐ ह्रींकारमयसौवर्णस्तम्भविद्रुमपुत्रिकायै नमः—........पुत्रिका। सौवर्णस्तम्भ पद उपलक्षण-से भित्यादि का वाचक है, विद्रुम का अर्थ प्रवाल है एवं पुत्रिका शब्द साल भञ्जिका का वाचक है। जैसे मण्डपादि का भार स्तम्भ द्वारा ही शक्य है तद्वत् ह्रींकार मन्त्र द्वारा ही इस जगत् रूपी मण्डप टिका हुआ है सज्जित है।

२९४. ॐ ह्रींकारवेदोपनिषदे नमः—ह्रींकारवेदोपनिषत्। ह्रींकार मन्त्र ही वेद एवं उपनिषद् स्वरूप है।

२९५. ॐ ह्रींकाराध्वरदक्षिणायै नमः—ह्रींकाराध्वरदक्षिणा। ह्रींकार बीज ही अध्वर अर्थात् यज्ञ है, उसकी दक्षिणारूपा। यज्ञ की समाप्ति या पूर्णता जैसे-दक्षिणा-से होती है, तद्वत् ललिताम्बा की प्राप्ति ही ह्रींकार साधनता की पूर्णता का सूचक है।

२९६. ॐ ह्रींकारनन्दनारामनवकल्पकवल्लर्यै नमः—......... वल्लरी। ह्रींकार को आनन्द प्रदान करने वाला देवताओं का उद्यान कहा गया है, कल्पना के अनुरूप फल प्रदान करने के कारण उक्त नाम पड़ा।

२९७. ॐ ह्रींकारहिमवदगङ्गायै नमः—........ गङ्गा। यह ह्रींकार शीतल पर्वतराज उससे निःसृत गङ्गा के समान पाप-ताप की निवारिका।

२९८. ॐ ह्रींकारार्णवकौस्तुभायै नमः—ह्रींकारवर्णकौस्तुभा। ह्रींकार अक्षर कौस्तुभ मणिवत् मन्त्रों में प्रधान होने से उपर्युक्त नाम वाली देवी हुई।

२९९. ॐ ह्रींकारमन्त्रसर्वस्वायै नमः—ह्रींकारमन्त्रर्सवस्वा। ह्रींकार बीज ही सम्पूर्ण सम्पत्ति, सर्वाथ साधक शक्ति है।

३००. ॐ ह्रींकारपरसौख्यदायै नमः—ह्रींकारपरसौख्यदा। ह्रींकार जपपरायण साधकों को सम्पूर्ण सुख देने वाली।

।। इति श्रीललितात्रिशती शाङ्कर भाष्यानुसार अनुवाद सम्पूर्ण ।।

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र
बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो र्योनिरन्तरत्रा
पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥३॥ (१/१६४/३३)

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्ये न विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविधः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः।।४६।।

सम्बन्ध–सूत्र का लक्षण।

अर्थ–अल्प अक्षर युक्त, सन्देह रहित साररूप निर्णीत तात्पर्य का द्योतक, सर्वतोमुख-अनवृत्ति (अनुवर्तनीय) अपकर्ष द्वारा सम्पूर्ण अर्थ का बोधक, अस्तोभ-अवरोध रहित तथा अनवद्य-दोषशून्य रहित कृति को सूत्रज्ञ विद्वान् सूत्र कहते है।

भगवान् महाभाष्यकार ने महर्षि पाणिनि जी के सूत्र के विषय में कहा है—"सामर्थ्ययोगान्नहि, किञ्चित् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात"।

सम्बन्ध–"द्यौ मैं पिता" इस मन्त्र के दीर्घतमा ऋषि, विश्वेदेवा एवं जगती छन्द है। इसमें परमात्मा के स्वभाव, स्वरूप, सामर्थ्य का वर्णन किया गया है।

अर्थ–मेरा पालक और उत्पादक सूर्य है, वही केन्द्र के समान हम सब जीवों का आश्रय है। उसी आश्रय में बन्धु के समान प्रेम-से बाँधने वाली, माता के समान गर्भ में धारण करके उत्पन्न कर पालने वाली यह पृथिवी है। ऊर्ध्व रीति-से अतिविस्तृत, भोग्य, भोक्त के समान परस्पर संयुक्त सूर्य और पृथिवी दोनों के बीच में मेरा प्रकट होने का स्थान है। इस स्थान में ही पालक सूर्य अन्नादि ऐश्वर्यों को दोहन करने वाली पृथिवी में गर्भ धारण करता है। अथवा जलादि देने वाले अन्तरिक्ष में गर्भ अर्थात् जल-से पूर्ण मेघादि को स्थापित करता है। परमेश्वर प्रकृति पक्ष में—तेजोमय प्रभु ही 'द्यौ' है। वह सबको कर्म बंधनों में बाँधने वाला है। सर्व निर्मात्री प्रकृति माता है। ऐश्वर्य दोहन करने वाली प्रकृति है। वह ईश्वरीय शक्ति से विकार को प्राप्त होती हैं। उसमें ब्रह्म हिरण्य गर्भादि को धारण करता है। (ऋग्वेद हिन्दी भाष्य से)

अर्थ–शशयः = देहे शयानः, **वार्याणि** = वरणीयानि, **रत्नधा** = रत्न धारकः, **सुदत्रः** = शेभानदाता, **कः** = कुरु। जिस प्रकार उत्तम दुग्धदात्री माता का स्तन बालक को सुख-से सुला देने

समुद्रस्योत्तरे तीरे द्विविदो नाम वानरः ।
एकाह्निकं ज्वरं हन्ति लिखितं यस्तु पश्यति ।।

वाला, सुखप्रद होकर उसे पुष्ट करता है, उसी प्रकार हे वेदवाणि ! और वेद वाणी को जानने वाले विद्वान् तथा उत्तम ज्ञानमय परमेश्वर। जो तेरा पालक स्वरूप उपासक को शन्ति देने वाला है, और जो सुख और आनन्द देने वाला है जिससे समस्त वरण करने योग्य उत्तम-उत्तम ज्ञानों और गुणों को पुष्ट करता है, जो रमणीय सुखों को धारण करता, अपने में बसने वाले शिष्यों और भक्तिमान् प्रिय प्रजाजनों को स्वयं प्राप्त करने और उनको ऐश्वर्य देने वाला है, जो सुख कल्याण को देने वाला है, उसको इस जगत् में सबके पोषण के लिये प्रकट करता है।

सम्बन्ध–एकान्तरा ज्वर दूर करने का मन्त्र।

अर्थ–समुद्र के उत्तर भाग (तीर) में द्विविद नामक एक वानर रहता है, जो यह लिखा हुआ देखता है, उसका एकान्तरा ज्वर नष्ट हो जाता है।

सम्बन्ध–'सौन्दर्य लहरी' भगवान् श्रीमदाद्यशङ्काराचार्य जी द्वारा रचित पराम्बा भगवती त्रिपुर सुन्दरी का स्तोत्रात्मक, तन्त्रात्मक, ज्ञानात्मक श्रुति तुल्य ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अपने में अनन्त रहस्यों को छुपाये बैठा है, जिसका यत्किञ्चित् ज्ञान तो गुरुप्रसाद से ही सम्भव है।

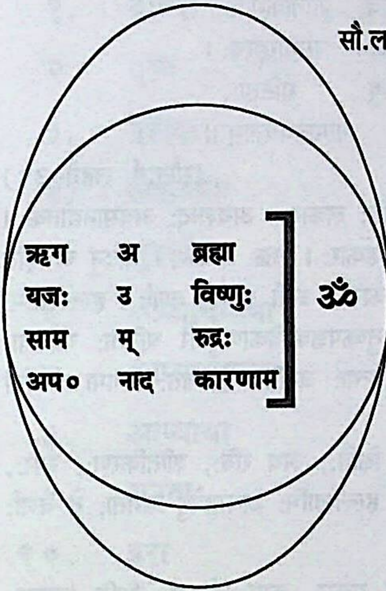
विचित्रता तो यह है कि यदि ऊपरी दृष्टि से केवल श्लोक या इसके अर्थ को देखा जाय तो एक बार पता ही नहीं चलता है, कि तन्त्र की इतनी गुप्त बातें भी हो सकती है, दूसरी बात ललिता त्रिशती की तरह विचार किया तो निखिल श्रुतिसार इसमें भरा पड़ा है।

अधिक जानकारी के लिए 'विद्या मठ' से प्रकाशित एतत् विषयक ग्रन्थों को देखना चाहिये, यहाँ विस्तार का अवकाश नहीं है।

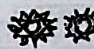
१६. **'श्रीम्'** यह बीज मन्त्र सौन्दर्य लहरी में चौदह यन्त्रों में आया है, इस बीज से युक्त यन्त्र का उपासना विधि से प्रयोग करने पर साधक दारिद्रय, दुर्भिक्षादि से अनायास ही मुक्त हो सकता है।

सौन्दर्य लहरी के बत्तीसवें श्लोक में वर्ण, देवता शक्तियों का वर्णन आया है, जो हादि विद्या लोपा मुद्रा का मन्त्र है। पूज्य स्वामी ने उसे क्रम-से अपनी डायरी में सजाया है, वह दिया जा रहा है।

सौ.ल.टी. ३२



सौ.ल.टी. ३२

सह		ज्योत्स्नामयाः
आज्ञा		सुधालोकः
वि०		चन्द्रोलोकः
आ०		ज्योतिर्लोकः
म०		मिश्रलोकः
स्वा०		मिश्रलोकः
आधा०		अन्धतामिश्रम्

१.	क	–	शिवः	–	त्रिपुरसुन्दरी
२.	ए	–	शक्तिः	–	कामेश्वरी
३.	ई	–	कामः	–	भगमालिनी
४.	ल	–	क्षितिः	–	नित्यक्लिन्ना
५.	ह्रीं	–	हल्लेखा	–	मेरुदण्डा
६.	ह	–	रविः	–	वहूवासिनी
७.	त	–	शीतकिरणः	–	महावज्रेश्वरी
८.	क	–	स्मरः	–	रौद्री
९.	ह	–	हंसः	–	त्वरिता
१०.	ल	–	शक्रः	–	कुलसुन्दरी
११.	ह्रीं	–	हल्लेखा	–	नीलपताका
१२.	स	–	परा	–	विजया
१३.	क	–	मारः	–	सर्वमङ्गला
१४.	ल	–	हरिः	–	ज्वाला
१५.	ह्रीं	–	हल्लेखा	–	मालिनी
१६.	श्रीम्				

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिताः,
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्॥

(सौन्दर्य लहरी–३९)

शिवः ककारः। शक्तिः एकारः। कामः ईकारः। क्षितिः लकारः। अथशब्दः अवसानद्योतकः। रविः हकारः। शीतकिरणः सकारः। स्मरः ककारः। हंसः हकारः। शक्रः लकारः। 'तदनु च' इति अवसानं द्योयति। परा सकारः। मारः ककारः। हरिः लकारः। अमी द्वादश वर्णाः। हृल्लेखाभिः ह्रीङ्कारैः। तिसृभित्रित्वविशिष्टैः अवसानेषु विरामस्थानेषु चतुष्कपञ्चकात्रिकाणमुपरि घतिताः योजिताः भजन्ते प्राप्नुवन्ति वर्णाः ते पूर्वोक्ताः ककारा दयः तव भवत्याः जननि! हे मातः। नामा वयवतां नाम्नः त्रिपुसुन्दरीमन्त्रस्य अवयवतां प्रतीकत्वम्॥

अत्रेत्थं पदयोजना–जननि! शिवः, शक्तिः, कामः, क्षितिः, अथ रविः, शीतकिरणः, स्मरः, हंसः, शक्रः तदनु च परामारहरयः इत्येते वर्णाः तिसृभिः हल्लेखाभिः अवसानेषु घतिताः ते वर्णाः तव नामावयवतां भजन्ते॥ (भास्करराजभाष्य)

श्लोकार्थ–हे माता! शिव ककार बिजरूप शक्ति एकार, काम 'ई'कार, क्षिति 'लकार, तदनन्तर रवि 'हंकार' चन्द्रमा जिसके किरण शीतल होते हैं 'सकार', काम 'ककार', हंस हंकार, शक्र (इन्द्र) 'लकार', उसके बाद परा (शक्ति) 'सकार', मार 'ककार', हरि 'लकार' ये द्वादश बीजाक्षर वर्ण है। अवसान के तीन वर्णों के अन्त में तीन बीज ह्रींकारों की योजना करके तुम्हारे नाम के अवयवता (मन्त्र के अवयव रूपता) को प्राप्त कर मन्त्र का स्वरूप धारण कर लेता है जिसका साधक गण उपासना करते हैं।

'शिवः शक्तिः-कामः'–श्लोक में हादि विद्या लोपामुद्रा का मन्त्र वर्णित है। इस मन्त्र के चार पाद है। पहले के तीन पाद में तीन कूट क्रमशः वाग्भव, कामकला, तथा शक्तिकूट एवं चतुर्थ पाद में श्रीकूट का वर्णन है। प्रथम तीन पादों को अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र एवं रुद्र विष्णु एवं ब्रह्मा जी की क्रमशः तीनों पादों को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्त के अनुसार विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ समझना चाहिये। गुणों की दृष्टि-से सात्विक, राजस् एवं तामस माना गया है। चतुर्थ पाद तुरीय रूप है।

भा०–शिवः शक्तिः, कामः क्षितिरिति वर्णचतुष्टयं आग्नेयं खण्डम्। रविः शीतकिरणः, स्मरः हंसः, शक्र, इति वर्णपञ्चकं सौरं खण्डम्।

पूर्णोदयमतानुसारेण–'सोमसूर्यानलात्मकतया चक्रस्य त्रिखण्डम्' एवं मन्त्रस्यापि त्रिखण्डत्वं सुप्रसिद्धम्। चन्द्रस्य कलाः षोडश इन्दुखण्डे अन्तर्भूताः। स च इन्दुखण्डः इन्द्रात्मके यन्त्रखण्डेऽन्तर्भूतः। एवं भानोः चतुर्विंशतिकलाः भानुखण्डेऽन्तर्भूताः। स च खण्डः यन्त्रे आग्नेय-खण्डे अन्तर्भवति। तेषु चन्द्रस्य कलाविषये सुमगोदये—

१.	दर्शकला	–	शिवत्त्वात्मिका	१. आग्नेय खण्डम्
२.	दृष्टा	–	शक्तितत्त्वात्मिका	
३.	दर्शता	–	माया तत्त्वात्मिका	
४.	विश्वरूपा	–	शुद्ध विद्यातत्त्वात्मिका	
५.	सुदर्शना	–	जल तत्वात्मिका	
६.	आप्यायमाना	–	तेजस्तत्त्वात्मिका	२. सौरखण्ड
७.	आप्यायमाना	–	वायुतत्त्वात्मिका	
८.	आप्याया	–	मनस्ततत्त्वात्मिका	
९.	सुनृता	–	पृथिवीतत्त्वात्मिका	
१०.	इरा	–	आकाशतत्त्वात्मिका	
११.	आपूर्यमाणा	–	विद्यातत्त्वात्मिका	
१२.	आपूर्यमाणा	–	महेश्वर तत्त्वात्मिका	३.सौम्य खण्ड
१३.	पूरयन्ती	–	परतत्त्वात्मिका	
१४.	पूर्णा	–	आत्म तत्त्वात्मिका	
१५.	पौर्णमासी	–	सदाशिवतत्त्वात्मिका	
१६.	सच्चिदानन्दरूपिणी	–	सदाख्यातत्त्वात्मिका	

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ।।

अस्यार्थः–दर्शाद्या पूर्णिमान्ताश्च तिथयन दर्शा नाम अमावास्यानन्तर-भाविनी प्रतिपत्कला। तस्या ईषद्दर्शनात् दर्शा। दर्शा आद्या यासां ताः। पूर्णिमा अन्तो यासां ताः ।। दर्शा दृष्टा दर्शता विश्वरूपा सुदर्शना आप्यायमाना आप्यायमाना आप्याया सूनृता इरा आपूर्यमाणा आपूर्यमाणा पूरयन्ती पूर्णा पौर्णमासी-एतानि नामधेयानि श्रुतिबोधितानि, सङ्गृहीतानि 'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताः' इत्यनेन। एतासां स्वरूपं पुरस्तात् निवेदयिष्यते। दर्शादीनां पञ्चदशानां कलानां यथाक्रमं त्रिपुरसुन्दरीप्रभृतयः पञ्चदश नित्याः अधिदेवताः। षोडश्याः चिद्रूपात्मिकायाः कलायाः

सादाख्यतत्वरूपत्त्वात् अधिदेवतान्तरं नास्ति स्वयमेव सर्वस्य अधिदेवतेति ध्येयम्। एतासां नित्यानां अभिमानिनी देवता कामदेवः एकैव। अतश्च मूलविद्यागतपञ्चदशवर्णानां दर्शादयः कलाः, नित्याः कलाश्च, विग्रहान्तरमिति अनुसन्धेयम्।

दर्शा दृष्टा-दर्शता-विश्वरूपा-सुदर्शना-एषः आग्नेयः खण्डः। आप्याय-माना-आप्यायमाना-आप्याया-सूनृता-इश—एष सौरः खण्डः। आपूर्यमाणा-आपूर्यमाणापूरयन्ती-पूर्णा पौर्णमासीति-एष चान्द्रः खण्डः।

दर्शा कला शिवतत्त्वामिका। दृष्टाकला शक्तिंतत्त्वात्मिका। दर्शता कला मायातत्त्वात्मिका। विश्वरूपा कला शुद्धविद्यातत्त्वात्मिका। सुदर्शना कला जलतत्त्वात्मिका। एवं पञ्चतत्त्वात्मकं खण्डआग्नेयम्। अग्निरत्र अधिदेवता, कामदेवस्तु सर्वत्र अधिदेवता, कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्रीत्युक्तम्। आप्यायमाना कला तेजस्तत्त्वात्मिका। आप्यायमाना कला वायुतत्त्वात्मिका। आप्यायाकला मनस्तत्त्वात्मिका। सूनृता कला पृथिवीतत्त्वात्मिका। इश कला आकाश-तत्त्वात्मिका। आपूर्यमाणा कला विद्यातत्त्वात्मिका। एष सौर खण्डो द्वितीयः। तत्र सूर्यो देवता। कामदेवस्तु सर्वत्र अधिदेवता। कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री-त्युक्तम्। आपूर्यमाणायाः कलायाः चन्द्रखण्डान्तस्स्थिताया अपि सौरखण्डे अन्तर्भावः। इशकलाप्रभेदत्वात् इशऽऽपूर्यमाणयोः ऐक्यमिति अनुसन्धेयम्। आपूर्यमाणा कला महेश्वरतत्त्वात्मिका। पूरयन्ती कला परतत्त्वात्मिका। पूर्णा कला आत्मतत्त्वात्मिका। पौर्णमासी कला सदाशिवतत्त्वात्मिका। एषा सौमः खण्डः। सोमः अत्र अधिदेवता। कामदेवः सर्वत्र अधिदेवता। कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्रीत्युक्तम्। नित्या कला सादाख्यातत्त्वात्मिका। एतास्तु विशुद्धि चक्रे षोडशारे प्रागादिक्रमेण षोडशदिक्षु परिभ्रमन्ति।

संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदभिजानत्। सङ्कटपमानं, प्रकल्पमानमुपकतप-मानमुपक्लप्तं क्लप्तम्। श्रेयो वसीय आयत् संभ्रूतं भूतम्॥ (तै०क्ष०)

प्रस्तुतं विष्टुतं संस्तुतं कल्याणं विश्वरूपम्। शुक्रममृतं तेजस्वि तेजस्सोमिद्धम। अरुणं शनुमन्मरीचिमदभितपत्तपस्वत्॥

अर्थ—श्रीविद्योपासना में श्रीचक्र जिसे श्रीयन्त्र भी कहते हैं, पूर्णोदयमतानुसार चक्र के तीन खण्ड होते हैं—१. आग्नयेखण्ड, २. सौरखण्ड एवं, सौम्य (चन्द्र) खण्ड।

चन्द्रमा की सोलह कलाएँ इन्दु खण्ड के अन्तर्गत आती है। सोलह कलाओं के नाम क्रम से दिए हुए हैं। उसमें दर्शा, दृष्टा दर्शता, विश्वरूपा सुदर्शना कला आग्नेय खण्ड में आती है। आप्याथमाना, आप्यायमाना, आप्याया, सूनृता, इरा ये सौर खण्ड के अन्तर्गत आती है। आपूर्यमाणा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा, पौणंमासी, यह चान्द्र खण्ड में आती है।

कृष्णपक्षरात्रयः—कृष्ण पक्ष की रात्रियाँ।

सुता सुन्वती प्रसुता सूयमानाऽभिषूयमाणा।

पीती प्रपा संपा तृप्तिस्तर्पयन्ती।

कान्ता काम्या कामजाताऽऽयुष्मती कामदुघा।। (तै०वा० ३/१०/१०)

इन कृष्ण की रात्रियों का आधार चक्रे में ही अमावास्यात्मकता के रूप में स्थिति होने-से समयियों का उसमें व्यवहार सम्भव नहीं होता है, शुक्ल पक्ष की रात्रियों में चन्द्र कला के संचार होने से वही कुण्डलिनी जागने के कारण, मात्र स्वरूप का ज्ञान हो अतः निर्देश किया गया है, कुण्डली का जागरण रात में ही होता न कि दिवा में।

यान्यहानि। ते मधु वृषा।

मधुवर्षयन्ति इति मधुवषाः। अत एव दिवा योगिनः कुण्डलिनीं न बोधयन्तीति।

शुक्लपक्षादिवसनामानि–शुक्ल पक्ष के दिन के नाम।

अर्थ–संज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, जानद् अभिजानत् सङ्कल्पमान, प्रकल्पमान, उपकल्पमानं, उपक्लप्त, क्लप्त, श्रेय, वसीय, आयत् संश्रूत, भूत।

कृष्णपक्षदिवसनामानि–कृष्णपक्ष के दिन के नाम।

अर्थ–प्रस्तुत, विष्टुत, संस्तुत, कल्याण, विश्वरूप, शुक्र, अमृत, तेजस्वी, तेज, समिद्ध अरुण, शानुमत् मरीचिमत् अभितपत्, तपस्वत।

इयं वाव सरधा।

अस्यार्थ–इंय चन्द्रकला सादाख्या सरधा सरधावत् मधुस्यन्दिनी अमृतस्यन्दिनीति श्रीचक्रात्मक चन्द्रस्य सरधात्वनिरूपणम्। यह चन्द्रकला सादारव्या (सादा नामक) सरधा-सरं मधुविशेषं हन्ति इति। मधुमक्षिका के समान मधु अर्थात् अमृत क्षरण के कारण सरधा के रूप वर्णित हुआ है।

तस्या अग्निरेव सारघं मधु। (तै०वा०)

तस्याः सरधायाः अग्निरेव अग्निस्थानमेव बैन्दवं त्रिकोणं सारघं सरघोद्भूतं मधु, तस्यैव सुधासिन्धुरूपत्वात्।।

उस सरधा का अग्नि स्थान ही सरधा से उत्पन्न मधु है।

या एताः पूर्वपक्षापरपक्षयो रात्रयः। (तै०वा०)

यह शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष की रात्रियाँ कही गई हैं।

विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः (श्रुति)

अर्थ–महान् ज्ञान सम्पन्न रुद्र इस विश्व को अतिक्रमेण कर स्थित हैं। परमात्मा रुद्र सम्पूर्ण प्राणियों पर अपना आधिपत्य रखते हैं, वह महान् आत्मा हैं। वह 'एकमेवाद्वितीयम' है 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रये।

पथिषद्रुद्रमन्त्रः—

ॐ पथिषद्रुद्रमंत्रस्य वामदेवऋषिः, पंक्ति छन्दः, पथिषद्रुदोदेवता तत्प्रीतयें जपेविनियोगः । (मार्गसंकट हारकम्)

ध्यानम्— आन्तसज्जधनुर्वाणः करं वृषम् संस्थितम ।
अन्नपूर्णां समाश्लिष्टं पथिषद्रुद्रमाश्रये ।।

मन्त्रः—"ॐ नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मां संपारय"

अर्थ—पथिषद्रुद्रमन्त्र–इस पथिषद्रुद्रमंत्र के वामदेव ऋषि, पक्ति छन्द, पथिषद्रुददेवता उनकी प्रसन्नता के लिए जप में विनियोग है।

ध्यान—सुसज्जित धनुष, बाण से युक्त कर वाले, अर्थात् जिन्होंने ने अपने हाथों में धनुष एवं बाण धारण कर रखा है, जो अन्नपूर्णा का आलिङ्गन कर अपने वामपार्श्व में बिठाकर वृषभारुढ़ है, ऐसे पथिषद्रुद्र की मैं शरण लेता हूँ।

मन्त्रार्थ—अपने भक्तों की रक्षा के लिए जिस मार्ग-से भक्त अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है उस पथ में विराजमान रहकर दुष्टों को रूलाने वाले सर्वरक्षक, सर्वव्यापक भगवान् आप मेरा स्वस्ति करें, कल्याण करें।

जलापच्छमनमन्त्रः—

जलापच्छमने तारामन्त्रः, मत्स्य ऋषिः, ताराम्बा देवता, तत्प्रीतये जपे विनियोगः ।

ध्यानम्— नौकासिंहासनारुढां शक्यदर्शनदेवताम् ।
जलापच्छमनीं वन्दे, तारां वारिदमोचकाम् ।।

मन्त्रः—ॐ तारे सुतारे स्वाहा ।

अर्थ—जल में यात्रा के समय आनेवाली आपत्ति को रोकने का मन्त्र–इस तारा मन्त्र के मत्स्य ऋषि, ताराम्बा देवता, देवी की प्रसन्नता के लिए जप में विनियोग है।

ध्यानार्थ—नौकास्थितसिंहासन पर विराजमाना जिसकी कृपा से ही देवताओं को उनका दर्शन शक्य है, (सम्भव है) जल में आने या जल से आने वाली विपत्तियों को दूर करने वाली तारा देवी की मैं वन्दना करता हूँ।

मन्त्र—सर्वत्ररिक्षका प्रणवात्मिका अनायास ही कष्टों से उबारने वाली को मैं ह्रदय से पुकार रहा हूँ वह हे मा! मेरी रक्षा करो।

'ॐ घृणिः सूर्य आत्योम्' मन्त्र तेजोदा सौरी अष्टार्णा देव भाग ऋषिः, गायत्री छन्दः, सूर्यो देवता, तत् प्रीतये विनियोगः ।

ध्यानम्—धृतपद्मद्वयंमानुं तेजो मण्डल मध्यगम्। सर्वाधिव्याधिशमनं छायादिलष्टतनुं भजे ।।

जिन्होंने अपने दोनों हाथों में कमल पुष्प को धारण कर रखा है, तेजस्वी सूर्यमण्डल में ध्यान-से जिनकी प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण मानसिक एवं शारिरीक कष्टों को दूर करने वाले छायापति भगवान् भास्कर का मैं ध्यान करता हूँ।

मन्त्रः—"ॐ घृणिः सूर्य आदित्योम्"

यह सूर्य मन्त्र है, आँखों के रोग को दूर करने में भी इसका प्रयोग होता है।

नवार्णा तुरीया विद्या, गायत्रीस्वैक्य विमर्शिनी।

मन्त्रः—ॐ परो रजसे सावदोम्।

ध्यानम्—परो रजः प्रकाशात्मचितिरूपामहं भजे।

अर्थ—नौ अक्षरों वाली यह तुरीयाविद्या गायत्री मन्त्र में एकता की भावना का परामर्श करने के उद्देश्य से विहित है।

मन्त्र—ॐ यह सर्वश्रेष्ठ, प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा है, ॐ।

सर्वोत्तम प्रकाशस्वरूप ज्ञानात्मिका शक्ति गायत्री की मैं उपासना करता हूँ।

षोडश मन्त्र समष्टिरूपिणी चाक्षुष्मती विद्या दूरदृष्टि प्रदा, भार्गव ऋषिः नाना छन्दांसि, चाक्षुष्मती देवता जपे विनियोगः।

ध्यानम्— चक्षुस्तेजोमयं पुष्पं कन्दुकं विभ्रतीकरैः।
रौप्यासिंहासनारुढां देवीचक्षुष्मतीं भजे ।।

मन्त्राः—ॐ सूर्याय तेजसे नमः (सूर्यायाक्षितेजसे नमः) ॐ खेचराय नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। उषणो भगवान् छुचिरूपः। हंसो भगवाग्छुचिरूपः प्रतिरूपः। विश्वरूपं धृणिनं जातवेदसं हिरणमयं ज्योतिरूपं तपन्तम्। सहस्त्रारश्मिः शतधा वर्तमानः पुरुषः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायादित्याया (क्षितेजसे) ऽहोऽवाहिनि वाहिनि स्वाहा।

अर्थ—दूर दृष्टि प्रदान करने वाली सोलहमन्त्रों के समष्टिरूप चाक्षुष्मती विद्या के भार्गव ऋषि, नाना छन्द, चाक्षुष्मती देवता, उसके 'प्रीत्यर्थ जप में विनियोग है।

ध्यानम्—रौप्य (चाँदी) के सिंहासन पर आरुढ़, दिव्यतेज युक्ता, देवताओं से वन्दित अपने एक हस्त में कन्दुक (गेंद) को धारण करनेवाली, चाक्षुष्मती देवी की मैं उपासना करता हूँ, वह मेरी आँखों में तेज का आधान करें जिससे मैं दूर तक देख पाऊँ।

मन्त्रार्थ–एक समय की बात है, महर्षि सांस्कृति सूर्य लोक गये। वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् आदित्य को प्रणाम कर चाक्षुष्मती विद्या से उनकी पूजा की जगत् के या अक्षि के प्रकाशक भगवान् सूर्य को नमस्कार है। आकाश में विचरणशील सूर्यदेव को नमस्कार है। हे देव ! आप हमें असत् मार्ग को छोड़कर सत्मार्ग की ओर चलने के लिए प्रेरणा दें। आप हमें मृत्यु से अमरता की ओर ले चलें। आप उष्ण उष्मा या प्रकाशयुक्त पवित्रस्वरूप वाले एवं प्रतिरूप वाले (साकार विग्रह वाले अर्थात् प्रत्यक्ष देवतारूप हैं)। सम्पूर्ण विश्व के रूपों के धारणकर्ता, रश्मियों से शोभायमान, जातवेदा (सर्वज्ञ) स्वर्ण के समान दीप्तिमान, ज्योति युक्त से लपते हुए भगवान् आदित्यं का हम ध्यान करते हैं। ॐ अक्षर ब्रह्मरूप सर्वाधिष्ठान सर्वावमासक भगवान् सविता जो जो समग्र धर्म, यश आदि से सम्पन्न हैं, प्रणाम करते हैं। दिन के वाहक, विश्व को वहन करने वाले के लिए हम सब कुछ अर्पण करते हैं।

महाव्याधिशमनी नाम त्रयीविद्या–महाव्याधिशमनी नाम त्रयीविद्यायाः कश्यपात्रिभरद्वाजा ऋषयः, अनुष्टप् छन्दः, श्रीमहाविष्णु देवता तत्प्रीत्यर्येजपे विनियोगः।

ध्यानम्– समस्तदुस्तरव्याधिसङ्घध्वंसपटीयसे।
अच्युतानन्त गोविन्द नाम्ने धाम्ने नमोनमः ।।

मन्त्रः–ॐ अच्युताय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः ।।

अर्थ–महाव्याधिरामनी नाम की त्रयी विद्या—महाव्याधिशमनी नामत्रयी विद्या के कश्यप, अत्रि, एवं भरद्वाज ऋषि, अनुष्प्छन्द, महाविष्णु देवता, श्रीमहाविष्णु की प्रसन्नता के लिए जप में विनियोग है।

ध्यानम्–जिसको पार करना अत्यन्त कठिन है, ऐसे सम्पूर्ण व्याधि समुदाय को ध्वंस करने में जो अत्यत्न पट्वी है, ऐसे नामत्रयात्मकविद्या "अच्युत, अतन्त एवं गोविन्द जो अत्यन्त प्रकाशपूर्ण है, उन नाम महाराज को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

श्रुतधारिणी विद्या–

अस्याः विद्यायाः भार्गव ऋषिः, अनुष्टुप छन्दः, ब्रह्मा देवता, तत्प्रीतये विनियोगः।

ध्यानम्– चतुराननमम्भोज निषण्णंभारती सखम्।
अक्षमालावराभीति कमण्डलु धरं भजे ।।

मन्त्रः–ॐ नमो ब्रह्मणो धारणं में ऽस्तु निराकरण धारयिता भूयासं कर्णयोः श्रुतं माच्योढ्वं ममामुष्य ॐ।

अर्थ–इस श्रुतधारिणी विद्या के भार्गव ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, ब्रह्मादेवता, उनकी प्रसन्नता के जप में विनियोग है।

ध्यानम्–चतुर्मुखयुक्त, पद्मारूढ़ भारती (सरस्वती) के पति, एक हाथ में अक्षमाला एक में कमण्डलु एवं एक हस्त में वर तथा एक अभय मुद्रा धारण करने वाले ब्रह्माजी का मैं ध्यान करता है।

मन्त्रार्थ–ॐ भगवान् ब्रह्माजी को नमस्कार है, मैं जो अध्ययन करूँ वह भूलूँ नहीं वह धारण हो जाय, मैं धारण से विमुख न होकर, धारण करने वाला होऊँ, कानों से श्रवण कर धारण करने वाला बनूँ, वह सुना हुआ बढ़े, वह विद्या मेरा एवं गुरु का त्याग न करे।

नवाक्षरीश्रीवालामन्त्रः–

मन्त्रस्य दक्षिणामूर्तिः ऋषिः, गायत्री छन्दः, श्रीवालात्रिपुरसुन्दरी देवता तत्प्रीतये जपे विनियोगः।

ध्यानम्– **अरुणा पुस्तकामीति हस्ताकह्लार संस्थिता।**
हृद्यास्तां सदा वाला नित्यकल्याणरूपिणी।।

मन्त्र–ऐं क्लीं सौः सौः क्लीं ऐं ऐं क्लीं सौः।।

अर्थ–नवाक्षरी श्रीवाला मन्त्र के दक्षिणामूर्ति ऋषि, गायत्री छन्द, श्रीवाला त्रिपुर सुन्दरी देवता, देवी की प्रसन्नता प्राप्ति के लिए जप में विनियोग है।

ध्यानम्–श्रीवाला त्रिपुरसुन्दरी देवी के विग्रह का रक्तवर्ण का है, रक्तवर्ण युक्त, अपने हाथों में पुस्तक धारण करने वाली, कमलारूढ़ जगत् के कल्याण के लिए कल्यारूपधारण करनेवाली देवी का मैं ध्यान करता हूँ।

अन्नपूर्णामन्त्रः–

अन्नपूर्णामन्त्रस्य ब्रह्माऋषिः, गायत्री छन्दः, अन्नपूर्णेश्वरी देवता, तत्प्रीतये जपे विनियोगः।

ध्यानम्– **आदाय दक्षिणकरेण सुवर्णादर्वीं, दुग्धान्न पूर्णमितरेण चरत्नपात्रम्।**
अन्नप्रदाननिरतां नवहेमवर्णाम् अम्बांभजे कनकभूषणमाल्यशोभाम्।।

मन्त्रः– **श्रीं ह्रीं क्लीं ॐ नमोभगवति अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।।**

अर्थ–अन्नपूर्णामन्त्र–अन्नपूर्णामन्त्र के ब्रह्माजी ऋषि, गायत्री छन्द, अन्नपूर्णेश्वरी देवता, भगवती की प्रीति के जप में विनियोग है।

ध्यानार्थ–भगवती अन्नपूर्णा अपने दक्षिण हस्त में स्वर्ण दर्वी तथा वाम हस्त में दुग्धान्न परिपूर्ण रत्नपात्र धारण कर पूर्ण रूप से समस्त प्राणियों को जो वस्तुत मा की सन्तान है अन्न प्रदान में लगी हुई हैं माता का स्वरूप नूतन हेम के समान स्वर्णिम रूप लिए हैं, जिस पर कनक के आभूषण सहित दिव्य पुष्पों की माला सुशोभित हो रही है। जो सम्पूर्ण जीवों को अपनी कृपा दृष्टि से जीवन प्रदान करती है, उस अम्बा अन्नपूर्णा की मैं भजन करता हूँ अर्थात् ध्यान करता हूँ।

मन्त्र–श्रीं ह्रीं क्लीं बीजस्वरूप जो क्रमशः लक्ष्मी, माया एवं काम का वाचक है, प्रणवात्मिका ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, श्री एवं वैराग्य युक्त होते हुए भी सम्पूर्ण भोगराशियों से परिपूर्ण है, वह तुम मेरे द्वारा अभिलषित अन्न को प्रदान करो में तुम्हारा बालक तुम्हें सम्यक् रूप से बुला रहा हूँ।

बलातिबलामन्त्रः–

बलातिबलयोर्विराट पुरुष ऋषिः, गायत्री छन्दः, गायत्री देवता, अकारोकारमकारा बीजाद्याः क्षुधादिनिरसने विनियोगः। क्लीमित्यादिषडङ्गन्यासः।

ध्यानम्–अमृतकरतलार्द्रौ सर्व संजीवनाढ्यावघहरणसुदक्षौ वेदसारे मयूखे। प्रणवमय-विकारौ भास्कराकर देहौ सततमनुभवेऽहं तौ बलातिबलान्तौ ।।

फट् स्वाहा ।।

ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थ सिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्व दयामूर्ते बले सर्वक्षुद्भ्रमोपनाशिनि धीमहि धियो यो नो जाते प्रचुर्यः या प्रचोदयादात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुँ फट् स्वाहा।

अर्थ–बलातिबलामन्त्र–बलातिबला मन्त्र के विराट पुरुष ऋषि हैं, गायत्री छन्द, गायत्री देवता, अकार बीज, उकार शक्ति तथा मकार कीलक है। क्षुधा आदि की निवृत्ति के लिए इसका विनियोग है।

क्लीं बीज मंत्र के द्वारा षडङ्गन्यास करे—

ॐ क्लीं हृदयाय नमः।

ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा।

ॐ क्लीं शिखायै वषट्।

ॐ क्लीं कवचाय हुम्।

ॐ क्लीं नेत्रत्रयाय वषट्।

ॐ क्लीं अस्त्राय फट्।

ध्यान–अमृतेन करतलौयस्या आर्द्रौ–अमृत-से जिसके हाथ आर्द्र अर्थात् गीले हैं, सम्पूर्ण संजीवनी शक्तियों से जो आढ्य परिपूर्ण, अघ समुदाय अर्थात् पापों को दूर करने में जो अत्यन्त दक्ष यानि पूर्ण समर्थ है, वेदों के साररूप किरणों से युक्त, प्रणवमयविकार से सम्पन्न, भगवान् भास्कर के तुल्य प्रकाश युक्त देह वाले, उन बला एवं अतिबला विद्या के अधिठातारूप देवताओं मैं सदा अनुभव करता हूँ।

मन्त्रार्थ–गायत्री मन्त्र के सदृश।

विनयपत्रिका (२७७)

राम राय! बिनु रावरे मेरे कोहितु साँचो?
स्वामी-सहित सबसों कहौं,
सुनि-गुनि बिसेषि कोउ रेख दूसरी खाँचो ।।१।।
देह-जीव-जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो।
किये विचार सार कदलि ज्यों,
मनि कनकसंग लघु लसत बीच बिच काँचो ।।२।।
'विनय-पत्रिका' दीन की, बापु! आपु ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी,
सो सुभाय सही करि बहुरि पूँछिये पाँचो ।।३।।

अर्थ—हे रामजी महाराज! बिना आपके मेरा सच्चा, अकारण हित करने वाला इस संसार में कौन है। मैं अपने मालिक रामजी के सहित सभी से कहता हूँ, उसे पहले सुन लें, पुनः विचार कर लें कि यदि कोई और मेरे नाथ-से बड़ा हो, तो दूसरी (अन्य) लकीर खींच दीजिये ।।१।।

अर्थ—देह एवं जीव के जोग (सम्बन्ध) के जितने भी सखा या हित करने वाले संसार में मिलते हैं, वे सब झूठ-मूठ के टाँकों से सिले हुए हैं। यदि शास्त्र एवं गुरुजनों के अनुसार विचार किया जाय तो जैसे—केले के पेड़ के समान असार ही हैं। इन संसार के सम्बन्ध एवं सम्बन्धियों के समुदाय ऐसे ही जान पड़ते हैं जैसे—मणि और स्वर्ण के बीच-बीच छोटे-छोटे काँच के टुकड़े सुशोभित हो रहे हैं ।।२।।

अर्थ—हे मेरे बाप श्रीरामजी! इस दीन तुलसी की 'विनय-पत्रिका' को तो आप ही बाचिये, इसे और बाँचने वाला तो रहा। तुलसीदास जी कहते हैं—इस विनय पत्रिका में तुलसी ने अपने हृदय की सत्य बात ही लिखी है, क्योंकि रामजी मेरे हृदय में है "सत्यवदामि भवानखिलान्तरात्मा" तो में गलत किस के बल से कहूँ। आप पहले अपने स्वभाव से पहले इस 'सही' कीजिये। जो इच्छा हो तो पीछे पञ्चों को भी दिखा दीजियेगा।

आशिकों में हूँ न सादिक चाहने वालों में हूँ।
अय सनम खाके कदम बस अब तो पामालों में हूँ।।
मिग यह कहते हैं मुझ-से हाला दिल फरमाईए।
ईश्वर की मेहर है हरदम मैं तो खुशहालों में हूँ।।
तेरी महिमा का बया कैसे करूँ जाने-जहाँ।
यह जुबां कहती है मुझ-से बन्द मैं तालों में हूँ।।
इश्क में मजहब कहाँ और कौन-सा मजहब है इश्क।
तुम अगर दिल में हो तो मैं किसके मतवालों में हूँ।।
तुम को मेरी लाग है अब आ गया तेरी शरण।
चन्द्र! अब क्यों कर कहूँ मैं अपने अमालों में हूँ।।

X X X X X

प्रेम-से मिलने की अपने दिल में हसरत हो गई।
जैसी सूरत प्रेम की वह दिल की सूरत हो गई।।
रात दिन बस एक धुन रहती है दिल में प्रेम की।
हर घड़ी बस प्रेम के दर्शन की आदत हो गई।।
हम तो जीते हैं प्रभु के प्रेम के आधार पर।
दिल के दर्पण में सदा रहती है मूरत प्रेम की।।
अब तुम्हें क्या काम के.सी. नरक औ बैकुण्ठ से।
प्रेम प्यारे से तेरी साहब सलामत हो गई।

X X X X X

सम्बन्ध—स्वर प्रवाह के अनुसार किये जाने वाले कार्य का वर्णन।

दाहिने स्वर में जाइये पूरव उत्तर राज बायें स्वर शुभग है दक्षिण पश्चिम का पाँच घड़ी सुषुम्न चलै तव ही नर मर जाय मुख से तो तो वाा चले चार घड़ी में काल॥

स्थिर कारज को चन्द्रमा, चर का भानु सुजान।
कृष्ण पक्ष है भानु का, शुक्ल पक्ष शशि जान।।

मंगल रवि शनि भानु-से, शुभ कारण के हेतु।
सोम शुक्र गुरु चन्द्र-से, कार्य के सफल के हेतु।।

शुक्ल पक्ष परिवा चले चन्दा तो सुख होय। शुक्ल पक्ष तिथि में चले जो जो परिवा मे भानु दुःख होय। होय क्लेश पीड़ा कछु कै दुःख कै कछु हानु।

१. कसैला, २. चरपरा, ३. मीठा, ४. खट्टा, ५. खारा। (ज्ञा.स्व.)

१. धरती सम्मुख, पीला,	१२ अङ्गुल
२. पावक ऊपर, लाल,	४. अङ्गुल
३. जल नीचे को, श्वेत,	१६ अङ्गुल
४. वायु तिरछी हरा,	८ अङ्गुल
५. आकाश दोनो, स्वर श्याम,	वाहर न

रात्रौ चन्द्रो दिवा सूर्या मासमेकं निरन्तरम्।
भवेन्मृत्युश्चा नुस्तस्य षण्मासाभ्यन्तरे ध्रुवम्।।

निरन्तर एक मास तक दिन में दाहिना (सूर्य) और रात्रि में बायाँ (चन्द्र) स्वर यथा क्रम नासिका के दाहिने और बाएँ छिद्र से जिसका चलता रहे उसकी मृत्यु छः मास के भीतर होती है।

सम्पूर्णं वहते सूर्यः सोमश्चैव न दृश्यते।
पक्षेण जायते मृत्युः कालज्ञैः परिभाषितम्।।

काल को जानने वालों का कहना है कि दिन रात जिसका दाहिना स्वर चलता रहे और बाया स्वर कुछ भी न चले तो एक पक्ष के भीतर ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

एक एव स्वरो यस्य षण्मासं एव त्रिमासकम्।
पक्षं वा पञ्चरात्रं वा चलेत्तन्मरणं ध्रुवम्।।

जिसका केवल एक ही स्वर निरन्तर छः महीने, तीन महीने, एक पक्ष अथवा पाँच रात्रि तक भी चलता रहे तो उसकी मृत्यु निकट आई हुई जाने।

बुद्धिहीनः क्रियाहीनो विपरीतस्तु जायते।
द्विमासेन भवेन्मृत्यु नैंत्र भ्रमणकष्टताः।।

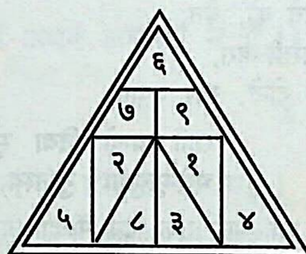
यदि बुद्धि भ्रंश हो, नित्य क्रिया ठीक न हो तो तथा नेत्र संचालन में कष्ट हो तो दो मास में मृत्यु होती है।

रोव न हि सो तो अमङ्गल होय,
औ प्रेम नसैं जो कहैं पिय जाइये ।
जो कहैं जाउ न तौ प्रभुता,
जो कछू न कहैं तौ सनेह नसाइये ।
जो हरिचन्द कैं तुमरे विनु-
जो हैं न तौ यह क्यों पति पाइये ।
तासों प्रयान समै तुमरे,
हम का कहै आपै हमे समझाइये ।।

X X X X X

२	७	६
९	५	१
४	३	८

(१५)



(२०)

रोकहिं जो तौ अमङ्गल होय औ प्रेम न सै जो कहैं प्रिय जाइये ।
जो कहैं जाउ न तौ प्रभुता जो कछू न कहै तौ स्नेह न साइये ।।
जो हरिचन्द कहै तुम्हरें विनु जी है न, तो यह क्यों पतियाइये ।
तासों पयान समै तुमरे हम काक हैं आपै हमे समुझाइये ।।
आजुलै जो न मिले तौ कहा, हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं ।
मेरौ उलाहनों कछुनाहि सवै फल आपन मात्र को पावैं ।।
जौ हरिचन्द्रमाई सौ मई अव प्राण ललेच हैं तासों सुनावे ।
प्यारे जू ! है जग की यह रीति विदा के समै सब कण्लगावैं ।।

X X X X X

गीत (जयशंकर प्रसाद) लहरी से

बीती विभावरी जागरी
अम्बर पनघट में डुबो रही-
तारा-घट उषा नागरी।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह ललिका भी भर लायी-
मधु-मुकुल नवलरस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किए,
नू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहागरी।

x x x x x

पहले हौं ही हौं तब तक।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनिविधि विमल विवेक ।।१।।
सो हौं एक अनेक भाँतिकरि, शोभित नाना वेष।
तापाछे इन गुननि गये तैं, हौं रहि हौं अवरोष ।।२।।
सत् मिथ्या, मिथ्या सत लागत, मम माया सो जानि।
रवि शशि राहु संयोग विना ज्यों, लीजतु है मन मानि ।।३।।
ज्यों गज कटिक मध्य न्यारौ वसि, पंच प्रपंच विभूति।
ऐसे मैं सबहिनि तैं न्यारौ, मानिन ग्रथित ज्यों सूत ।।४।।
ज्यों जलमसक जीवघट अन्दर मम माया मथि जाने।
सोई जस सनकादिक गावत, नेति-नेति कहि मानि ।।५।।
प्रथम ज्ञान विज्ञान धितियमत, तृतिय भक्ति कौ भाव।
सूरदास सोई समष्टि करि, व्यष्टि दृष्टि मन लाव ।।६।।

(६)

इक कौं आनिठेलत पाँच ।
करुणामय कित जाउँ कृपानिधि बहुत नचायो नाच ।।१।।
सबै कूर मोसों रिण चाहत, कहौ कहा तिन कीजै ।
विनादिये दुःख देत दयानिधि, कहौ कौनविधि कीजौ ।।२।।
थाती प्राण तुम्हारी मोपै जनमत ही जो दीन्ही ।
सो मै बाँटि दई पाँचनि कौं, देह जमानत लीन्हीं ।।३।।
मन राखैं तुम्हारे चरनन पै, नित-नित जो दुःख खपावै ।
मुकरि जाइ, कै दीन वचन सुनि, जम्पुर बाँधि पठावै ।।४।।
लेखौ करत लाख ही निकसत, को गनि सकल अपार ।
हीरा जनम दियो प्रभु हमकौ दीन्ही बात सम्हार ।।५।।
गीता-वेद-भागवत में प्रभु, यौं बोले हैं नाथ ।
जन के निकट निपट सुनियत हैं, सदा रहत हौ साथ ।।६।।
जब-जब अधम करी अधमाई, तब-तब ढो क्यों नाथ ।
अब तौ मोहि बोलि-नहि आवै, तुम सौं क्यों कहौं नाथ ।।७।।
हौं तो जाति गँवार पतित हौं निपट निलज खिसियानौ ।
तव हँसि कह्यौ सूर प्रभु, सो तौं, मोह सुन्यौ घटानों ।।८।।

(७)

भक्ति सात्त्विकी चाहती मुक्ति ।
रजोगुनी धन कुटुम्ब अनुरक्ति ।
तमो गुनी चाहे रिपुनाश ।
शुद्धा भक्ति मोहि सौं आश ।

(सूर सागर)

श्रीपञ्चायतनार्तिकम्

करुणापारावारं कलिमलपरिहारं
कद्रूसुतशयितारं करधृतकह्लारम्।
घनपटलाभशरीरं कमलोद्भवपितरं
कलये विष्णुमुदारं कमलाभर्तारम्।
जयदेव जयदेव जय केशव हर गजमुख-
सवितर्नगतनयेऽहं चरणौ तव कलये ।।१।।
भूधरजारतिलीलं मङ्गलकरशीलं-
भुजगेशस्मृतिलोलं भुजगावलिमालम्।
भूषाऽकृतिमतिविमल संधृतगाङ्गजलं
भूयो नौमि कृपालं भूतेश्वर मतुलम्।
जयदेव जयदेव जय केशव हर गजमुख-
सवितर्नगतनयेऽहं चरणौ तव कलये ।।२।।

अर्थ—करुणा के सागर कलिमल को दूर करनेवाले, कद्रुसुतशेष पर शयन करने वाले अपने हाथ में लीला के लिए सायङ्कालीन विकसित होने वाले सुगन्धित कमल को धारण करने वाले, नीलमेघ के पटल के सदृश आभायुक्त, कमल पर उत्पन्न ब्रह्माजी के पिता, लक्ष्मी के स्वामी, सर्वत्र व्याप्त उदार भगवान् नारायण की मैं वन्दना करता हूँ, मैं अपने ज्ञान दृष्टि से उन्हें प्राप्त करता हूँ। हे देव ! आपकी जय हो, आपकी जय हो, हे केशव, हर, गजमुख, सूर्य हे पर्वतराज की पुत्री आप सबके चरणों की मैं वन्दना करता हूँ। हे देव ! आपकी जय, जय हो ॥१॥

पर्वतराज हिमालय की सुता पार्वति के साथ क्रीड़ा (लीला) युक्त, स्वयं अमङ्गल वेश धारण करने पर भी जगत् के प्राणियों का कल्याण करने के स्वभाव वाले, अपने स्वामी भगवान् नारायण की स्मृति चिन्तन में झूमने वाले, सर्पों की माला धारण करने वाले, जटा, भस्म, व्याघ्राम्बर से युक्त, राग रहित सुन्दर स्वरूप युक्त अपने मस्तक पर निर्मल गंगाजल को धारण करने वाले सम्पूर्ण

विघ्नारण्यहुताशं विहिताऽनयनाशं
विपदवनीधर कुलिशं विधृताङ्कुशपाशम्।
विजयार्कज्वलिताशं विदलितभवपाशं
विनताः स्मो वयमनिशं विद्याविभवेशम्।
जयदेव जयदेव जय केशव हर गजमुख-
सवितर्नगतनयेऽहं चरणौ तव कलये।।३।।
कश्यपसूनुमुदारं कालिन्दीपितरं
कोलत्रितयविहारं कामुकमन्दारम्।
कारुण्याब्धिमपारं कालानलमदरं
कारणतत्त्वविचारं कामय ऊष्मकरम्।
जयदेव जयदेव जय केशव हर गजमुख-
सवितर्नगतनयेऽहं चरणौ तव कलये।।४।।

जीवों के स्वामी, जिसकी उपमा किसी-से नहीं दी जा सकती है, ऐसे कृपालु (दयालु) भगवान् शिव को मैं बारम्बार नमन करता हूँ। हे देव आपकी जय हो जय हो।।२।।

विघ्नरूपी अरण्य के लिए प्रचण्ड अग्नि तुल्य, शास्त्र विरुद्ध नीति को दूर करने वाले, विपत्तिरूप पर्वत के लिए वज्रोपम, एक हाथ में अङ्कुश एवं दूसरे में पाश धारण करने वाले, जैसे— अर्क चारों ओर भ्रमण करते हैं, तदवत् जिसका विजय ध्वज चारों ओर चमचमता हुआ लहरा रहा है, जन्म-मृत्यु रूपि भवपाश का जिन्होंने विशेषता से नाश किया हो ऐसे भगवान् गणेश जी का निरन्तर हम झुक कर प्रणाम करते हैं। शिवा पुत्र गणेश विद्या रूपि ऐश्वर्य के स्वामी है, उनके कृपा कटाक्ष से मन्द भी महान् ऐश्वर्यशाली अर्थात् विद्या युक्त हो सकता है। हे देव! आपकी जय हो, जय हो।।३।।

कश्यप जी की पुत्र अतीव उदार, यमुना के पिता, तीनो कालों में विहार करनेवाले, जिसकी सुगन्ध-से मन मोहित हो जाता हो, ऐसे मन्दार पुष्प की माला धारण करने वाले, अपार करुणा के सिन्धु कालारूपी अनल से अभय युक्त, कारण तत्त्व परमात्मा का विचार करने वाले, अपनी स्वल्प उष्मा से जगत् को ऊर्जा देने वाले हे देव! आपकी जय, जय हो।।४।।

निगमैर्नुतपदकमले निहतासुरजाले
हस्ते धृतकरवाले निर्जरजनपाले ।
नितरां कृष्णकृपाले निरवधिगुणलीले
निर्जरनुतपदकमले नित्योत्सवशीले ।
जयदेव जयदेव जय केशव हर गजमुख-
सवितर्नगतनयेऽहं चरणौ तव कलये ।।५।।

।। इति पञ्चायतनार्तिः ।।

वेद भी जिसके चरणकमलों की स्तुति करते हैं, असुर जाल (समुदाय) को पूर्ण रूप से नाश करनेवाली, हाथ में तलवार धारण करने वाली, देवताओं को अपनी कृपा दृष्टि से पालन (रक्षा) करने वाली, कृष्ण पर वरदानों की वर्षा करने वाली, जिसकी लीला एवं गुणों की कोई सीमा नहीं अतः देवताओं के द्वारा वन्दित चरण कमल युक्त, सर्वदा उत्सव करने के स्वभाववाली हे देवि! तुम्हारी जय हो, जय हो ।।५।।

।। इति पञ्चायतनर्ति ।।

ममन मध्यम

स रे ग म प ध नि सं

सं नि ध प म ग रे स

त्रिताल

१ २ ३ ४	५ ६ ७ ८	९ १० ११ १२ १३	१४ १५ १६
		गग रे	ससनि रा
		दिर दा	दिर दा रा
रे रे ग रेंरें	ग मंमं प मं	ग रे स	
दा दा रा दिर	दा दिर दा रा	दा दा रा	
			अन्तरा
		गग	रे सस नि स
		दिर	दा दिर या रा
ध नि नि स रे	ग मंमं पा म	ग रे स	
दा दिर दारा	दा दिर दा रा	दा दा रा	

स	रे	ग	म	रे	ग	म	प	ग	म	प	ध
१	२	४	५	२	४	५	७	४	५	७	८
		म	प	ध	नि	प	ध	नि	स		
		५	७	८	१०	७	८	१०	११		
सं	नि	ध	प	नि	ध	प	म	ध	प	म	ग
		प	म	ग	रे	म	ग	रे	स		
		सं	नि	ध	प	म	ग	रे	स		

स	रे	स	रे	रे	ग	रे	ग
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
ग	म	ग	म	म	प	म	प
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
प	ध	प	ध	ध	नि	ध	नि
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
नि	सं	नि	सं	सं	नि	सं	नि
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
नि	ध	नि	ध	ध	प	ध	प
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
प	म	प	म	म	ग	म	ग
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
ग	रे	ग	रे	रे	स	रे	स
दा	रा	दा	रा	दा	रा	दा	रा
सं	नि	ध	प	म	ग	रे	स
दा	रा	दा	रा	दा	दा	दा	रा

ग ग म

सप्त–मन्द्र मध्य तार

१.	स	रे	ग	म	प	ध	नि	सं
२.	१	२	४	५	७	८	१०	११
३.	दारा	दारा	दारा	दारा	दारा	दारा	दारा	दारा
४.	दा	दिर	दा	दा	दा	दिर	दा	रा
५.	दारा	दिर	दिर	दा	रा	दिर	दिर	
६.	दिर	दिर	दारा	दिर	दिर	दा	रा	
७.	दिर	दिर	दिर	दिर	दिर	दिर	दिर	दिर

स	रे	ग	म	प	ध	नि	सं
१	२	४	५	७	५	४	२
रे	ग	म	प	ध	प	म	ग
ग	म	प	ध	नि	ध	प	म
म	प	ध	नि	सं	नि	ध	प

दारा	दारा	दारा	दारा
दा	दा	दा	रा
दा	दिर	दा	रा
दा	रा	दिर	दिर
दिर	दिर	दा	दा
दिर	दिर	दिर	दिर

सं	नि	ध	प	म	प	ध	नि
नि	ध	प	म	ग	म	प	ध
ध	प	म	ग	रे	ग	म	प
प	म	ग	रे	स	रे	ग	म





संविदा विभक्त जो न हो
वह महान् बना देती है ।
निर्विण्णता जो, न हो चलते
वह सफलता दिला देती है ।
महकते हुए तुझ फूल से लेपराग
दुनिया खुद के लिए मधु बनायेगी ही ।
अनदेखे भी तुझे चाहेंगे सराहेंगे
दीप तू जलाये जा,
प्रशंसा के गीत-गायेंगे ही ।।
संकल्प तेरा जो अटूट हो, अकम्प्य हो
मरु में भी सुगन्धित पुष्प खिलायेगा ही ।
हो श्रद्धावनत 'आत्मा' की आवास सुन
तू वह ज्योति पूँज है,
जो अन्धकार को मिटायेगा ही ।।

स्व के प्रति दूसरे का नम्र व्यवहार हमारा व्यक्तिगत गुण नहीं हो सकता, वह तो उसका वैशिष्ट्य है जो वह हमारे साथ तादृश व्यवहार कर रहा है । तद्वत् सन्त की सहज कृपा शक्ति से सम्पन्न कार्य हमारी व्यक्तिगत योग्यता कैसे मानी जा सकती ? यह तो उनकी असीम करुणा ही है जो इस सेवा का मुझे सुअवसर दिया ।

अनन्त



सम्पर्क सूत्र

पवन कुमार

498/28 साउथ सिविल लाइन,
मुज्जफरनगर, उत्तर प्रदेश पिन कोड : 251001
फोन नं. : 09359984709
काशी मुमुक्षु भवन सभा, विद्दौ चौक, अस्सी, वाराणसी
फोन नं. : 09359984709